

# समयांतर

स्थापना वर्ष: 1970  
पुनर्प्रकाशन: अक्टूबर, 1998 से निरंतर

संपादक : पंकज बिष्ट

व्यवस्था : ठाकुर प्रसाद चौबे  
व्यवस्था सहयोग : सुशील शर्मा  
टाइपसेट : राधा

## चंदे की दरें

सामान्य : एक वर्ष : रु. 350  
दो वर्ष : रु. 600  
तीन वर्ष : रु. 850; पांच वर्ष : रु. 1350  
मित्र : एक वर्ष : रु. 500; दो वर्ष : रु. 800  
तीन वर्ष : रु. 1000; पांच वर्ष : रु. 1500

## छत्रों के लिए :

एक वर्ष : रु. 250; दो वर्ष : रु. 350  
(प्रमाण पत्र प्रस्तुत करने पर)

संस्थाओं के लिए : एक वर्ष : रु. 500  
(रजिस्टर्ड डाक से मंगवाने के लिए एक वर्ष के कृपया रु. 250 अतिरिक्त भेजें)

## विशेष सहयोग

आजीवन : दस हजार रुपए  
दस वर्ष : पांच हजार रुपए

## विदेशों में (हवाई डाक से)

एक वर्ष : 25 अमेरिकी डालर  
कृपया चंदा मनीऑर्डर अथवा डिमांड ड्राफ्ट से ही  
समयांतर के नाम भेजें। स्थानीय व बहुनगरीय  
चेक स्वीकार्य हैं।

## बैंकके माध्यम से शुल्क भेजने के लिए

Samyantar current a/c  
No. 27520200000094  
IFSC code : BARB0MAYVIH  
Bank of Baroda, Mayur Vihar Ph.-I,  
Delhi-110091

कृपया रेमिटेंस की सूचना तत्काल ईमेल अथवा  
एसएमएस से दें।

समयांतर, 79-ए, दिलशाद गार्डन, दिल्ली-110095

फोन : 09868302298 (संपादकीय)

09871403843 (व्यवस्था)

email: samyantar.monthly@gmail.com  
samyantar@yahoo.com

नोट: समयांतर से संबंधित सभी विवादास्पद मामले  
केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।

## इस अंक में

जनवरी, 2019 वर्ष: 50 अंक: 4

### संपादकीय

5. यह अराजकता है!

### सुबह की सैर

8. हकीकत से बेपरवाह भक्त! - राजेश कुमार

### समाचार संदर्भ

10. कश्मीरी अवाम दोहरे संदेह के दायरे में जी रहा है  
- निदा नवाज से ब्रह्मानंद ठाकुर की बातचीत
11. गाय, आतंकवाद और मॉब लिंगिंग - अजय सिंह
12. अर्द्धकुंभ: अव्यवस्था और कॉरपोरेट का संगम - सुशील मानव

### विचार

15. भारत में गणतंत्रवाद के मायने - चंद्र प्रकाश झा
19. बदलती बिसात - जावेद अनीस
23. फ्रांस में जन-विद्रोह की वजह - रामू सिद्धार्थ
25. ठहराव की ओर इस्लामिक क्रांति? - रामशरण जोशी
29. साहित्य अकादेमी या द्विज साहित्य अकादेमी? - एक संवाददाता
31. सफदर हाशमी: जब एक इंसान गुजर गया - विद्यार्थी चटर्जी

### अतिथि संपादकीय

33. भविष्य के लिए एक दस्तावेज - कृष्ण सिंह

### लेख

34. लेखक होने का मतलब - अरुंधति रॉय
40. गिरगिटिया रंग-वैभव की बहार - राजेंद्र यादव
42. किताब और नया हिसाब-किताब - मनोहर श्याम जोशी

समयांतर परिवार की ओर से

नव वर्ष 2019

की हार्दिक शुभकामनाएं

## इस अंक में

45. हिंदी क्षेत्र की संस्कृति और समाज -वीर भारत तलवार
52. देरिदा और अनुत्तरित आधुनिकता -आनंद प्रकाश
61. महाकाव्य में नया आयाम -इंतजार हुसैन
64. *इस रैन अंधेरी में...* -अनवार रिजवी
66. धर्म ने दासता के विरुद्ध आवाज नहीं उठाई  
-ओमप्रकाश वाल्मीकि
67. गुजरात और बुद्धिजीवियों की भूमिका का सवाल : संदर्भ  
निर्मल वर्मा -एक संवाददाता
69. रामविलास शर्मा और हिंदी नवजागरण -बृज बिहारी पांडे
72. शताब्दी पुस्तक : हिंदी लेखक की ग्रंथियां -प्रेमपाल शर्मा
73. हिंदी में आत्मकथा -मंगलेश डबराल और श्रीलाल शुक्ल
75. यशपाल की प्रासंगिकता -राधेश्याम दुबे
81. सार्त्र से मेरी मुलाकात -एडवर्ड सईद
85. नोम चोम्स्की का अकेलापन -अरुंधति रॉय
93. सावित्रीबाई फुले : आधुनिक भारत की पहली विद्रोही  
कवयित्री -सिद्धार्थ
97. भूगोल और स्मृतियों की परिधियां -पंकज बिष्ट
103. आग का सैलाब ( उपन्यास अंश ) -अमिताव घोष
106. समकालीन कला का दर्शन और मनोविज्ञान  
-शिव प्रसाद जोशी
110. हुसेन : आधुनिक भारतीय जीवन का चितेरा -इरफान
112. मृणाल सेन : सर्वभारतीय निर्देशक -विद्यार्थी चटर्जी
116. नब्बे के दादा, सौ का सिनेमा और एक सौ एक के साहू  
-जोसी जोसेफ

### साक्षात्कार

55. बिना उम्मीद के हमारा कोई भविष्य नहीं है  
-महमूद दरवीश से दालिया कारपेल की बातचीत
78. नाटककार होने का मुझे गर्व है  
-गिरीश कर्नाड से ड.पी. राजगोपालन की बातचीत
91. प्रतिरोधों और जनसंघर्षों में धारावाहिकता है  
-महाश्वेता देवी से कृपाशंकर चौबे की बातचीत

### स्तंभ

119. दरबारी लाल की दुष्टताएं -नीलाभ

आवरण चित्र : 'मई 1968', जॉन मीरो

आपका स्वागत है!

नई दिल्ली विश्व पुस्तक मेला

2018

5 से 13 जनवरी, 11.00 बजे सुबह से  
8.00 बजे शाम तक  
प्रगति मैदान, नई दिल्ली

# समयांतर

विचार और संस्कृति का मासिक

## स्वराज प्रकाशन

स्टॉल नं. 6, हॉल नं.12-ए  
में उपलब्ध होगा।

समयांतर खरीदने

वार्षिक ग्राहक बनने तथा  
वार्षिक शुल्क का नवीकरण  
करवाने की सुविधा का लाभ उठाएं।

संपर्क: व्यवस्थापक

## समयांतर

मो. 09810636082

e-mail : samayantar@yahoo.com तथा  
samayantar.monthly@gmail.com

# यह अराजकता है!

विगत साढ़े चार साल के राष्ट्रीय और उससे पहले गुजरात में नरेंद्र मोदी के नेतृत्वकाल के अनुभव इस बात का प्रमाण हैं कि सांप्रदायिक ताकतें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को बाकायदा खतरा रही हैं, और आज भी हैं। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से सत्ताधारियों की परेशानी समझ में आती है, विशेषकर उन शासकों को जो धर्म और उससे जुड़ी परंपराओं जैसे मूल्यों पर जरूरत से ज्यादा निर्भर हों। पर जिस रूप में यह परेशानी इस तरह की व्यवस्थाओं में नजर आती है, इसके कई अर्थ हो सकते हैं। जैसे कि धर्म और राष्ट्रीयता के सवाल शासकों और उनके समर्थकों को सामान्यतः संकीर्ण और भीरु बना देते हैं। वे कभी भी स्वयं को सुरक्षित नहीं महसूस करते।

यह सब अचानक नहीं है। इसके पीछे उन्हें स्वयं अपनी वैचारिक, व्यवहारिक और राजनीतिक सीमा का आभास होना है। उन्हें स्वयं विश्वास नहीं होता कि उनकी मान्यताएं और आदर्श एक आधुनिक समाज के अनुरूप हैं, उसे संचालित करना तो दूर की बात है। इसका कारण आधुनिक मूल्यों के वे दबाव हैं जो बदलाव की मांग करते हैं। वे एक आधुनिक व्यवस्था को, उसकी संस्थाओं और संसाधनों को, जिस अतार्किकता से चलाना चाहते हैं उसके चलते एकमात्र रास्ता यही रहता है कि वे जनता के विचारों को नियंत्रित करें। इस विरोधाभास से उपजी उनकी चरम असुरक्षा उन्हें अनावश्यक आक्रामकता और हिंसा का सहारा लेने को मजबूर करती है।

अवांछित धार्मिकता अंततः सांप्रदायिकता पैदा करती है और फिर वह अपने लिए गैर धार्मिक शिकार ढूंढती है जिससे कि बहुसंख्यकों (जिसका वे हिस्सा हैं) के धर्म को खतरे में दिखा सकें। असल में धर्म यथास्थितिवादियों बल्कि कहना चाहिए ऐसे वर्गों के लिए, जो सिर्फ अपने संकीर्ण हितों को बचाने के लिए इसका इस्तेमाल करते हैं, सबसे आसान हथियार है। विशेषकर ऐसे समाजों में तो यह और भी आसान रहता है, जहां एक हिस्सा इससे ताकत पाता रहा हो, जैसे कि हिंदू समाज में जाति व्यवस्था के चलते कथित ऊंची जातियां। दूसरी ओर पश्चिमी समाज में इस तरह के ध्रुवीकरण का आधार नस्ल और एक हद तक धर्म भी रहा है। जिस तरह के अंतर्विरोधों से ये विचारधाराएं और उनको आधार बनाकर चलने का प्रयास करने वाली राजनीतिक ताकतें ग्रस्त रहती हैं, उनमें इनके विकल्प न के बराबर रह जाते हैं।

जबकि आधुनिकता के साथ दिक्कत यह है कि आप उसके भौतिक लाभों से लाभ उठा लें और उसकी मूल्य व्यवस्था से बचने की उम्मीद करें, ऐसा नहीं हो सकता। इसके एक नहीं कई उदाहरण देखे जा सकते हैं। वैसे भी भारतीय समाज वैश्विक विकास के जिस स्तर पर पहुंच चुका है, उसके बाद लौटने का कोई रास्ता नहीं रहा है। इसके अलावा अपनी भौगोलिक और सांस्कृतिक विविधता के चलते कभी भी ऐसा नहीं रहा है कि देश किसी मत विशेष की जकड़ बंदी में रह पाया हो। अपवाद हो सकते हैं पर वे दौर चल नहीं पाए। वैसे भी हिंदू धर्म अपनी संरचना में जिस हद तक असमन्वयकारी हो चुका है और जिस तरह से सत्ता और ज्ञान का केंद्रीयकरण करता आया है – अपनी जातिवादी व्यवस्था के कारण, तथा आज भारतीय समाज जितना आगे बढ़ चुका है उन स्थितियों के चलते सारे हिंदू मतावलंबियों को किसी एक दिशा में धकेलना कभी भी संभव नहीं रहा है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो आज भी वे अंतरविरोध जो इस समाज में लंबे समय से चले आ रहे हैं यथावत विद्यमान हैं बल्कि और भी तेज हो गए हैं।

ऐसी स्थिति में धार्मिक असफलता अनिवार्य है, इसलिए भी कि ये आधुनिक ज्ञान, मूल्यों और तद्जन्य परिवर्तनों के साथ तालमेल बैठा ही नहीं सकती। विगत साढ़े चार वर्षों में पैदा हुई हिंसा और अलगाव मूलतः इस बात का संकेत है कि यह सत्ता शुरू से ही कमजोर पायदान पर थी और अब तो अपने अंतरविरोधों के चरम पर पहुंच चुकी है। ऐसे में बढ़ती हिंसा इसकी सामर्थ्य नहीं बल्कि सीमा को ही दिखलाते हैं।

पिछले माह हुए विभिन्न राज्यों के चुनाव परिणाम और चाहे जो बतलाते हों, आर्थिक और राजनीतिक असफलताओं के साथ उनमें सामाजिक कारणों ने बड़े पैमाने पर अपनी भूमिका निभाई है। यह अचानक नहीं है कि उत्तर प्रदेश के एक विश्वविद्यालय का कुलपति अपने छात्रों को यह सलाह दे रहा है कि वह लोगों को गोली मार कर आएँ और उसी राज्य में एक माह में दो

**अवांछित  
धार्मिकता  
अंततः  
सांप्रदायिकता  
पैदा करती है  
और फिर वह  
अपने लिए गैर  
धार्मिक  
शिकार ढूंढती  
है जिससे कि  
बहुसंख्यकों के  
धर्म को खतरों  
में दिखा सकें।**

पुलिसकर्मियों की हत्या हो जाती है। ये सब इस बात का स्पष्ट संकेत है कि देश का सबसे बड़ा राज्य किस तरह से अराजकता की ओर जा रहा है। हिंदुत्ववादी ताकतों ने मोदी के नेतृत्व में भाजपा की सरकार के दौरान जो सांप्रदायिक ध्रुवीकरण और अराजकता पैदा की है – अखलाक, पहलू खां, जुनैद से लेकर लातेहार आदि की लिंगिंग और गो-हत्या के नाम पर हुए दंगों में पुलिस अधिकारी की गोली मार कर हत्या तथा कोल्हापुर जिले में क्रिसमस के दिन ईसाइयों पर हमले तक की घटनाओं ने एक बात स्पष्ट कर दी है कि देश का नेतृत्व कर रहा वर्तमान राजनीतिक दल न तो देश की समस्याओं को सुलझा सकता है और न ही समाज में शांति कायम रख सकता है।

इस पृष्ठभूमि में अगर फिल्म अभिनेता नसीरुद्दीन शाह, जो अपनी स्पष्ट वादिता और ईमानदारी के लिए जाने जाते हैं, की बात को परखा जाए और उस पर होने वाली प्रतिक्रियाओं को समझा जाए तो स्थिति स्पष्ट हो जाती है। देखने की बात यह है कि आखिर शाह की बात से ऐसी प्रतिक्रिया क्यों हुई और वह भी राजस्थान में जहां अभी-अभी भाजपा सत्ता से बाहर हुई है ?

आखिर उन्होंने क्या कहा ? शाह ने कहा: “मैं अपने बच्चों को लेकर चिंतित हूं। वे किसी धर्म से नहीं जुड़े हैं। मैंने तो बचपन में धर्म की शिक्षा पाई है। रत्ना एक उदार परिवार की हैं, उन्हें धर्म की कोई शिक्षा नहीं मिली है।” उन्होंने आगे कहा, “मैं अपने बच्चों को लेकर चिंतित हूं क्योंकि कल को अगर कोई भीड़ उन्हें घेर ले और उनसे पूछे, ‘तुम हिंदू हो या मुसलमान’, वे कोई उत्तर नहीं दे पाएंगे।”

नसीरुद्दीन ने अपने बच्चों को लेकर जो कहा, उसे किसी एक धर्म से नहीं जोड़ा। पर निश्चय ही उनका संकेत किस धर्म से था वह छिपा नहीं था। क्योंकि उन्होंने स्पष्ट तौर पर वह कहा जिसकी जरूरत थी कि आज एक गाय की मौत एक पुलिस अधिकारी की मौत से ज्यादा अहमियत रखती है।

निश्चित रूप से उनका इशारा इसी माह के शुरु में उत्तर प्रदेश के बुलंदशहर जिले की घटना से था। इस उपद्रव में दो लोग मारे गए थे इनमें

एक पुलिस अधिकारी था। जहां प्रदेश की पुलिस ने सार्वजनिक बयान में कहा कि हमारा मुख्य सरोकार गाय की हत्या का पता लगाना है और मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ ने गाय की हत्या की जांच के आदेश दिए, उस राज्य की सत्ता की प्राथमिकताएं छिपी नहीं रहतीं।

इसलिए नसीरुद्दीन शाह ने आगे जो कहा वह स्थिति की गंभीरता को पूरी तरह रेखांकित करता है। उनके अनुसार, “उन लोगों को पूरी शह मिली हुई है जो कानून अपने हाथ में ले रहे हैं। जहर पहले ही फैल चुका है और अब इस जिन्न को वापस बोटल में बंद करना मुश्किल है। हालात के जल्दी सुधरने के आसार नहीं हैं।”

अल्पसंख्यक समुदाय का होने के नाते उनकी चिंता की गंभीरता समझ में आती है। बल्कि सच तो यह है कि वह यह बात इतनी देर से क्यों बोले ? संभवतः इसलिए कि वह गैरजरूरी बोलने में विश्वास नहीं रखते। वह कारवां एक मोहब्बत के एक आयोजन में भाग ले रहे थे जहां उन्हें मीडिया वालों ने घेरा और बोलने को मजबूर किया। पर महत्वपूर्ण यह है कि उनकी आंखमूंद कर आलोचना करने से बेहतर है कि उनकी चेतावनी को वृहत्तर भारतीय संदर्भ में समझा जाए और इससे सबक लिया जाए, न कि मूर्खों की तरह उन्हें कोसने के।

पर दूसरे और व्यापक स्तर पर नसीरुद्दीन शाह की बात शासकों समेत पूरे देश के लिए चेतावनी की तरह है। अगर इस तरह का टकराव बढ़ता गया तो यह अनिवार्य रूप से व्यापक अराजकता की ओर ले जाएगा। और तब इसे नियंत्रित करना सत्ताधारियों के वश का भी नहीं रहेगा। महत्वपूर्ण यह है कि अब जनता के लिए इस परिदृश्य की कल्पना करना मुश्किल नहीं रहा है। आम जनता पिंडारियों और ठगों के दौर में नहीं लौटना चाहती। चूंकि वर्तमान हालात के लिए भाजपा और उसके अनुशांगिक हिंदुत्ववादी संगठन जिम्मेदार हैं, इसलिए उन्हें समझ लेना चाहिए कि ये हालात उनके लिए ध्रुवीकरण करना तो रहा दूर, सत्ता से उनके सफाए का कारण बनेंगे। ■

**पांच वर्ष का ग्राहक बनिए  
और इस संग्रहणीय पुस्तक  
को उपहार स्वरूप पाईये!**

## **पूंजीवाद का संकट और मार्क्सवाद की चुनौतियां**

समयांतर के फरवरी 13 विशेषांक  
से चुने हुए लेखों के अलावा कुछ  
नए लेखों सहित

संपादक  
**कृष्ण सिंह**

पृ.सं.: 250, मूल्य: रु. 150

**समयांतर का प्रकाशन**

संपर्क  
**व्यवस्थापक**  
79-ए दिलशाद गार्डन  
दिल्ली - 110095

# **समयांतर**

असहमति का साहस और  
सहमति का विवेक

## असहिष्णुशीलता की मिसाल

गत माह अजमेर में साहित्योत्सव के उद्घाटन के अवसर पर आए अभिनेता नसीरुद्दीन शाह की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर भाजपा-आरएसएस के गुंडों द्वारा किए गए हमले की जनवादी लेखक संघ कड़े शब्दों में निंदा करता है। उनके मंच पर आने से पूर्व ही करीब चालीस-पचास हिंदुत्ववादी उपद्रवियों ने पंडाल में आकर तोड़फोड़ शुरू कर दी। होर्डिंग फाड़ दिए और नसीरुद्दीन शाह के नारे लगाने लगे।

उस समय वहां पर केवल दो पुलिस वाले थे। इस असुरक्षित माहौल में नसीरुद्दीन शाह को मंच पर नहीं लाया गया और वह बिना अपने विचार अभिव्यक्त किए ही वापस चले गए। असहिष्णुशीलता की इससे बड़ी मिसाल क्या होगी। नसीरुद्दीन शाह ने हाल ही में दिए अपने इंटरव्यू में देश के इसी माहौल पर अपने मन की बात कही थी जो हिंदुत्ववादियों को नागवार गुजरी जबकि उन्होंने न तो किसी व्यक्ति का और न ही किसी संगठन का नाम लिया था। इन संगठनों के कारनामे हर रोज असहिष्णुशीलता का सबूत दे रहे हैं। लेखकों-कलाकारों की अभिव्यक्ति की आजादी पर ये हमले दिनोंदिन बढ़ रहे हैं।

इस घटना में स्थानीय प्रशासन मूकदर्शक बना रहा। नसीरुद्दीन शाह जैसे कलाकार को पूरी सुरक्षा प्रदान करने और उन्हें अपने विचार रखने का अवसर प्रदान करवाना कांग्रेस सरकार की जिम्मेदारी बनती थी, जो नई सरकार के प्रशासन ने नहीं निभायी।

लोकतंत्र में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर इस तरह के अराजक और हिंसक हमलों की कोई गुंजाइश नहीं होनी चाहिए। जनवादी लेखक संघ राज्य सरकार से यह मांग भी करता है कि वह इन उपद्रवियों को गिरफ्तार करके कानूनी कार्रवाई करे। जिस तरह पुलिस प्रशासन की इस पूरे प्रकरण के दौरान उपेक्षापूर्ण भूमिका रही है उसकी जांच की जाए।

हमारा यह मानना है कि हर सच्चे कलाकार की तरह नसीरुद्दीन शाह ने अपने हालिया

बयान में हमारे देश और समाज का कड़वा यथार्थ सामने रखा है और हम उनकी चिंता को हर उस सच्चे भारतीय की चिंता समझते हैं जिसे अपने देश और समाज से प्यार है और जो इस देश की बहुलतावादी संस्कृति और सभ्यता के विकास के लिए प्रतिश्रुत हैं। हम देश के अवाम से अपील करते हैं कि वे ऐसे फासीवादी सांप्रदायिक तत्वों की असलियत पहचान कर उन्हें अलग थलग करें जो हमारे संविधान और साझा संस्कृति पर आए दिन हमला करके देश के कलाकारों, लेखकों, और दानिशवरों को और देश के अल्पसंख्यकों को डरा धमका रहे हैं। ये तत्व अपने राजनीतिक ओछे स्वार्थ के लिए सांप्रदायिक ध्रुवीकरण की चाल चल रहे हैं जिससे बेरोजगारी, गरीबी और अवाम की बदहाली जैसे वास्तविक सवालों को लोग भूले रहें।

- **चंचल चौहान**, कार्यकारी अध्यक्ष

- **मुरली मनोहर प्रसाद सिंह**, महासचिव

## कट्टे की तोप!

एनआईए द्वारा उत्तर प्रदेश और दिल्ली में कई जगहों से आतंकवाद के नाम पर की गई गिरफ्तारियां चुनावी तैयारी हैं। ट्रैक्टर के हाइड्रोलिक पंप को राकेट लांचर बनाना न सिर्फ हास्यास्पद है बल्कि आतंकवाद जैसे गंभीर सवाल पर एनआईए जैसी एजेंसी की अगंभीरता को दर्शाता है।

सुरक्षा एजेंसियां मीडिया में अपने सूत्रों से अफवाह भरी खबरें प्लांट करवा कर पूरे देश में तनाव का माहौल पैदा करती हैं। असलियत यह है कि जिस आईएस के अंतरराष्ट्रीय नेटवर्क के नाम पर वे माहौल बना रहे हैं उसके बारे में अपने दस्तावेजों में कुछ नहीं कहते। इसी तरह पुलिस और आरएसएस मुख्यालय पर हमले की अफवाह फैलाई गई। यह भी सवाल है कि आखिर पुलिस और आरएसएस में कोई वैचारिक संबंध है तभी ये दोनों अपने लिए इस तरह की अफवाहें उड़वाते हैं।

पुलिस जिसे राँकेट लांचर बता रही है वह ट्रॉली में लगने वाला जैक है जिससे ट्राली को मिट्टी डालने के लिए ऊपर उठाया जाता है। अगर यह राँकेट लांचर है तो फिर सभी किसानों को गिरफ्तार कर लेना चाहिए क्योंकि यह तो सभी ट्रॉलियों में लगा होता है।

2017 के चुनाव के ठीक वक्त खोरासन माइयूल का खुलासा करने वाली सुरक्षा एजेंसियों द्वारा 2019 के चुनावों के ठीक पहले हरकत-उल-हर्ब-ए-इस्लाम का खुलासा करना कई सवाल उठाता है।

1- जांच एजेंसी जिसे देसी राकेट लांचर बता रही है उसे लोग ट्रैक्टर का हाइड्रोलिक पंप कहते हैं। एनआईए बताए कि उसने किस हथियार विशेषज्ञ से यह ज्ञान प्राप्त किया कि वह राकेट लांचर है। ऐसे में एनआईए द्वारा बम बनाने के तरीके बताने वाले वीडियो पर भी सवाल उठ जाता है।

2- यूपी-दिल्ली के 17 जगहों पर छापेमारी हुई। 10 की गिरफ्तारी हुई, जिसमें यूपी के 11 जगहों में छह जगहें अमरोहा की थीं। एनआईए ने इसे बड़ी सफलता बताया। मीडिया के जरिए फैलाया गया कि पुलिस और संघ मुख्यालय आतंकियों के निशाने पर थे। इसे एनआईए ने आखिर क्यों नहीं आरोपियों को अदालत में पेश करते वक्त रखा।

3- एनआईए आईजी आलोक मित्तल ने सीक्रेट माँड्यूल से खतरनाक हथियारों का जखीरा मिलने और आत्मघाती हमले की बात कही। उन्हें बताना चाहिए कि जिन देसी तमंचों और सुतली बम की बरामदगी दिखाई गई उसका इस्तेमाल क्या आईएस जैसा खतरनाक संगठन करेगा।

4- जांच एजेंसी ने आईएस के पोस्टर बरामद करने का दावा किया है। उन कथित पोस्टर पर किसी संगठन का नाम नहीं है। एकदम नया छपा पोस्टर सच के नजदीक नहीं दिखता। एजेंसी को कैसे पता चला कि वह आईएस का पोस्टर है? पोस्टर घर में रखने के लिए नहीं होते। क्या वह पोस्टर कहीं लगाए गए थे? क्या आईएस भी चुनाव में उतरने की तैयारी कर रहा है? गौरतलब है कि सात मार्च 2017 को लखनऊ में सैफुल्लाह को मुठभेड़ में मारने के दावे के साथ काले रंग के झंडे की बरामदगी के आधार पर उसके आईएस से जुड़ाव का दावा एटीएस प्रमुख असीम अरुण ने किया था। उनके इस दावे को उसी शाम एडीजी लॉ एंड आर्डर दलजीत चौधरी ने नकार दिया था।

5- अमरोहा के सैदपुर इम्मा के रहने वाले सईद और रईस के चाचा मीडिया को बताते हैं कि सफेद गाड़ी आई और उसने घर का गेट बंद कर दिया। गाड़ी से सामान उतारा और

उनसे जबरदस्ती साईन करवाया कि सामान उनका है। ट्रैक्टर के जैक पाइप को राकेट लांचर, तो लोहे के बुरादे को बारुद बताते हुए कहा जा रहा है कि दोनों ने 25 किलो विस्फोटक खरीदे थे। यहां यह भी सवाल है कि आखिर एनआईए ने सईद और रईस से जुड़े सारे कागजात चारपाई पर रखकर क्यों जला दिए।

6- एनआईए के आईजी आलोक मित्तल ने कहा कि मॉड्यूल की तैयारी के स्तर से लगता है कि निकट भविष्य में इरादा रिमोट कंट्रोल वाले और फिदायीन हमले करने का था। यह आईएस से प्रभावित नया मॉड्यूल है, जो विदेशी एजेंट के संपर्क में था। रिमोट कंट्रोल, आत्मघाती जैकेट, रेडिकलाइजेशन, विदेशी आकाओं के इशारे पर संचालित इस माड्यूल की 'गंभीरता' और भारत पर बड़े हमले की योजना जैसे खुलासों को देसी कट्टे की बरामदगी से कैसे पुष्ट किया जा सकता है।

7- आईएस से जोड़ने की कोशिश करते हुए हरकत-उल-हर्ब-ए-इस्लाम के संचालन से जुड़े सवाल पर एनआईए ने कहा कि इस मॉड्यूल के सदस्य खुद पैसे इकट्ठे करते थे। कहने की बात नहीं कि एजेंसी को फंडिंग जैसे सवाल को साबित करना मुश्किल होता।

- राजीव यादव  
सचिव रिहाई मंच, लखनऊ

इलाहाबाद में समयांतर

**सबद**

171, कर्नलगंज  
(स्वराज भवन के सामने)

रायबरेली में समयांतर

**भीम पुस्तक भंडार**

एलआईजी  
335- आरडीए कालोनी, इंदिरानगर

सुबह की सैर

## हकीकत से बेपरवाह भक्त!

राजेश कुमार

**भाषा** ही बदली हुई है वेद जी की। पहली बार है कि वह आपकी सुन रहे थे, पार्टी ही नहीं, प्रधान जी के बारे में भी।" आरआर चकित थे, "आपकी बात और है, आप कह सकते हैं। मैं नहीं कह सकता। बड़े हैं वेद जी और आरडब्ल्यू में रोज का साबका।"

वह आरआर हैं। सबके लिए। उनका जिक्र, उनका परिचय इसी नाम से होता है और जिक्र तो खासा होता है। आरडब्ल्यू ने या कहिए कि वेद जी ने सुरक्षा की सारी जवाबदेही उन्हें ही दे रखी है। नहीं केवल जिम्मेदारी ही नहीं, पूरा अधिकार भी, सिक्वोरिटी एजेंसी से बातचीत कर हर मुद्दा सलटाने की पूरी छूट। रतूड़ी कभी-कभी ही दिखते हैं पार्क में, रूपेंदर रतूड़ी। पौड़ी के हैं, 86 में दिल्ली आए थे। बीसेक साल से तो इसी कालोनी में हैं, अपने मकान में, पर हर बातचीत में यह कहना शायद ही कभी भूलते हों कि मिट्टी तो अपनी पौड़ी की ही है, उठेगी भी वहीं से।

पार्क से वेद जी की रूखसती तक आरआर बस हां-हूं के साथ संवाद में शामिल थे। शामिल कम, साक्षी ज्यादा। भागीदारी वह वेद जी और मेरी राजनीतिक बातचीत के बीच की खाली जगह में ही कर रहे थे। आप इसे हस्तक्षेप भी कह सकते हैं, हमारी निहायत राजनीतिक बातचीत में इस डीडिए कालोनी के गेटों पर तैनात सुरक्षा गार्डों की ढिलाई का, उनकी बेपरवाही के मामले का हस्तक्षेप। बल्कि मैं पार्क में पहुंचा तो दोनों वाकिंग ट्रैक पर थे और चर्चा संभव है, इसी मामले पर रही होगी। इस अर्थ में मेरा पहुंचना आरडब्ल्यू के मामलों पर जारी चर्चा में राजनीति का दखल था।

मुझे पार्क में आते देख वेद जी रुक गए थे। आर.आर. नहीं रुके, वह बोले जा रहे थे। वेद जी सुन नहीं रहे थे, वह केवल रुककर मेरा इंतजार कर रहे थे। यह कालोनी-वासियों की सुरक्षा के मामलों का स्थगन था। हिंदी फिल्मों का सीन होता तो आर.आर. फेड-आउट कर दिए जाते। राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़

की हार के बाद वेद जी से मेरी यह पहली ही बाकायदा मुलाकात थी। नतीजों के दो दिन बाद बस देखा-देखी हुई थी। सैर के वक्त नहीं, बल्कि बाद में, जब मैं किराने की दुकान तक जा रहा था। पार्क के बाहर से ही मेरे नमस्ते पर बोले थे, "मैं हार गया।"

पराजय के इस स्वीकार में वह शरारत गायब थी, जो मेरे-उनके संबंधों में अक्सर रही है, केवल एक-दूसरे की पसंद-नापसंद और चिंताओं-सरोकारों से वाकिफ होने की घोषणा करती शरारत नहीं, बल्कि एक-दूसरे के राजनीतिक पक्ष पर सवाल उठाती, उसे नीचा दिखाती शरारत। वह शरारत, जो नतीजे आने से एक दिन पहले इस तजवीज में भी बदस्तूर थी कि सोचता हूं।

कार्टिंग देखने के लिए कल पार्क में स्क्रीन लगे। कल तो आप आ ही सकते हैं, रिजल्ट के बाद जरूर आपका मुंह दिखाना मुश्किल होगा। भाजपा के समर्पित कार्यकर्ता हैं और उनके लिए यह सोच पाना मुश्किल है कि कांग्रेस या किसी दूसरे राजनीतिक जमात में शामिल हुए बिना भी कोई उनकी पार्टी और उसके सबसे कद्दावर नेताओं का आलोचक कैसे हो सकता है।

पांच-शून्य की मेरी दलील पर वेद जी चिढ़ गए थे। कह तो मैं तीन-शून्य भी सकता था, पर तेलंगाना और मिजोरम को मैंने जान-बूझकर जोड़ लिया था, इस आम फहम जानकारी के बावजूद कि इन दोनों जगहों पर भाजपा का कोई स्टेक है नहीं। वेद जी इसी बदमाशी का प्रतिवाद कर रहे थे और मैंने भी घर का रुख करते-करते जवाबी तीर चलाया था, "लगवा दीजिए पार्क में स्क्रीन। हां सुबह नौ बजे तक लग जरूर जाए। वरना 11-12 बज गए तो बढ़त इतनी साफ हो चुकेगी कि आपसे लगवाया न जाएगा।"

आरआर ठीक कह रहे थे। आज वेद जी बिल्कुल बदले-बदले थे। झक्क सफेद पैट-कमीज पर नीले बार्डरवाला क्रिकेटिया स्वेटर और डबल ब्रेस्ट वाला नीला डफल कोट वही,

लेकिन बिहार में भाजपा, जे डीयू और रामविलास पासवान की लोजपा के बीच सीटों की साझेदारी का मामला सुलझ जाने पर भी चेहरे पर एक संजीदगी, एक तनाव। “लोजपा ने रामविलास के लिए राज्यसभा की सीट क्यों मांगी।” यही उनका पहला सवाल था। और दिन होता तो विरोधियों को औकात बता देने जैसा ही कुछ कह देते, आखिर अजित जोगी-मायावती के गठबंधन पर अंजनेय सैनी ने ऐसा कहा ही था। वेद जी का सवाल अपनों के बारे में था, बल्कि अपने बारे में भी। उन्होंने जोड़ा कि “हम उसे छह सीट दे सकते थे तो चिराग पासवान के एक-दो और बयान आने पर सात भी दे ही देते।”

“मैं कहता न था कि यह जो आपके प्रधान सेवक हैं, कांग्रेस तो पता नहीं, देश को भाजपा मुक्त जरूर कर देंगे।”-वेद जी चुप रहे, मैं बोलता रहा, “सीट आप कितनी भी दे दो, सुरक्षित तो अबकी राज्यसभा ही है और आप जानते ही हो, रामविलास न सांसद हुए बिना रह सकते हैं, न मंत्री हुए बिना।...” पता है, इस बार आप दोनों के लिए एक-दूसरे को अपने वोट ट्रांसफर कर पाना टेढ़ी खीर होगा और ऐसे में आप तो फिर भी 17 के अपने कोटे से कुछ सीटें जीत ले जाओगे, रामविलास क्या करेंगे!”-मेरा जवाब सपाट था। शायद वह सहमत भी थे। पहली बार सहमत। बुदबुदाए भी कि ‘मध्य प्रदेश-छत्तीसगढ़ में तो मायावती का साथ नहीं होने का कोई नुकसान कांग्रेस को हुआ नहीं’, लेकिन तुरंत ही वह अगले सवाल पर कूद गए, “दिल्ली का क्या हो रहा है” वह मिनट भर रुके, फिर कहा, “अब तो आम आदमी पार्टी ने चौरासी के दंगों के कारण राजीव गांधी से भारत रत्न वापस लेने की मांग का प्रस्ताव तक विधानसभा में पास कर दिया है।”

“यह कांग्रेस-आप गठबंधन की कोशिशों को पटरी से उतारने का प्रयास है। पिछले महीने यहां किसान रैली में राहुल गांधी और केजरीवाल के मंच साझा करने के बाद से ही दोनों के साथ मिलकर लोकसभा चुनाव लड़ने की चर्चाएं जोरों पर हैं। दोनों ही पार्टियों में कुछ लोग इसके खिलाफ भी हैं। अगर 2019 के लिए दिल्ली में कोई विपक्षी गठबंधन बनना है तो हेड्स मस्ट रोल। आप भारत रत्न वापस लेने की मांग और समझौते की बातचीत साथ-साथ नहीं चला सकते पर अगर तालमेल हो गया तो भाजपा के लिए सात की सातों सीटें

लगभग असंभव हो जाएंगी।” धैर्य से मुझे सुन रहे वेद जी ने पार्क के छोटे गेट के पास रुकते हुए पूछा था, “चांदनी चौक भी...!”

चांदनी चौक में खास क्या है, अभी मैं इस पर कुछ सोच पाता कि वेद जी ही बोल पड़े, “मैं तो इस सीट से लड़ने की सोच रहा था। माताश्री तो पार्टी अध्यक्ष से इस पर चर्चा भी कर चुकी हैं।” पता नहीं वह किन माताश्री का जिक्र कर रहे थे। जानने में मेरी दिलचस्पी भी नहीं थी पर हड़बड़ी से साफ था कि यह बहिर्गमन की मुद्रा थी। वह घर और पार्क के बीच कोटा स्टोन बिछी लेन पर उतर गए थे। यूं कॉलोनी की सभी सड़कें और लेन इन दिनों निर्माणाधीन हैं, पर वेद जी के घर के बाहर केवल पचासेक फीट में ताजा-ताजा लगा है कोटा स्टोन, इतना ताजा कि बांस बांधकर आवाजाही को निषिद्ध कर दिया गया है।

ग्राउंड फ्लोर के अपने मकान का स्टील का गेट खोलते हुए हाथ उठाकर वेद जी बोले, “तो 2019 में जोखिम न ही लूं।”

छोटे गेट से बाहर निकलते ही उनका घर आ जाता है। अभी पिछले ही साल एक दिन इत्तफाकन उनके घर गया तो पता चला कि उनके फ्लैट के आसपास कामन स्पेस के विलोप और उनके ड्राइंग रूम के विस्तार के बीच एक सीधा रिश्ता है। सुबह पार्क में टहलते हुए पहले यह अक्सर मेरा ध्यान खींचता रहा था और अब कोटा स्टोन की यह लेन।

“यह वेद जी ने खुद लगवाया है। अपने घर के बाहर, अपने पैसों से तो कोई भी, कुछ भी लगवा सकता है।” आर.आर. शायद भांप गए थे कि मैं कोटा स्टोन में ही अटका हूं। उन्होंने बात बदली, “प्रकाश पांडे अकेला नहीं था, जो नोटबंदी और जीएसटी से परेशान था, पूरा उत्तराखंड परेशान है, बल्कि पूरा देश... बल्कि मौतें भी सैकड़ों हुईं।” वह हलद्वानी के उस ट्रांसपोर्टर का जिक्र कर रहे थे, जिसने इस साल के शुरु में देहरादून भाजपा ऑफिस में मंत्री सुबोध उनियाल के जनता दरबार में जहर खाकर जान दे दी थी। आरआर जारी थे, “आप तो जानते ही होंगे, नोटबंदी ने उत्तराखंड में फल-फूल रहे भवन निर्माण को ही नहीं, परंपरागत पर्यटन उद्योग को भी चौपट कर दिया है। अकेले चारधाम के यात्रियों की संख्या दो लाख घट गई। लेकिन वेद जी को इससे क्या!...” मैं तो इसीलिए उनसे इस सब पर बात ही नहीं करता। बस काम से काम और नमस्ते...”

वह अभी बोलने के मूड में थे कि मोबाइल बज उठा। शायद सिक्क्योरिटी एजेंसी के किसी अधिकारी का रहा होगा और वह सुरक्षा के मामलों में लौट गए, “देखिए गेट नंबर दो वाला गार्ड कतई नहीं चलेगा। स्लीपिंग मोड का क्या मतलब, कई लोगों ने उसे तीन से पांच तक सोया देखा है। उसी बीच कुछ हो-हबा गया तो, ...देखिए बात तो आपको मुझी से करनी पड़ेगी, वेद जी ने फ्री हैंड दे रखा है मुझे...।”

आरआर अपने घर की ओर बढ़ गए थे, बिना नमस्कार-पाती के, उनकी आवाज अब साफ सुनाई नहीं पड़ रही थी...। ■

## घटनाक्रम

### निधन

◆ इतिहासकार **मुशीरुल हसन** (15 अगस्त 1949-10 दिसंबर 2018) का दिल्ली में निधन। वह पिछले कुछ समय से बीमार थे। हसन जामिया मिल्लिया इस्लामिया के कुलपति तथा राष्ट्रीय अभिलेखागार के महानिदेशक रहे थे। उनकी चर्चित किताबें हैं- *इंडिया पार्टीशन: द अदर फेस ऑफ फ्रीडम* तथा *व्हेन अननोन वॉल्स क्राई*।

◆ सुप्रसिद्ध इजराइली लेखक **अमाज ओज़** (4 मई 1939-28 दिसंबर 2018) का जेरुसेलम में निधन। ओज़ उदारवादी लेखक थे और फिलिस्तीन के इजराइल द्वारा कब्जाने के खिलाफ थे। उन्होंने एक दर्जन से अधिक उपन्यास लिखे हैं। उनके बहुचर्चित उपन्यासों में *माई मिशेल* और *ब्लैक बॉक्स* हैं।

## सूचना

हमें खेद है कि अपरिहार्य कारणों से लक्ष्मी देवी तथा गोदावरीदेवी पुरस्कारों की घोषणा इस महीने नहीं की जा रही है।

अब इन की घोषणा फरवरी 2019 के अंक में होगी।

- संपादक

## कश्मीरी अवाम दोहरे संदेह के दायरे में जी रहा है

कश्मीरी मूल के हिंदी लेखक निदा नवाज को उनकी पुस्तक सिसकियां लेता स्वर्ग के लिए वर्ष 2018 का ग्यारहवां 'अयोध्या प्रसाद खत्री स्मृति-सम्मान' प्रदान किया गया। इसी सिलसिले में उनका आगमन मुजफ्फरपुर में हुआ। सम्मान समारोह के अगले दिन ब्रह्मानंद ठाकुर ने उनसे लंबी बातचीत की। अपने लेखन और विचारों से सदा आतंकियों के निशाने पर रहने वाले निदा नवाज ने बड़ी बेबाकी से कश्मीर के हालात बयां किए।

प्रश्न: आप कश्मीर के वर्तमान हालात की जड़ किसे मानते हैं ?

निदा नवाज: कश्मीर में आतंकवाद की वजह वहां के चुनावों में धांधली रही है। आज तक जितने भी चुनाव वहां कराए गए, सब में धांधली हुई। केंद्र वहां अपनी मर्जी और पसंद की सरकारें बनवाती रही। 1987 के चुनाव में तो हद ही हो गई जब बहुमत से जीत रहे मुस्लिम यूनाइटेड फ्रंट को हारा हुआ घोषित कर हार रही पार्टी को विजयी घोषित कर दिया गया। इसी के साथ कश्मीर में 1989 से आतंकवाद शुरू हुआ। सीमा पार पाकिस्तान वाले तो इसी ताक में थे कि कब कश्मीरी दिल्ली से नाराज हो जाएं कि इनको अपने हित में इस्तेमाल करने का मौका मिल सके। केंद्र ने इस पर ध्यान नहीं दिया और इसे चंद उपद्रवियों का काम समझ सख्ती से दबाने की कोशिश की जाने लगी।

आम कश्मीरियों की सबसे बड़ी समस्या आज क्या है ?

कश्मीर के आम आदमी की सबसे बड़ी समस्या उसकी सुरक्षा की है। दोहरे संदेह के दायरे में जी रहा है कश्मीरी अवाम। उन्हें सुरक्षा बल और आतंकी संगठन दोनों शक की निगाह से देखते हैं। फौज को हर किसी पर आतंकी या आतंकियों का मददगार होने का शक है और आतंकी कश्मीरियों को मारते हैं मुखबिरी के संदेह में।

आतंक और भय के साए में आज वहां की नई पीढ़ी किस रूप में विकसित हो रही है ?

जिस समाज में गोलियों की तड़तड़ाहट, बमों के धमाके, हथगोलों की आवाज अहर्निश गूंज रही हो, हर दिन कोई न कोई गोलियों और बमों से मारा जा रहा हो, उस समाज में बच्चों की मनोदशा को सहज ही समझा जा सकता है। डर, दहशत और अनिश्चितता हर समय मन में समाई रहती है। घर से निकले, मगर लौट कर वापस आने की गारंटी नहीं होती। कश्मीर घाटी में आज जो युवा वर्ग है, जो पत्थरबाज है, वह तो बंदूकों-गोलियों की इसी तड़तड़ाहट में जन्मा है, पला-बढ़ा है। उसके सामने एक सामान्य समाज की चेतना नहीं है। जिस समाज में जान के लाले पड़े हों उस समाज का युवा वर्ग कैसे अपने प्रोफेशनल करियर को लेकर संजीदा हो सकता है ? यहां की नई पीढ़ी आम कश्मीरियों की तरह ही बिखराव का शिकार है।

जम्मू-कश्मीर में सांप्रदायिकता को आप किस नजरिए से देखते हैं ?

देखिए, सांप्रदायिकता जम्मू-कश्मीर में बिल्कुल भी नहीं है। धार्मिक कट्टरवाद तो है मगर इन्टॉलरेंस नहीं है। वहां बंगाली, बिहारी, नेपाली मजदूर हजारों की तादाद में हैं। उनसे उनकी जाति और धर्म के बारे में कुछ भी नहीं पूछा जाता। उनके साथ बिना किसी भेद-भाव के सम्मानजनक व्यवहार किया जाता है।

पिछले 30 सालों के आंकड़ों पर यदि गौर किया जाए तो हम पाते हैं कि वहां इस अवधि में अब तक 60 हजार लोग मारे गए हैं। मरने वालों में कश्मीरी हिंदुओं की संख्या मात्र 219 है।

आजादी के बाद से अब तक भारत की राजनीति में धारा 370 को विवाद का कारण माना जाता रहा है। अधिकांश राजनीतिक दल जम्मू-कश्मीर में अलगाववाद के पीछे इसे ही मुख्य कारण मानते हैं। आप इसे किस रूप में देखते हैं ?

इसे समझने के लिए भारत के साथ कश्मीर के विलय की तत्कालीन परिस्थितियों को समझने की जरूरत है। भारत के साथ कश्मीर का विलय होने से पहले वहां महाराजा हरि सिंह का शासन था। वह 1925 में सत्ता संभाले थे। उस दौर में भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध आजादी की जंग लड़ी जा रही थी। उसी दौर में जम्मू-कश्मीर में एक युवा नेता शेख अब्दुल्ला हुए, जिनके नेतृत्व में वहां राजतंत्र की जगह लोकतंत्र की स्थापना के लिए संघर्ष शुरू हुआ। इतिहास में इन बातों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। भारत जब 15 अगस्त 1947 को आजाद हुआ तब कुछ परिस्थितियां ऐसी बनी कि कश्मीर का भारत में विलय हुआ। इस विलय की शर्त यह थी कि सुरक्षा, संचार और विदेश नीति पर ही भारत का अधिकार होगा। अन्य मामलों में कश्मीर का अपना संविधान और उसका अपना झंडा होगा। वास्तविकता यही है कि जब जम्मू-कश्मीर का भारत में विलय बहुत जरूरी हो गया तभी इस काम को अंजाम देने के लिए धारा 370 के तहत कुछ विशेष अधिकार वहां की जनता को दिए गए। आज यदि देखा जाए तो संविधान में इतना ज्यादा संशोधन हो चुका है कि धारा 370 खोखला हो चुका है, बेमानी होकर रह गया है। अब तो भारत में जो कानून बनता है वह स्वतः कश्मीर पर लागू हो जाता है।

कश्मीर में सुरक्षाबलों की भूमिका को आप किस रूप में देखते हैं ?

देखिए, पिछले 30 वर्षों के दौरान फर्जी झड़पों को केवल इसलिए अंजाम दिया गया है कि इस नाम पर समय से पहले सेना के लोगों को प्रमोशन प्राप्त हो सके। वीरता के पदक हासिल किए जा सकें। लेकिन आज तक आम कश्मीरी तक पहुंचने के लिए, उसके रोष को समझने के



लिए कोई भी कदम नहीं उठाया गया। आतंकवादी तो आतंकवादी होते हैं। बर्बरता और आतंक फैलाना ही उनका काम है लेकिन कश्मीर घाटी में सुरक्षाबलों ने भी तो आतंकियों का ही रूप धारण किया हुआ है। वहां का आम आदमी इस्लामिक कट्टरवादियों और राजनेताओं के बीच कुछ इस तरह फंस चुका है कि उससे निकलना मुश्किल लगता है।

*कश्मीर के मुद्दे पर भारत और पाकिस्तान के रवैये पर आपकी राय ?*

जिस तरह पाकिस्तान अपनी वैश्विक रणनीति के तहत कश्मीर को सदा से भारत के खिलाफ एक मोहरे की तरह इस्तेमाल करता रहा है, उसी तरह केंद्र सरकार भी जम्मू-कश्मीर राज्य के बाहर वोट बटोरने के लिए उसका इस्तेमाल कर रही है।

*आतंकवाद और मिलिटेंसी को आप अलग-अलग मानते हैं ?*

आतंकवाद और 'मिलिटेंसी' दो अलग-अलग शब्द हैं। 'मिलिटेंसी' एक सशस्त्र संघर्ष को कहते हैं। आतंकवाद लोगों को डरा-धमका कर अपना हित साधता है। जम्मू-कश्मीर का मीडिया जिसे 'मिलिटेंसी' कहता, लिखता है; कश्मीर के बाहर उसे ही आतंकवाद कहा जा रहा है। कश्मीर में आज जो 'मिलिटेंसी' है वह वास्तव में स्वतंत्रता की लड़ाई है। इस लड़ाई को पाकिस्तान अपने हित में अपने साथ मिलाने की कोशिश कर रहा है। हुरियत कांफ्रेंस पाकिस्तान समर्थक कश्मीरी संगठन है जो कश्मीर की आजादी की बात तो करता है मगर पाकिस्तान में उसको शामिल करने के लिए। इस्लामिक कट्टरवादी दरअसल

कश्मीर में इस्लामी शासन के समर्थक हैं। लेकिन सच्चाई यही है कि आज दुनिया में धर्म के नाम पर किसी देश में शासन नहीं चलाया जा सकता।

*कश्मीर की समस्या को किस रूप में परिभाषित करेंगे ?*

कश्मीर एक भौगोलिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक समस्या है। मजहबी तो कतई नहीं। इसे धार्मिक रंग देने का काम पाकिस्तान कर रहा है। इसे इस रूप में भी समझा जा सकता है कि वहां जब जेहाद की बात की जाती है तो आजादी की बात नहीं की जाती है, किसी धर्म विशेष की बात की जाती है। उन लोगों से पूछा जा सकता है कि जब आप जम्मू-कश्मीर में इस्लामी शासन की बात करते हो तो उस समय जम्मू, लद्दाख या कारगिल के शिया समुदाय आपके साथ नहीं होते। वे भारत के साथ होते हैं। आज विश्व में धर्म के नाम पर किसी भी देश में शासन व्यवस्था नहीं चलाई जा सकती।

*आपकी दृष्टि में इस समस्या का समाधान कैसे संभव हो सकता है ?*

केंद्र सरकार के लिए यह सबसे जरूरी है कि आम कश्मीरियों के बीच जाकर उसकी बुनियादी समस्याओं को समझा जाए। उसकी नाराजगी दूर करने का हर संभव प्रयास किया जाए। तभी कश्मीर समस्या का हल निकल सकता है। जम्मू-कश्मीर से बाहर देश भर में पिछले चंद वर्षों से जो एक कट्टरवाद फैलाया जा रहा है, बांटने की जो चाल खेली जा रही है, उसका सीधा प्रभाव कश्मीर घाटी पर पड़ रहा है। मेरी राय में आज की तारीख में कश्मीर के लिए भारत के अलावा कोई विकल्प नहीं है। शर्त यह कि भारत सही मायने में एक धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक तरीके से इस समस्या का समाधान करे।

*अंतिम सवाल। क्या कारण है कि कश्मीर में सत्ता में आते ही जो दल भारत से वफादारी का राग अलापता है, वही सत्ता से बाहर होते ही भारत के विरुद्ध आग उगलने लगता है ?*

ऐसा उन दलों की प्रकृति में है। इससे उनका खुद का हित सधता है। अबतक जो भी पार्टी वहां की सरकार में रही है, केंद्र की वफादार रही, सत्ता से बाहर होते ही पाकिस्तान की वफादार हो गई। ■

# गाय, आतंकवाद और मॉब लिंचिंग

अजय सिंह

गाय आतंकवाद ने उत्तर प्रदेश के बुलंदशहर जिले में 3 दिसंबर 2018 को एक पुलिस अधिकारी की जान ले ली। यह साफ-साफ मॉब लिंचिंग (किसी व्यक्ति को संगठित भीड़ द्वारा पूर्व-नियोजित तरीके से पीट-पीट कर मार डालना) थी। गाय आतंकवाद ने खासकर उत्तर प्रदेश में जिस तरह मॉब लिंचिंग की संस्कृति पिछले एक-डेढ़ साल में विकसित की है, यह उसका घिनौना नमूना है। इसने राजसत्ता-समर्थित संस्थाबद्ध रूप ले लिया है, और इसे बचाने या छिपाने की हर संभव कोशिश की जाती है। इसीलिए राज्य की भारतीय जनता पार्टी सरकार के मुख्यमंत्री आदित्यनाथ ने 7 दिसंबर 2018 को दिल्ली में एक कार्यक्रम के दौरान कहा कि पुलिस अधिकारी सुबोध कुमार सिंह की हत्या मॉब लिंचिंग नहीं, दुर्घटना है। जाहिर है, मॉब लिंचिंग या गाय आतंकवाद कहते ही भाजपा-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ व उनसे जुड़े बजरंग दल, विश्व हिंदू परिषद, भारतीय जनता युवा मोर्चा आदि संगठनों की करतूतें सामने आने लगेंगी।

बुलंदशहर जिले में पुलिस अधिकारी की बर्बर हत्या ने राज्य की भाजपा सरकार व मुख्यमंत्री आदित्यनाथ को कठघरे में खड़ा कर दिया है। इस सरकार के एक कैबिनेट मंत्री ओमप्रकाश राजभर खुलेआम कह चुके हैं कि यह हत्या भाजपा-आरएसएस ने कराई है ताकि 2019 के लोकसभा चुनाव में हिंदू वोट के बल पर भाजपा फिर जीत सके। उनके इस बयान पर भाजपा व विश्व हिंदू परिषद के कुछ नेताओं ने मुख्यमंत्री से मांग की है कि राजभर को राज्य मंत्रिमंडल से बर्खास्त कर दिया जाना चाहिए। यह सिर्फ संयोग नहीं है कि हत्या की इस घटना के तीन दिन के अंदर बहराइच से भाजपा की लोकसभा सदस्य सावित्रीबाई फुले ने पार्टी की प्राथमिक सदस्यता से इस्तीफा दे दिया, यह कहते हुए कि भाजपा की नीतियां विभाजनकारी हैं। मानवाधिकार कार्यकर्ता

## रांची में समयांतर

ज्ञान दीप पुस्तक भंडार

ए च. बी. रोड,

निकट फिराया लाल चौक

रांची (झारखंड) - 834002

एसआर दारापुरी और रिहाई मंच के अध्यक्ष मोहम्मद शोएब व महासचिव राजीव यादव ने लखनऊ में 7 दिसंबर 2018 को बुलंदशहर की घटना का ब्यौरा जारी करते हुए और बाकायदा नाम लेते हुए, बताया कि भाजपा-आरएसएस व उनसे जुड़े संगठनों—विश्व हिंदू परिषद, बजरंग दल व भारतीय जनता युवा मोर्चा—के लोगों ने इस घटना को अंजाम दिया।

बुलंदशहर की घटना बताती है कि गाय बचाने के नाम पर आतंक फैलाने और हत्या करने वालों के हौसले किस कदर बुलंद हैं, क्योंकि उन्हें सरकार की शह और सहायता मिली हुई है। उन्हें पता है कि हम कुछ भी कर लें, हमारा कुछ नहीं बिगड़ेगा, क्योंकि सरकार तो हमारी अपनी है, वह हमारे साथ खड़ी रहेगी। चाहे हम पुलिस अधिकारी की ही हत्या क्यों न कर दें! इस घटना के मुख्य बिंदु से ध्यान हटाने की कोशिश जिस तरह आदित्यनाथ सरकार कर रही है, वह चिंताजनक है। बुलंदशहर के अतिरिक्त पुलिस अधीक्षक ने 'इंडियन एक्सप्रेस' अखबार से 5 दिसंबर 2018 को कहा, 'इस समय हमारे लिए सबसे अहम काम है यह पता लगाना कि गायों को किसने मारा... इस समय गायों की लाशें मुख्य मुद्दा है... हत्या और दंगा तो बाद की बात है।' यानी पुलिस अधिकारी की हत्या आदित्यनाथ सरकार के लिए खास चिंता की बात नहीं, खास चिंता की बात है गाय की हत्या! इसलिए मुसलमान को पकड़ो!

पुलिस अधिकारी सुबोध कुमार सिंह मुसलमान या दलित नहीं, सवर्ण हिंदू थे। गाय आतंकवादियों के हाथों उनकी हत्या बताती है कि इस आतंक का दायरा अब सवर्ण हिंदुओं की तरफ भी बढ़ रहा है। खासकर उन हिंदुओं की तरफ, जो सेकुलर हैं, प्रगतिशील-उदारवादी हैं, और मुसलमानों से यारी-दोस्ती रखते हैं। सुबोध कुमार सिंह के खिलाफ भाजपाइयों-हिंदुत्ववादियों ने दुष्प्रचार अभियान चलाया था कि वह मुसलमानों से बहुत ज्यादा यारी-दोस्ती रखते हैं और हिंदुओं को तंग करते हैं। इस अभियान ने ही उनकी हत्या करायी, और यह पूर्व-नियोजित था। गाय आतंकवाद ने राजसत्ता पर—पुलिस पर—खुले आम हमला कर बता दिया है कि उसके लिए कोई सीमा नहीं है। ■

अर्द्धकुंभ

## अव्यवस्था और कॉरपोरेट का संगम

सुशील मानव

भ्रम और अव्यवस्था का संगम लेकर खड़ा है 2019 का कुंभ (अर्द्धकुंभ) मेला। सदियों से जनमानस 'कुंभ' (जो बारह साल पर लगता है) और 'अर्द्धकुंभ' (जो 6 साल पर लगता है) ही जानता-मानता आया है। पर उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ ने 'अर्द्धकुंभ' को कुंभ और कुंभ को 'महाकुंभ' का नाम देकर जनमानस में एक महाभ्रम पैदा कर दिया है। लोग बाग भ्रम में हैं कि कुंभ लगा है या अर्द्धकुंभ। कई लोग कहते हुए सुने जा सकते हैं कि सन् 2013 में तो कुंभ लगा था फिर 2018 में कैसे लग सकता है, इसे तो कायदे से 2025 में लगना चाहिए। कमोवेश यही भ्रम तमाम साधु-संतों, संन्यासियों में भी है। अकेले इलाहाबाद के 'कुंभ' का नाम बदलकर 'महाकुंभ' करने से भी ये भ्रम पैदा हुआ है जबकि उज्जैन, नासिक और हरिद्वार में अभी भी 'कुंभ' को 'कुंभ' ही माना-जाना जाता है।

वहीं शहर में अब प्रयाग नाम के दो रेलवे स्टेशन हो गए हैं, 'प्रयाग' और 'प्रयाग जं.' के नाम से। बता दें कि शहर में तीन रेलवे स्टेशन थे इलाहाबाद जं., रामबाग और प्रयाग। लेकिन इलाहाबाद नगर का नाम बदलकर प्रयागराज करने के साथ ही 'इलाहाबाद जंक्शन' रेलवे स्टेशन का नाम बदलकर 'प्रयाग जं.' कर दिया गया। इसके चलते दूसरे शहरों और राज्यों से आने वाले लोगों के लिए घोर संकट की स्थिति पैदा हो गई है। पता लगा कि उन्हें जाना है ऊदपुर और रिव्शे, ऑटो वालों ने उन्हें पहुंचा दिया महमूदपुर।

मेला बिस्तार और अरैल में टेंट सिटी के लिए उजाड़ दिए गए गांव के गांव

इस वर्ष कुंभ मेले का विस्तार 18 हजार बीघे तक किया जा रहा है। इसके अलावा छह लाख गांवों से आने वाले श्रद्धालुओं के लिए रैन बसेरे बनेंगे, वहीं दुनिया के 192 देशों से आने वाले पर्यटकों के लिए अरैल में टेंट सिटी बसाने के लिए अरैल के आस

पास की दर्जनों गांव और टोलियां उजाड़ दी गई हैं। इसके अलावा लवायन, नवैय्या जैसे बीसों गांव उजाड़ दिए गए। चुंगी से लगे परेड ग्राउंड पर बसे सैकड़ों झुगियों को तोड़-फोड़ दिया गया है। ओमेक्स सिटी से सरस्वती हाइटेक सिटी के बीच अब कोई जन बस्ती नहीं बची, जो थी वो सब उजाड़ दी गई। जबकि वहीं योगी महेश संस्कृत विद्यालय खड़ा व्यवस्था पर हंस रहा है। अरैल घाट के आगे नदी की जगह के आस-पास जमीन छीनकर मेले के लिए रोड बना दी गई, जबकि वहां लोग फूलों की खेती करते थे। सैंकड़ों परिवार बेघर और बेछत हो गए हैं। अब उनके पास खुले आसमान के नीचे टंड की रात गुजारने के सिवाय और कोई चारा नहीं है।

### एक जीते-जागते शहर का मुर्दा टीले में तब्दील हो जाना

शहर को सुंदर बनाने की कवायद में इतना तोड़-फोड़ किया गया है कि एक जीता जागता शहर मुर्दा के टीले में तब्दील हो गया है। बिना किसी योजना के जब किसी शहर में बुलडोजर दौड़ते हैं तो यही हथ्र होता है। खुद इलाहाबाद शहर के भाजपा सांसद श्यामाचरण गुप्त योगी सरकार पर हमलावर होते हुए आरोप लगाते हैं। कहते हैं कि इस पूरी प्रक्रिया में जनप्रतिनिधियों की घोर उपेक्षा की गई है। शहर के सुंदरीकरण और कुंभ की सारी योजना सिर्फ मंत्रियों और अधिकारियों के साथ बनाई गई, जन प्रतिनिधियों से न तो कोई राय ली गई, न ही उन्हें किसी योजना में शामिल किया गया है, और न ही उनके पास कोई अधिकार है। किसी की कोई शिकायत है, तो हम उसे सुनकर उसका निवारण तक नहीं करा सकते।''

वहीं तीस नवंबर की डेडलाइन खत्म हो जाने के बाद दिसंबर के पहले सप्ताह में एक

जनहित याचिका की सुनवाई के दौरान हाईकोर्ट ने सख्त टिप्पणी करते हुए कहा, “क्या राज्य सरकार कार्यों की मॉनिटरिंग नहीं कर रही है? जिस तरह से काम हो रहा है, कुंभ मेले तक इसके पूरा होने की उम्मीद नहीं दिखती, पूरा शहर धूल के गुबार से भरा हुआ है।”

बता दें कि इलाहाबाद शहर का कोई क्षेत्र, कोई इलाका, कोई मोहल्ला, कोई मुख्य सड़क तोड़-फोड़ से अछूती नहीं है। बैरहना, रामबाग, लीडर रोड, हिम्मतगंज, करौली, खुल्दाबाद, तेलियरगंज, रेलवे स्टेशन से मुख्य शहर को जाने वाली सड़क लीडर रोड, जॉनसेनगंज और दारागंज जैसे शहर का सबसे व्यस्ततम बाजार और चैराहे उजाड़ और वीरान हो चुके हैं। कुंभ मेला क्षेत्र के बेहद करीब दारागंज मोहल्ले में कई लोगों के तो पूरा घर ही तोड़-फोड़ और सौंदर्यीकरण की भेंट चढ़ चुके हैं। पूरे शहर में नुची नुचाई खड़ी हजारों दुमहला, तिमहला, चौमहला इमारतें कुंभ और सौंदर्यीकरण को मुंह चिढ़ा रही हैं।

इलाहाबाद जैसे छोटे नगर अब तक अपनी मिट्टी की गमक और हरियाली बचाए हुए थे। लेकिन कुंभ मेले के बहाने प्रयागराज में स्मार्ट सिटी योजना और पूरे शहर का सुंदरीकरण का काम हुआ। सड़कों के चौड़ीकरण के बहाने वृक्षों को अंधाधुंध काटा गया और हरे भरे पूरे नगर को उजाड़ कर हरियाली-विहीन कर दिया गया। जबकि कई-कई पेड़ तो चौक, चौराहों, स्थानों की पहचान हुआ करते थे। इसके अलावा सैकड़ों वर्ष पुराने कई मंदिरों को भी तोड़ डाला गया। तेलियरगंज, बैरहना, दारागंज, सिविल लाइंस, हिम्मतगंज, खुल्दाबाद समेत मुख्य मार्गों पर स्थित शायद ही कोई मोहल्ला हो जहां धर्म स्थल न दहाए गए हों। शहरों में खुदाई के चलते पूरा शहर कीचड़ का तालाब बना हुआ है।

### हजारों लोगों के सामने कमाने-खाने का संकट

हजारों ठेले-रेहड़ी वाले बेरोजगार हुए हैं। कई मार्केट पूरी तरह उजाड़ दिए गए हैं। स्वामी विवेकानंद मार्ग, लीडर रोड, खुसरो बाग से, अल्लापुर रोड, पटेल चौक, अलोपीबाग रोड चौड़ी होने के साथ-साथ सड़क किनारे,

फुटपाथ पर दुकान लगाने वालों से भी रहित हुए हैं। इससे हजारों फुटकर दुकानें बंद हो गई हैं। लोगों के सामने कमाने-खाने और परिवार पालने का संकट पैदा हो गया है। पीड़ित लोगों का आरोप है कि उनके घर जबरन खाली करवा कर गिराए गए और किसी तरह का कोई मुआवजा भी नहीं दिया गया। सरकारी दावों के विपरीत बड़ी संख्या में ऐसे लोग भी हैं जिनके वैध मकान और मकान के हिस्से भी तोड़े गए हैं। जिनके वैध मकान गिरे हैं, वो विरोध में अपनी आवाज बुलंद किए हुए आरोप लगा रहे हैं कि प्रशासन उन्हें हर स्तर पर डराने और धमकाने का प्रयास कर रहा है।

### प्राकृतिक सुंदरता छीनकर बाजार के कृत्रिम रंगों में रंगा-चुंगा शहर

बाजार की जरूरी शर्तों को कुंभ मेले में पूरी करने की पूरी कोशिश की गई है। बाजारवादी मुनाफे के मद्देनजर खपत की पूरी गुंजाइश पैदा की गई है। पेड़ों को भी रंगने की जरूरत जहां आन पड़े वहां बाजार के दबाव को साफ महसूस किया जा सकता है। परेडग्राउंड जहां कुंभ का बाजार सजता है और उसके आस पास के क्षेत्रों की सरकारी इमारतों, बचे-खुचे पेड़ों, क्रिस्चन कॉलेज, डीएवी संगम के आस पास के सारी बिल्डिंग और पुलों पर पेंटिंग करवाई गई है। एडीसी, सीएमपी, समेत कई कॉलेजों पर तो भगवान के चित्र पेंटिंग करवाए गए हैं। सिर्फ पेंटिंग करवाने में 100 करोड़ रुपए से ज्यादा खर्च किए गए हैं। जबकि कुंभ मेले के आस-पास के क्षेत्रों के सौंदर्यीकरण के लिए 36 सौ करोड़ रुपए का बजट है।

### धर्म को धंधे में तब्दील करने की जुगत

कुंभ मेले की ब्रांडिंग पर कुल चार हजार दो सौ करोड़ रुपए की बड़ी रकम खर्च की जा रही है। देश के 6 लाख गांव के देशी और 192 देशों के विदेशी पर्यटकों को कुंभ में लाने के लिए ‘चलो कुंभ चलो’ अभियान चलाया जा रहा है। इसके लिए टीवी, अखबार में लगातार विज्ञापनों पर भी बड़ी रकम खर्च की जा रही है। जबकि 2001 के कुंभ मेले में होटल खोले जाने का संत समाज द्वारा जोरदार विरोध हुआ था और होटल को बंद करा दिया गया था। पर 2018

में हालात बदल गए हैं। मूर्तियों के निर्माण से लेकर एक महीने के लिए गंगा किनारे अस्थायी शहर बसाने जैसे तमाम उपक्रमों के जरिए धर्म में बाजार के लिए पूरी संभावना पैदा कर दी गई है। कुंभ जैसे विशुद्ध धार्मिक आयोजन में कॉरपोरेट का इतना इंट्रेस्ट लेना बेमतलब तो नहीं है। सदियों से अब तक तो लोग सिर्फ गंगा और संगम नहाने और कल्पवास करने का उद्देश्य लिए ही इलाहाबाद शहर आते रहे हैं। लेकिन अब योगी सरकार प्राचीन वेणी माधव मंदिर, भारद्वाज आश्रम, अक्षयवट, सरस्वती कूप में लोगों के लिए पूजा-अर्चना की व्यवस्था और शुरुआत करके पूरे शहर को ही मुनाफा पैदा करने वाले धार्मिक पर्यटन स्थल में तब्दील करने के एजेंडे पर आगे बढ़ती दिख रही है।

### ‘मुक्ति’ के लिए ‘पाप’ का प्रमोशन

लोकतंत्र में पंथनिरपेक्ष राज्य का काम धार्मिक आयोजन करना और ऐसे आयोजनों को प्रमोट करना नहीं होता। सत्ता का काम ऐसे धार्मिक आयोजनों की प्रशासनिक व्यवस्था संभालना भर होता है। पर यहां तो सरकार ही आयोजक बन बैठी है। कुंभ के बहाने देश-विदेश में हिंदुत्व की खुल्लम-खुल्ला ब्रांडिंग कर रही है। लोगों में तमाम सरकारी विज्ञापनों के जरिए एक पापबोध पैदा किया जा रहा ताकि वो अपनी पापमुक्ति के लिए गंगा और गंगा के बहाने खड़े बाजार तक जाएं।

जितनी कर्मठता और समर्पण के साथ सरकार गंगा में पाप धुलो अभियान चला रही है, गर गंगा की सफाई के लिए बनी परियोजना ‘नमामि गंगे’ में भी सरकार ने इतना उत्साह दिखाया होता तो गंगा के साथ-साथ पर्यावरण का भी कल्याण हो गया होता। और तो और प्रो. जीडी अग्रवाल (स्वामी ज्ञान स्वरूप सानंद) को भी गंगा की सफाई के लिए अपने प्राण न गंवाने पड़ते। ‘गंगे तव दर्शनात् मुक्ति’ का टैगलाइन आपको संगम तट पर हर ओर देखने को मिल जाएगी। गंगा में पाप धुलने के प्रमोशन के बजाय अगर सरकार ने गंगा की सफाई में लोगों को योगदान करने का आह्वान करके मुहिम चलाई होती तो गंगा भी गंदगी-मुक्त हो जाती।

## सिगरेट के पैकेट की तरह क्यों नहीं दी जा सकती गंगा के हानिकारक होने की चेतावनी

राष्ट्रीय हरित अधिकरण (एनजीटी) ने गंगा नदी की स्थिति पर नाराजगी जताते हुए जुलाई 2018 में कहा कि हरिद्वार से उत्तर प्रदेश के उन्नाव शहर के बीच गंगा का जल पीने और नहाने योग्य नहीं है। एनजीटी ने कहा, 'मासूम लोग श्रद्धा और सम्मान से गंगा का जल पीते हैं और इसमें नहाते हैं। उन्हें नहीं पता कि यह उनके स्वास्थ्य के लिए खतरनाक हो सकता है। अगर सिगरेट के पैकेटों पर यह चेतावनी लिखी हो सकती है कि यह 'स्वास्थ्य के लिए घातक' है, तो लोगों को नदी के जल के प्रतिकूल प्रभावों के बारे में जानकारी क्यों नहीं दी जाए? एनजीटी प्रमुख एके गोयल की अध्यक्षता वाली पीठ ने कहा था, 'हमारा नजरिया है कि महान गंगा के प्रति अपार श्रद्धा को देखते हुए, मासूम लोग यह जाने बिना इसका जल पीते हैं और इसमें नहाते हैं कि जल इस्तेमाल के योग्य नहीं है। गंगाजल का इस्तेमाल करने वाले लोगों के जीवन जीने के अधिकार को स्वीकार करना बहुत जरूरी है और उन्हें जल के बारे में जानकारी दी जानी चाहिए।'

इतना ही नहीं, एनजीटी ने राष्ट्रीय स्वच्छ गंगा मिशन को सौ किलोमीटर के अंतराल पर डिस्पले बोर्ड लगाने का निर्देश दिया था ताकि यह जानकारी दी जाए कि जल पीने या नहाने लायक है या नहीं। इसके अलावा एनजीटी ने गंगा मिशन और केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड को अपनी वेबसाइट पर एक मानचित्र लगाने का निर्देश दिया था जिसमें लोगों को बताया जा सके कि किन स्थानों पर गंगा का जल नहाने और पीने लायक है।

**कई वर्षों से लगातार इलाहाबाद में साधु-संत करते आए हैं गंगा-स्नान का बहिष्कार** प्रदूषण के चलते गंगा के बदले हुए रंग और अपर्याप्त जल को लेकर विगत कई वर्षों से लगातार कल्पवास के दौरान साधु-संत-संन्यासी गंगा स्नान का बहिष्कार करते आए हैं। साधु-संतों द्वारा बहिष्कार की घोषणा करना लगातार चर्चा का विषय बना रहा है। अगले साल सब ठीक होने की गोली देकर शासन-प्रशासन अपने स्तर पर उन्हें समझाता-बुझाता भी रहा है। लेकिन नतीजे हर साल सुधरने के बजाय और बिगड़ते चले गए।

यहां ध्यान देने की एक बात यह भी है कि साल 2018 के जून महीने में रसूलाबाद घाट पर पीएच की मात्रा 8.31, डिजॉल्व ऑक्सीजन (डीओ) की मात्रा 9 मिग्रा. प्रति लीटर और बीओडी (बायोकेमिकल ऑक्सीजन डिमांड) की मात्रा 3.8 मिग्रा. प्रति लीटर थी। शास्त्री ब्रिज के पास पीएच 8.42, डीओ 8.8 और बीओडी 4.5, संगम पर पीएच 8.28, डीओ 8.7, बीओडी 4.2, छतनाग घाट पर पीएच 8.22, डीओ 8.5 और बीओडी 3.7 थी। जो बारिश के बाद जुलाई में घटकर रसूलाबाद में पीएच 8.20, डीओ नौ, बीओडी 3.7, शास्त्री ब्रिज के समीप पीएच 8.25, डीओ 8.8, बीओडी 4.2, संगम पर पीएच 8.31, डीओ 8.4 और बीओडी 3.4, छतनाग में पीएच 8.14, डीओ 8.2 और बीओडी की मात्रा 3.7 है। बता दें कि बीओडी की सामान्य मात्रा तीन मिग्रा. प्रति लीटर होती है, जबकि 250 सीओडी सामान्य मात्रा होती है। इसका मतलब गंगा में रहने वाले जंतुओं के लिए सांस लेने में दिक्कत बढ़ती जाती है। यदि कोई व्यक्ति उसमें खड़ा भी होता है तो उसकी त्वचा को नुकसान पहुंचेगा।

### गंगा से मांगो सरकार से नहीं

इतने बड़े और सरकारी स्तर पर धार्मिक आयोजनों के पीछे समाज को प्रतिगामी, चेतनाहीन, विवेकशून्य और भाग्यवादी बनाए रखने की भी एक मंशा होती है। कुंभ में इतना पैसा इन्वेस्ट करने के पीछे सरकार की मंशा स्पष्ट है कि वो जनता के दुख दारिद को खत्म करने के लिए कुछ नहीं करेगी। इसका ठेका तो गंगा मैथ्या के पास है। सरकार तो ऐन-केन-प्रकारेण आपको प्रयागराज के संगम तट तक खींच-खांच कर पहुंचा देगी। अब ये आप और आपकी आस्था पर निर्भर करता है कि आप अपना कितना दुख दारिद गंगा को सौंप सकते हैं।

‘चंवर जमुन अरु गंग तरंगा।

देखि होहिं दुख दारिद भंगा’ ॥

हालांकि मुख्य नहावनों (स्नान पर्वों) पर आम आदमी संगम तट तक पहुंच भी पाएगा कि नहीं इस बात में गहरा संदेह है। सामान्य और क्षेत्रीय भीड़ को मुख्य मेले से बाहर रखने और बाहर ही बाहर शहर से बाहर निकाल देने के लिए कई घाट और पीपा पुल के जरिए बाईपास रास्ते बनाए गए हैं। ■

## अगर आप छात्र हैं समयांतर की विशेष छूट लाभ उठाएं !

► **समयांतर मनोरंजन की पत्रिका** नहीं है और न ही यह विषयों को मनोरंजक ढंग से प्रस्तुत करने में विश्वास रखती है।

► यह राजनीति, मानविकीय, विज्ञान, समाज, साहित्य और संस्कृति के बारे में अद्यतन जानकारी के अलावा उनका विश्लेषण प्रस्तुत करती है।

► यह जानकारी आपको सिर्फ परीक्षाओं में ही मदद नहीं करती बल्कि प्रतियोगिताओं और व्यवसाय के लिए तैयारी करने में विशेष रूप से सहायक साबित होती है।

► **समयांतर हिंदी की अकेली ऐसी पत्रिका** है जो विद्यार्थियों को विशेष छूट देती है।

► इस के तहत छात्रों को (प्रमाणपत्र प्रस्तुत करने पर) वार्षिक और द्विवार्षिक चंदे में 40 प्रतिशत की अतिरिक्त छूट दी जाती है। आवश्यक जानकारी पृष्ठ 4 पर देखें।

वार्षिक ग्राहक बनिए और घर बैठे पत्रिका प्राप्त करिये।

### व्यवस्थापक समयांतर

79-ए दिलशाद गार्डन  
दिल्ली - 110095

# भारत में गणतंत्रवाद के मायने

चंद्र प्रकाश झा

*विश्व के अधिकतर देश, गणराज्य होने का दावा करते हैं। पर माना जाता है कि वे बहुत हद तक 'गणराज्यवाद' से वंचित हैं। अमेरिका के संविधान पर बेंजामिन फ्रैंकलिन की यह उक्ति अक्सर उद्धृत की जाती है कि, 'एक गणराज्य अगर आप रख सकें तो, ' यह उक्ति घोषित गणतंत्र के सामर्थ्य ही नहीं उसके इरादे को भी रेखांकित करती है। कहा जाता है कि गणराज्य का गठन आसान है, लेकिन उसे बरकरार रखना कठिन है।*

**स्व**तंत्र भारत का संविधान पूर्णरूपेण 26 जनवरी 1950 को लागू किया गया था, जिसे 'भारत के लोग' यानि उसके हम नागरिक अपना गणतंत्र दिवस कहते हैं। जाहिर है कि यह हर बरस 15 अगस्त को मनाये जाने वाले हमारे स्वतंत्रता दिवस से भिन्न है। क्यों भिन्न है? इसे समझने के लिए स्वतंत्रता एवं गणराज्य की अवधारणा को समझना होगा। मोटे तौर पर इन दोनों दिवस में जो भिन्नता है, उसके मूल में भारत का संविधान है जिसे देश की आजादी हासिल होने के बाद तैयार करने और फिर लागू करने में समय लगा।

ब्रिटिश शासन से स्वतंत्रता प्राप्ति के 894 दिन बाद भारत को गणराज्य घोषित किया गया। 26 जनवरी 1950 को दिल्ली के तत्कालीन इर्विन स्टेडियम में भारतीय संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने 21 तोपों की सलामी के बीच प्रथम राष्ट्रपति के रूप में शपथ ग्रहण करने उपरांत राष्ट्रीय ध्वज को फहराकर भारतीय गणतंत्र के प्रादुर्भाव की घोषणा की थी। तब से हर वर्ष इस दिन पूरे देश में गणतंत्र दिवस के रूप में 'गर्व एवं हर्षोल्लास' के साथ मनाया जाता रहा है। 31 दिसंबर 1929 की मध्य रात्रि में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर सत्र के दौरान भारत को स्वतंत्र बनाने का संकल्प लिया गया था। इस सत्र की अध्यक्षता पंडित जवाहरलाल नेहरू ने की थी। सत्र में उपस्थित सभी प्रतिनिधियों ने ब्रिटिश शासन से पूर्णरूपेण स्वतंत्र भारत के स्वप्न को साकार करने के लिए 26 जनवरी 1930 को

'स्वतंत्रता दिवस' के रूप में मनाने की शपथ ली थी। भारतीय संविधान सभा की पहली बैठक 9 दिसंबर 1946 को हुई। इसमें भारतीय नेताओं और ब्रिटिश शासकों के 'कैबिनेट मिशन' के प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया। भारत को संविधान प्रदान करने के विषय में विमर्श शुरू हुआ जिसमें कई संस्तुतियां सामने आईं। अनेक संशोधन के पश्चात भारतीय संविधान को अंतिम रूप दिया गया जो तीन वर्ष बाद यानी 26 नवंबर 1949 को आधिकारिक रूप से अपनाया गया। वैसे तो भारत 15 अगस्त 1947 को ही एक स्वतंत्र राष्ट्र बन चुका था। पर इस स्वतंत्रता की सच्ची भावना को 26 जनवरी 1950 को ही अभिव्यक्त किया जा सका। यह अभिव्यक्ति भारत के एक गणतंत्र के रूप में अपने संविधान को प्रभावी कर प्रकट की गई। मौजूदा संविधान में भले ही अब तक एक सौ से भी अधिक संशोधन किए जा चुके हैं, पर उसका मूल चरित्र बरकरार है जिसे पलटना असंभव नहीं तो आसान भी नहीं है।

विश्व के अधिकतर देश, गणराज्य होने का दावा करते हैं। पर माना जाता है कि वे बहुत हद तक 'गणराज्यवाद' से वंचित हैं। अमेरिका के संविधान पर बेंजामिन फ्रैंकलिन की यह उक्ति अक्सर उद्धृत जाती है कि, 'एक गणराज्य अगर आप रख सकें तो'। यह उक्ति घोषित गणतंत्र के सामर्थ्य ही नहीं उसके इरादे को भी रेखांकित करती है। कहा जाता है कि गणराज्य का गठन आसान है, लेकिन उसे बरकरार रखना

कठिन है। इंडियन एक्सप्रेस के 26 जनवरी 2018 के अंक में सुहास पलिशकर के आलेख में इंगित किया गया है कि भारत के गणराज्य दिवस के उपलक्ष्य में राजधानी नई दिल्ली में आयोजित की जाने वाली परेड में भारतीय संस्कृति के साथ-साथ सैन्य बल के प्रदर्शन पर जोर होता है। भारत के संस्थापकों ने गणराज्यवादी संविधान प्रदान करते हुए आशा की होगी कि गणराज्य के लाभार्थी उन नागरिक गुणों को विकसित करेंगे जो गणराज्यवाद की जड़ें मजबूत करेंगे। भारतीय संविधान के मुख्य रचयिताओं में शामिल बाबासाहब भीमराव आंबेडकर ने आगाह किया था कि 'कोई भी संविधान कितना भी अच्छा क्यों न हो उसका बुरा साबित होना तय है क्योंकि इस पर जिनको काम करने का मौका दिया जाता है वे अच्छे नहीं हैं'। उन्होंने अपने इस कथन में निर्वाचित प्रतिनिधियों अथवा शासकों को ही नहीं बल्कि लोगों को नागरिकों में परिणत करने की वांछित प्रक्रिया की अपूर्णता को भी संदर्भित किया लगता है। इसलिए राजसत्ता की शक्ति के गौरव की उद्धोषणाओं और सेलिब्रेशन के बीच गणतंत्र दिवस यह भी ताकीद करता है कि लोग कमजोर गणतंत्रवादी राजनीति एवं संस्कृति का आंतरिक परीक्षण भी करें, जो गणतंत्र के औपचारिक शृंगार को नुकसान पहुंचाता है। इन कमजोरियों में लोकतंत्र की विकृतियां सर्वोपरि हैं, जिनमें बहुसंख्यकवाद शामिल है।

मई 2014 में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में केंद्र में बनी सरकार का पांच वर्ष का कार्यकाल पूरा होने में अब ज्यादा समय नहीं बचा है। मौजूदा संवैधानिक प्रावधानों के तहत मई 2019 से पहले नई लोक सभा के गठन के लिए चुनाव कराने की अनिवार्यता है, जो 17 वीं लोकसभा होगी। सरकार चाहे तो लोक सभा का निर्धारित कार्यकाल पूरा होने के पहले भी नया चुनाव कराने की संस्तुति कर उसके लिए राष्ट्रपति से निर्वाचन आयोग को आदेश जारी करवा सकती है। लेकिन निर्धारित कार्यकाल पूरा हो जाने के बाद भी नया चुनाव स्थगित करना सरकार के अधिकार क्षेत्र में नहीं है। मोदी जी अक्सर अपने स्वप्न का 'न्यू इंडिया' बनाने की बात कहते हैं। इसका निर्माण 2019 तक तो नहीं ही हो सकता है।

जाहिर है, मोदी जी अपने मौजूदा शासन काल से आगे की बात सोच और कह रहे हैं। इसका अवसर उन्हें मिलेगा या नहीं, यह अगला चुनाव ही तय करेगा। लेकिन क्या यह भी हो सकता है कि वह नया चुनाव कराए बिना और नए जनादेश के बगैर भी सत्ता में बने रहें? उनके शब्दकोष में असंभव – अकल्पनीय कुछ भी नहीं लगता है। राजनीतिक प्रेक्षक मानते हैं कि उन्हें ऐसे बहुत सारे काम पूरे करने हैं जिनके लिए उन्हें प्रधानमंत्री पद पर आसीन किया गया है। कहा जाता है कि इन कार्यों में भारत को 'हिंदू-राष्ट्र' घोषित करने की जमीन तैयार करना भी शामिल है। इस कार्य में मौजूदा संविधान बाधक है। मौजूदा संविधान में कहीं भी न्यू इंडिया का जिक्र नहीं है। संविधान सभा द्वारा 26 नवंबर 1949 को पारित और 26 जनवरी 1950 से पूर्ण बल से लागू संविधान की प्रस्तावना और कालांतर में उसके विधि – सम्मत संशोधन में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि 'इंडिया दैट इज भारत', संप्रभुता – संपन्न, समाजवादी, धर्म – निरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणराज्य है।

यह छिपी हुई बात नहीं है कि भारतीय जनसंघ और उसकी उत्तरवर्ती भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) जिस राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) को अपनी 'मातृ संस्था' कहती है, उसे भारत का यह मौजूदा संविधान कभी रास नहीं आया। ऐतिहासिक तथ्य है कि आरएसएस का भारत के स्वतंत्रता संग्राम में कभी भी सांगठनिक योगदान नहीं रहा। उसने संविधान निर्माण के समय भी उसके मूल स्वरूप का विरोध किया था। उसके स्वयंसेवकों ने स्वतंत्र भारत का संविधान बनने पर उसकी प्रतियां जलाई थीं। आरएसएस को भारत के संविधान की प्रस्तावना में शामिल सेक्यूलर (धर्मनिरपेक्ष / पंथनिरपेक्ष) पदबंध नहीं सुहाता है। उसके अनुसार धर्मनिरपेक्ष शब्द मात्र से भारत के धर्मविहीन होने की 'बू' आती है, जबकि यह जनसंख्या के आधार पर हिंदू धर्म – प्रधान देश है। आरएसएस का राजनीतिक अंग मानी जाने वाली भाजपा का हमेशा से यही कहना रहा है कि आजादी के बाद से सत्ता में रहे अन्य सभी दलों खासकर कांग्रेस ने वोट की राजनीति कर अल्पसंख्यक मुसलमानों का तुष्टीकरण किया है और हिंदू हितों की घोर उपेक्षा की है, जिसका एक उदाहरण हिंदुत्वर्षियों द्वारा छह दिसंबर 1992

को अयोध्या में ध्वस्त कर दी गई बाबरी मस्जिद की जगह राम मंदिर के निर्माण में विद्यमान राजनीतिक – सांविधिक अवरोध हैं। विश्व के एकमेव हिंदू राष्ट्र रहे पड़ोसी नेपाल में जबर्दस्त जन – आंदोलन के बाद राजशाही की समाप्ति के उपरांत अपनाए नए संविधान में इस हिमालयवर्ती देश को धर्मनिरपेक्ष घोषित किए जाने के प्रति आरएसएस और मोदी सरकार की खिन्नता छुपाए छुप नहीं सकी। मोदी सरकार ने इसके प्रतिकार के रूप में कुछ वर्ष पहले नेपाल की कई माह तक अधोषित आर्थिक नाकाबंदी कर दी थी। भाजपा किसी भी देश को इस्लामी घोषित किए जाने से चिढ़ती है और साफ कहती है कि उसे 'मजहबी राष्ट्र' का सिद्धांत मंजूर नहीं है। फिर भी, भाजपा समेत आरएसएस के सभी आनुषांगिक संगठन भारत को हिंदू राष्ट्र घोषित करने के पक्षधर रहे हैं। मोदी जी का न्यू इंडिया, आरएसएस के सपनों के हिंदू-राष्ट्र का ही एक भ्रामक सर्वनाम है, जिसकी सारी परतें प्याज के छिलकों की तरह खुलने में समय लगेगी।

न्यू इंडिया के लिए नया संविधान बनाने की मोदी जी की मंशा की स्पष्ट झलक 2018 के गणतंत्र दिवस की पूर्व संध्या पर 'एक राष्ट्र एक चुनाव' के उनके नए जुमले से भी मिली। इसकी व्याख्या यह है कि लोकसभा और देश की सभी विधान सभाओं के चुनाव एक ही साथ करा लिए जाएं ताकि विभिन्न राज्यों में अलग – अलग चुनाव न कराना पड़े, चुनाव कराने के राजकीय खर्च में कमी हो और सरकारें चुनावी दबाव में लोक – लुभावन पग उठाने के चक्कर से बच कर 'स्थिरता' से राजकाज चला सके। मोदी जी के इस जुमला के प्रति शुरुआती समर्थन व्यक्त करने वालों में निर्वाचन आयोग और नीति आयोग भी शामिल थे। निर्वाचन आयोग ने कह दिया कि वह इसके लिए तैयार है। आधिकारिक आंकड़ों के अनुसार लोकसभा चुनाव कराने पर राजकीय खर्च प्रति मतदाता 2014 में 17 रुपए पड़ा था। लेकिन गौरतलब है कि तब मुख्य निर्वाचन आयुक्त रहे ओम प्रकाश रावत ने इस पद से अपनी सेवानिवृत्ति के अगले ही दिन मीडिया के साथ भेंटवार्ता में स्पष्ट कह दिया कि यह कदम और भी खर्चीला और अव्यावहारिक होगा। उन्होंने बताया कि चुनाव कराने के लिए निर्वाचन आयोग के पास अभी 17 लाख

ईवीएम हैं। सभी चुनाव एकसाथ कराने के लिए 34 लाख ईवीएम की खरीद की दरकार होगी। सभी चुनाव एकसाथ कराने पर खरीदे ईवीएम पांच बरस तक पड़े रहेंगे। इस तरह से एकसाथ चुनाव में वित्तीय संसाधन की बचत के बजाय नुकसान ही होगा। बहरहाल, उन्होंने यह भी बता दिया कि निर्वाचन आयोग ने चुनावों के बारे में मौजूदा वैधानिक प्रावधानों में बदलते समय के अनुरूप समुचित परिवर्तन लाने के लिए विधि मंत्रालय के विचारार्थ एक मसौदा तैयार करने का काम भी शुरू किया है।

इस तथ्य को पुरजोर तरीके से रेखांकित किया जाना चाहिए कि भारत एक संघ-राज्य है जिसके सभी राज्यों की विधानसभाओं के चुनाव, केंद्र की विधायिका के निम्न सदन, लोकसभा के चुनाव के साथ ही कराने की अनिवार्यता का कोई संवैधानिक प्रावधान ही नहीं है। संविधान के रचनाकारों ने 'एक व्यक्ति, एक वोट, एक समान मूल्य' के सिद्धांत को अपनाया। उनके पास स्वतंत्र भारत की पहली लोकसभा के साथ ही सभी राज्यों को विधानसभाओं के भी चुनाव संपन्न कराने की व्यवस्था का प्रावधान करने का विकल्प खुला था। पर उन्होंने संघ-राज्य, भारत में संवैधानिक लोकतंत्र की आवश्यकताओं के मद्देनजर बहुत सोच – समझ कर केंद्र के केंद्रीयतावाद की संभावित प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना और राज्यों के संघीयतावाद को प्रोत्साहित करना श्रेयस्कर माना।

कुछ माह पहले राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक मोहन भागवत का दिया यह बयान कि आरएसएस चंद्र मिनट में अपनी फौज खड़ी कर लेगा, सांविधिक राजकाज में खुरपेंच है। उन्होंने बहुत सोच – समझ कर ही यह बयान दिया होगा। वह भली भांति जानते हैं कि आरएसएस के दीर्घकालिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसके पास मोदी-राज संभवतः अंतिम मौका है। वह इस बात से भी अवगत हैं कि मोदी सरकार के हाथ से समय रेत की तरह फिसला जा रहा है और जिस लंपट पूंजीवाद के धनबल पर मोदी-राज कायम हुआ वह हवा के एक झोंके भर से उसी तरह खत्म भी हो सकता है जिस तरह ताश के पत्तों के बनाए महल जरा – सी फूंक से बिखर जाते हैं। भागवत जी के बयान से उनके कई दर्प साफ झलकते हैं। ये दर्प हैं, कि आरएसएस के पास, भारत सरकार की आधिकारिक सेना के

समानांतर एक हथियारबंद सेना मौजूद है, कि भारतीय सेना से ज्यादा अनुशासन संघ की सेना में है, कि भारत सरकार की सेना जंग की तैयारी करने में छह महीने लेगी जबकि आरएसएस के स्वयंसेवकों को ऐसा करने में महज तीन दिन लगेंगे। बेशक आरएसएस ने बाद में भागवत जी के बयान को मीडिया में तोड़-मरोड़कर पेश किया गया बताकर लोगों का ध्यान आरएसएस की गुप्त रणनीति से हटाने की कोशिश की है। पर कुछ सवाल तो खड़े हो ही गए हैं कि भारत की फौज से बड़ी कोई निजी फौज देश में कैसे हो सकती है? क्या आरएसएस को भारतीय सेना पर भरोसा नहीं है? क्या कोई गृहयुद्ध की तैयारी चल रही है? मोदी सरकार इस पर चुप क्यों है? क्या मोदी सरकार सिर्फ मुखौटा है? और क्या आरएसएस भारत की राजसत्ता की बागडोर कभी खुद ही संभाल सकता है? आरएसएस को सैद्धांतिक रूप से भारत का संविधान सहज - स्वीकार्य नहीं लगता है। भागवत जी के बयान से लगता है कि आरएसएस को सेना का बेजा इस्तेमाल करने में मौजूदा संविधान अड़चन लगता है। इसलिए मोदी सरकार पर संविधान पलटने का दबाव है। यह रेखांकित करना जरूरी है कि जिन्हे आरएसएस के बारे में समुचित प्रामाणिक जानकारी नहीं है वही इसकी स्थापना के 93 बरस बाद भागवत जी के खुल्लम-खुल्ला बयान से चौंक सकते हैं। वर्ष 2025 में आरएसएस की स्थापना की शताब्दी जयंती है। संकेत हैं कि वह चाहता है कि तब तक भारत, विधिवत हिंदू राष्ट्र घोषित कर दिया जाए।

गौरतलब है कि जब नाजी हिटलर के घोर दमनकारी और फासीवादी राजकाज का दुनिया भर में प्रतिरोध शुरू हुआ, तब आरएसएस के द्वितीय सरसंघसंचालक, सदाशिवराव माधवराव गोलवलकर ('गुरु जी') ने अंग्रेजी में 'वी एंड आवर नेशनहुड डिफाईंड' शीर्षक से एक पुस्तक लिखी थी। इसमें स्पष्ट लिखा है कि भारत के हिंदुओं को हिटलर से सबक सीखनी चाहिए। आरएसएस ने अपने गुरु गोलवलकर की इस पुस्तक से कभी पल्ला नहीं झाड़ा है। पर उसने इस पुस्तक का ज्यादा प्रकाशन और प्रचार करने से पीछे हटना, बल्कि छुपा देना ही रणनीतिक कारणों से श्रेयष्कर समझा।

दिल्ली के एक्टिविस्ट, शम्शुल इस्लाम ने

उक्त पुस्तक की मूल प्रति ढूंढ कर उसके स्कैन किए पन्नों को ज्यों का त्यों समावेश कर 'गुरु जी' की बातों की पोल खोलने वाली एक नई पुस्तक लिख डाली जो अमेज़ॉन से कोई भी खरीद सकता है। 'वी एंड आवर नेशनहुड डिफाईंड' पुस्तक पहली बार 1939 में छपी थी। कुछ लोग इसे आरएसएस का बाइबिल कहते हैं। इस पुस्तक से और आरएसएस की गतिविधियों पर गौर करने से स्पष्ट हो जाता है कि उसके लिए 'हिंदू' का मतलब ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था और 'राष्ट्र' का मतलब 'मनुवादी फासीवाद' है। एक बात साफ है कि वह कोई सांस्कृतिक संगठन नहीं है। उसके उद्देश्य राजनीतिक हैं। समाज सेवा और एकात्म मानववाद के उसके घोषित लक्ष्य महज जुमले हैं। आरएसएस ने खुद भी अपने राजनीतिक उद्देश्य काफी हद तक सबके सामने रख दिए हैं। यह उद्देश्य है हिंदुस्तान को 'हिंदू राष्ट्र' बनाना। पर, 'हिंदू' और 'राष्ट्र' का उसका वह मतलब नहीं है जो आम लोग समझते हैं।

आरएसएस की स्थापना 1925 में के. बी. हेडगेवार ('डॉक्टर जी') ने की थी। पर उसे वैचारिक एवं संगठनिक आधार 'गुरु जी' ने ही प्रदान किया। आरएसएस की स्थापना महाराष्ट्र में ब्राह्मणवाद के खिलाफ सशक्त आंदोलनों की प्रतिक्रिया में सवर्ण जातियों द्वारा हिंदू के नाम पर अपना प्रभुत्व बहाल करने के लिए की गई थी। ये आंदोलन 1870 के दशक में ज्योतिबा फुले के नेतृत्व में 'पिछड़ी' जातियों ने और 1920 के दशक में बाबासाहब डा. भीमराव आंबेडकर की अगुवाई में दलितों ने छेड़े थे। ये महज संयोग नहीं कि आरएसएस के अब तक के सभी प्रमुख, महाराष्ट्र के चितपावन ब्राह्मण रहे हैं। बाद में 1994 में एक गैर-ब्राह्मण, लेकिन सवर्ण ही (ठाकुर / क्षत्रीय), राजेंद्र सिंह उर्फ रज्जू भैया आरएसएस के चौथे प्रमुख बने जो उत्तर प्रदेश के थे।

आरएसएस के वैचारिक आधारों पर और बात करने से पहले उसके सांगठनिक तंत्र को समझ लेना अच्छा रहेगा। आरएसएस के 'अखिल भारतीय सह - बौद्धिक प्रमुख कौशल किशोर की' प्रेरणा 'से 1992 में' लक्ष्य एक कार्य अनेक' नाम की एक पुस्तक छपी। इसके अनुसार आरएसएस के नियंत्रण में अखिल भारतीय स्तर के 25 और प्रांतीय स्तर

के 35 संगठन हैं। इनमें भारतीय जनता पार्टी, विश्व हिंदू परिषद, भारतीय मजदूर संघ, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद और विद्या भारती प्रमुख हैं। इसी पुस्तक के अनुसार तब देश भर के 25 हजार स्थानों पर आरएसएस की नियमित शाखाएं लगती थीं। पुस्तक वर्ष 1992 की है। जाहिर बात है कि उसके बाद के इन करीब 26 बरस में उनकी संख्या में कई गुना बढ़ोत्तरी ही हुई होगी। बहरहाल, उक्त पुस्तक के अनुसार इन शाखाओं की एक महत्वपूर्ण भूमिका 'राष्ट्र का हिंदूकरण और हिंदुओं के सैन्यकरण' की कार्यनीति को आगे बढ़ाना है। जैसा कि पुस्तक शीर्षक से ही स्पष्ट है आरएसएस के जितने भी संगठन, समितियां और मंच हों, सबका एक अंतिम लक्ष्य है और वह 'हिंदू-राष्ट्र' है। लेकिन हिंदू राष्ट्र में क्या-क्या होगा और क्या-क्या नहीं होंगे यह तय कैसे होगा, कब तय होगा, कौन तय करेगा ऐसे अनगिनत प्रश्न हैं जिनके उत्तर एक झटके में नहीं दिए जा सकते हैं।

भारत के नया संविधान का प्रारूप तैयार करने के लिए मौजूदा संविधान की समीक्षा कर उसे बदलने के लिए आवश्यक विधिक उपायों की संस्तुति करने के वास्ते एक कमेटी बनाने की चर्चा है। आरएसएस के पूर्व प्रचारक एवं सिद्धांतकार और भाजपा के पदाधिकारी रहे के एन गोविंदाचार्य इस काम में लगे हैं। उन्होंने यह स्वीकार भी किया है। उनका कहना है कि मौजूदा संविधान में 'भारतीयता' नहीं है और इसलिए उसकी जगह नया संविधान बने। गौरतलब है कि भारत के संविधान की समीक्षा के लिए पहले भी अटल बिहारी वाजपेयी सरकार के दौरान एक कमेटी बनी थी। पर उसका कोई ठोस नतीजा नहीं निकला।

इसी संदर्भ में, यह उल्लेख करना गैर - मुनासिब नहीं होगा कि अटल बिहारी वाजपेयी सरकार के दौरान ही 1998 में उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री कल्याण सिंह ने, जो अभी राजस्थान के राज्यपाल हैं, भरी विधान सभा में कहा था कि उन्होंने राज्य पुलिस को सारे अपराधियों को 'लिव्विडेट' (सफाया) करने के आदेश दे दिए हैं। विधान सभा के तत्कालीन अध्यक्ष केसरीनाथ त्रिपाठी ने, जो खुद अधिवक्ता रहे हैं और अभी बंगाल के राज्यपाल हैं, मुख्यमंत्री के इस कथन की संवैधानिक वैधता पर खे बगैर सदन की

कार्यवाही के लिखित रेकॉर्ड से नहीं हटाया। भारत के संविधान के तहत जीवन का अधिकार मूलभूत अधिकार है जिसका कार्यपालिका और विधायिका हनन नहीं कर सकती हैं। संविधान के तहत सिर्फ न्यायपालिका को कानून की समुचित प्रक्रियाओं के बाद ही किसी भी नागरिक को दुर्लभतम आपराधिक मामले में किसी को उसके जीवन के अधिकार से वंचित कर मृत्युदंड देने का अधिकार है। कल्याण सिंह सरकार के उक्त प्रकरण का मीडिया और अन्य ने समुचित संज्ञान नहीं लिया। लेकिन कुलदीप नैयर (अब दिवंगत) सरीखे पत्रकार और मानवाधिकारवादियों के इसका विरोध करने के लिए लखनऊ की सड़क पर उतरने के उपरांत इलाहाबाद उच्च न्यायालय की लखनऊ पीठ में एक जनहित याचिका दाखिल की गई। याचिका में सदन को कार्यवाही के लिखित रिकार्ड के साथ-साथ सदन की पत्रकार दीर्घा में अपनी ड्यूटी के लिए उपस्थित इस स्तंभकार की नोटबुक की प्रति भी संलग्न की गई। पत्रकारों के ऐसे नोट्स अदालत में 'मेटेरियल' साक्ष्य के रूप में विचारार्थ दाखिल किए जा सकते हैं। बहरहाल, उच्च न्यायालय की लखनऊ पीठ ने उक्त जनहित याचिका को यह कहते हुए खारिज कर दिया कि कल्याण सिंह को संभवतः पता नहीं होगा कि 'लिव्क्विडेशन' का विधिक अर्थ क्या होता है।

जिस बात पर चर्चा लगभग नहीं होती है, वह यह है कि सभी नागरिकों के कुछेक विधिक अधिकार भारत की स्वतंत्रता के पूर्व से, 26 जनवरी 1950 से पूर्ण बल से लागू संविधान के पहले से, उसकी रचियता संविधान सभा के गठन के पहले से और ब्रिटिश सांविधिक राजतंत्र के करीब दो सौ वर्ष के औपनिवेशिक शासन में ही नहीं, उसके पूर्ववर्ती मुगल बादशाहों के शासन और उनके भी पूर्व के सम्राटों, राजाओं-महाराजाओं आदि के भी राज में थे। नागरिकों ने इनमें से जिसका सर्वाधिक आनंद लिया उसे मोटे तौर पर प्राकृतिक अधिकार कहा जा सकता है। इन अधिकारों का स्वामित्व किसी के पास नहीं है, फिर भी वे भौगोलिक सीमाओं, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, जातीयता, नस्ल, त्वचा के रंग, भाषा-बोली, शारीरिक कद-काठी, आयु, लैंगिक फर्क और

अन्य किसी भी विभाज्यकारी मानदंडों के पर पूरे ब्रह्मांड और उसकी सभी आकाशगंगाओं न सही पृथ्वी ग्रह के सभी जैव, प्राणियों, वनस्पतियों और अजैव पदार्थों के लिए प्राकृतिक रूप से कमोबेश उपलब्ध है। यह दीगर बात है कि पृथ्वी ग्रह के पास प्राकृतिक प्रकाश का अपना कोई स्रोत नहीं है। पृथ्वी के बाशिंदों को प्राकृतिक प्रकाश अपने सौर मंडल से प्राप्त होता है। भारत जैसी भौगोलिक सीमाओं के भीतर सौर ऊर्जा-प्रकाश जितनी प्रचुरता से सहज, सरल, निःशुल्क उपलब्ध है वह उतनी प्रचुरता से सभी भौगोलिक सीमाओं के भीतर उपलब्ध नहीं है। इसलिए उन भौगोलिक सीमाओं के भीतर के बाशिंदों को धूप के सेवन के लिए कुछ धन खर्च कर समुद्र तट पर जाना-रहना पड़ता है। लेकिन कोई भी राष्ट्र-राज्य, सौर ऊर्जा को हथिया नहीं सकता है, ना ही उसको उस तरह से बेचने या नीलाम कर सकता है जिस तरह से भारत समेत कई देशों की सरकारों ने अप्रचुर परिमाण में उपलब्ध ध्वनि तरंग दैर्घ्य (स्पेक्ट्रम) टेलिकॉम कंपनियों को बेचे या नीलाम किए हैं।

भारत का मौजूदा संविधान, नागरिकों के इन प्राकृतिक अधिकारों के प्रति स्वाभाविक रूप से सुस्पष्ट नहीं है। लेकिन भारत के उच्चतम न्यायालय और विभिन्न उच्च न्यायालयों ने भी 2-जी, 3-जी के कथित घोटालों से संबंधित मामलों में ऐसे निर्णय अथवा दिशानिर्देश दिए हैं जो नागरिकों के प्राकृतिक अधिकारों के संरक्षण की आवश्यकता पर जोर देते हैं। जाहिर है कि मानव सभ्यता की प्रौद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप, धूप, हवा और पानी जैसे इन प्राकृतिक अधिकारों के समुचित संरक्षण के लिए संविधान में समुचित संशोधन की आवश्यकता है। इन प्राकृतिक अधिकारों के अलावा नागरिकों के मानवाधिकार हैं जिनका श्रोत संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा 10 दिसंबर 1948 को पारित 'सार्वभौमिक मानवाधिकार' है जिस पर हस्ताक्षर करने वाले देशों में भारत भी शामिल है। ये मानवाधिकार, सारे अधिकारों की जननी है।

लेकिन भारत का संविधान, नागरिकों के उन मूलभूत अधिकारों के प्रति अत्यंत स्पष्ट है जिनका राष्ट्र-राज्य और उसके नागरिकों के बीच जन्मदात्री और उसके शिशु के बीच नाभिनाल जैसा संबंध अथवा अनुबंध है। इस

संबंध और अनुबंध में कार्यपालिका (सरकार) और न्यायपालिका तो क्या विधायिका भी संविधान से इतर की दखलंदाजी नहीं कर सकती है। ये मूलभूत अधिकार, भारत के संविधान के भाग-तीन में आर्टिकल (धारा) 12 से आर्टिकल 35 तक में शामिल, परिभाषित और व्याख्यायित हैं। इंदिरा गांधी सरकार के शासनकाल में 25 जून 1975 को घोषित आंतरिक आपातकाल के दौरान उस सरकार द्वारा 1976 में पेश उस 42 वे संविधान संशोधन विधेयक को विधायिका ने पारित कर दिया था जिनके तहत कुछेक मूलभूत अधिकारों में कटौती कर दी गई, विधायिका द्वारा पारित अधिनियमों की संवैधानिक वैधता की समीक्षा करने के उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों की शक्ति पर अंकुश लगा दिए गए, प्रधानमंत्री कार्यालय को व्यापक अधिकार दे दिए गए, संसद को संविधान के किसी भी भाग में संशोधन करने के लिए प्राधिकृत कर यह प्रावधान कर दिया गया कि इसकी कोई न्यायिक समीक्षा नहीं की जा सकती है।

जब 21 मार्च 1977 को आंतरिक आपातकाल समाप्त घोषित कर दिया गया, तो उसी बरस कराए गए लोकसभा चुनाव के फलस्वरूप बनी मोरारजी देसाई सरकार ने भारत के संविधान को 42वें संविधान संशोधन से पहले की स्थिति में लाने के जनता पार्टी के चुनावी घोषणा-पत्र में किए गए वादे के मुताबिक 43वां और 44वां संविधान संशोधन कर स्थिति बहुत हद तक दुरुस्त कर दी। बाद में, 31 जुलाई 1980 को उच्चतम न्यायालय ने रही-सही कसर पूरी कर 42वें संविधान संशोधन के उन दो प्रावधानों को भी असंवैधानिक करार दे दिया जिसके अनुसार किसी भी संविधान संशोधन की किसी भी आधार पर न्यायिक समीक्षा पर पूर्ण रोक लगा दी गई थी। 42वें संविधान संशोधन की इस विलंबित न्यायिक समीक्षा से निकला संदेश स्पष्ट और जोरदार था कि अगर कार्यपालिका और विधायिका को नागरिकों के मूलभूत अधिकारों में कोई भी कटौती करनी है तो सिर्फ संविधान संशोधन अधिनियम बनाने से काम नहीं चलेगा बल्कि उन्हें नया संविधान बनाना पड़ेगा।

अब सवाल यह है कि भारत का नया संविधान कौन, कैसे बना सकता है। क्या यह मुमकिन है कि मोदी सरकार, न्यू इंडिया का



संविधान रचने हेतु मौजूदा संसद को नई संविधान सभा में परिणत कर दे जिसमें सत्तारूढ़ मोर्चा को लोकसभा में करीब दो – तिहाई बहुमत प्राप्त है और राज्य सभा में साधारण बहुमत न होने के बावजूद वह बहुमत का सूक्ष्म प्रबंधन कर सकती है? और यह नहीं तो वह नया संविधान बनाने के अपने किसी कदम को वित्त विधेयक के रूप में निरूपित कर उच्च सदन की सहमति की आवश्यकता को ही ठीक उसी तरह दरकिनार कर दे जैसा उसने हाल में कई विधेयकों को वित्त विधेयक होने का दावा कर किया है?

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के राजनीतिक अध्ययन केंद्र के पूर्व छात्र एवं रांची में बसे एक्टिविस्ट उपेंद्र प्रसाद सिंह के अनुसार इनमें से कोई भी उपाय असंवैधानिक होगा। उनका कहना है कि नया संविधान रचने के लिए भी मौजूदा संविधान में ही प्रावधानित जनमत संग्रह ही एकमात्र विकल्प है। लेकिन स्वतंत्र भारत में किसी भी मुद्दे को लेकर जनमत संग्रह के प्रावधान का उपयोग आज तक नहीं किया गया है।

अब देखना यह है कि मोदी जी अपने स्वप्न के न्यू इंडिया के संविधान के लिए जनमत – संग्रह से आगे बढ़ते हैं या फिर कुछ और ही अकल्पनीय कदम उठाते हैं। इतना तो तय है कि अगर वह न्यू इंडिया के लिए नया संविधान रचते हैं तो उसमें गणतंत्रवाद का निर्वाह आसान नहीं होगा। ■

**पटना में समयांतर**

## **प्रगतिशील साहित्य सदन**

इंद्रलोक अपार्टमेंट

(मार्केट के अंदर)

इलाहाबाद बैंक के सामने

(पटना दूर शिक्षा निदेशालय)

अशोक राजपथ

मो.: 09631859823

**राजनीति**

## **बदलती बिसात**

**जावेद अनीस**

सन् 2014 की 16 मई के बाद 11 दिसंबर 2018 की तारीख देश की राजनीति में एक ऐसा पड़ाव है जिसे लंबे समय तक याद रखा जाएगा। ऐसा माना जा रहा था कि इस बार पांच राज्यों के विधानसभा चुनावों के नतीजे आने के बाद देश की राजनीति की दिशा बदलने वाले साबित होंगे और ठीक वैसा होता दिखाई भी पड़ रहा है।

2014 के लोकसभा चुनावों की मोदी लहर के बाद भाजपा को उसकी उम्मीदों से बढ़ कर अकेले ही 280 से अधिक सीटें मिली थीं और इसके बाद भाजपा हर चुनाव 2019 की तैयारी की तरह लड़ती रही और एक के बाद एक नए राज्यों में लगातार अपना विस्तार करती गई। इन सबसे विपक्ष का खेमा पूरी तरह से पस्त पड़ा रहा। लेकिन 2018 की कहानी बिल्कुल ही अलग है। एक के बाद एक नया किला फतह करने के बाद आखिरकार भाजपा का बेलगाम विजय रथ अपने ही गढ़ में आकर थम गया है। भाजपा मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और राजस्थान में सत्ता से बाहर हो गई है, इनमें से दो राज्यों में भाजपा 15 सालों से हुकूमत कर रही थी।

2019 के फाइनल से ठीक पहले सेमी-फाइनल माने जा रहे पांच राज्यों के चुनावी नतीजों के हार-जीत के अलावा और भी कई राजनीतिक मायने हैं। पिछले करीब साढ़े चार साल में यह पहली बार है जब विलुप्त मानी जा रही कांग्रेस पार्टी ने सीधे मुकाबले में भाजपा को मात दी है। यह मोदी-शाह के “कांग्रेस मुक्त भारत” के उस नारे पर भी अघात है जो सिर्फ एक पार्टी के लिए नहीं बल्कि उस विचारधारा के लिए भी था जिसकी जड़ें भारत की बहुलतावादी परंपरा और स्वाधीनता संग्राम से उपजे मूल्यों में हैं।

इन परिणामों ने इस मिथ को तोड़ दिया है कि मोदी को हराया नहीं जा सकता और राहुल गांधी हमेशा ही एक विफल नेता बने रहेंगे। इस जीत ने राहुल गांधी को एक नेता के तौर पर स्थापित कर दिया है। उन्होंने

मृतशैया पर पड़ी कांग्रेस में जान फूंकने का काम किया है और सबसे बड़ी बात यह है कि कभी चुनौतीविहीन माने जा रहे नरेंद्र मोदी के मुकाबले खुद को खड़ा कर लिया है। राहुल ने यह साबित करके दिखा दिया है कि अगर नरेंद्र मोदी को चुनौती पेश की जाए तो मुकाबले में उन्हें हराया भी जा सकता है। अब 2019 में नरेंद्र मोदी हार सकते हैं, जैसी बात असंभव या अजूबा नहीं लगती है। बहरहाल 2019 का चुनाव दिलचस्प हो गया है। अब यह एकतरफा नहीं होने वाला है और ऊंट कि सी भी करवट बैठ सकता है।

### **मांद में मात**

उपरोक्त तीनों राज्यों में कांग्रेस और भाजपा सीधे तौर पर आपने-सामने थीं। भाजपा के सामने चुनौती अपनी सरकारों को बचाने की थी। राजस्थान में हर पांच साल बाद सत्ता बदलने का चलन रहा है, लेकिन मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ में तो भाजपा पिछले पंद्रह सालों से सत्ता में थी। पिछले लोकसभा चुनाव के दौरान भाजपा ने इन तीनों राज्यों की कुल 65 लोकसभा सीटों में से 62 सीटों पर चुनाव जीता था। कांग्रेस के लिए तो यह एक तरह से अस्तित्व से जुड़ा हुआ चुनाव था, इसलिए कांग्रेस और भाजपा दोनों के लिए यह राज्य बहुत अहमियत वाले थे।

माना जा रहा था कि अधिकतम दो राज्यों में ही कांग्रेस वापसी कर सकती है लेकिन वह इन तीनों राज्यों में सरकार बनाने में कामयाब हो गई है। यह कांग्रेस की जबरदस्त वापसी है।

इनमें भी मध्य प्रदेश की जीत कांग्रेस के लिए बहुत खास है। यह भाजपा का सबसे मजबूत किला माना जाता था और यहां शिवराज सिंह चौहान जैसे मजबूत और लोकप्रिय मुख्यमंत्री थे। गुजरात के बाद मध्य प्रदेश को भाजपा व संघ की दूसरी प्रयोगशाला कहा जाता है, दरअसल यहां

जनसंघ के जमाने से ही उनका अच्छा-खासा प्रभाव है। भाजपा इसे विकास के एक मॉडल के तौर पर प्रस्तुत करती रही है, इसीलिए मध्य प्रदेश के नतीजे का विशेष महत्त्व है। इससे वहां लगातार हार की हैट्रिक बना चुकी कांग्रेस को भाजपा पर मनोवैज्ञानिक दबाव बनाने में मदद मिली है।

मध्य प्रदेश में कांग्रेस ने बहुत ही थोड़े समय में अपना कायाकल्प करने का चमत्कार किया है और इसका श्रेय निश्चित रूप से राहुल गांधी को दिया जाएगा जिन्होंने कमलनाथ, सिंधिया और दिग्विजय सिंह की जिम्मेदारी तय करते हुए इन्हें एक साथ काम करने को प्रेरित किया।

एक मई 2018 को कमलनाथ को मध्य प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष की जिम्मेदारी दी गई थी जिन्होंने सबसे पहले मध्य प्रदेश में पंद्रह साल से सुस्त पड़ चुके संगठन को सक्रिय करने पर जोर लगाया जिससे पार्टी बूथ स्तर तक खड़ी दिखाई पड़ने लगी। इसी तरह से सिंधिया को चुनाव प्रचार अभियान और दिग्विजय सिंह को परदे के पीछे रहकर कार्यकर्ताओं को एकजुट व सक्रिय करने की जिम्मेदारी दी गई थी जिसे उन्होंने बखूबी अंजाम दिया। लेकिन मध्य प्रदेश में असली कमान राहुल गांधी के हाथों में रही जो कमलनाथ और सिंधिया को साथ में रखते हुए खुद फ्रंट पर दिखाई दिए। मध्य प्रदेश में राहुल गांधी ने 25 जनसभाएं और चार रोड शो किए और इस दौरान उनके निशाने पर मुख्य रूप से नरेंद्र मोदी ही रहे।

### पटरी पर कांग्रेस

ऐसा लगता है कि भारत की सबसे पुरानी राजनीतिक पार्टी अभी तक के अपने सबसे बड़े संकट के दौर से उबर चुकी है। 2014 में उसे अपने सबसे बड़ी चुनावी पराजय का सामना करना पड़ा था और उसे पचास से भी कम सीटें मिल पाई थीं। वैसे तो चुनाव में हार-जीत सामान्य है, लेकिन यह हार कुछ अलग थी। इससे पहले कांग्रेस जब कभी भी सत्ता से बाहर हुई थी तो उसकी वापसी को लेकर इतना संदेह नहीं किया जाता था लेकिन 2014 की हार कुछ अलग थी। इसके बाद विजेताओं की तरफ से कांग्रेस मुक्त भारत की उद्घोषणा कर दी गई थी और कांग्रेस की

वापसी को लेकर कई कांग्रेसी ही संदेह करते हुए देखे गए। लोकसभा चुनाव में हार के बाद लंबे समय तक कांग्रेस कमोबेश वहीं कदमताल कर रही है जहां भाजपा ने उसे 2014 में छोड़ा था। गुजरात विधानसभा चुनाव के बाद से कांग्रेस की रणनीति में बदलाव देखने को मिला जहां से उसने अपनी हिंदू विरोधी छवि से पीछा छुड़ाने के लिए गंभीरता से प्रयास करने शुरू किए। कांग्रेस ने अपना यह कायाकल्प बहुत ही विपरीत परिस्थितियों में किया है बिना किसी चमकदार चेहरे, संसाधन विहीन लुंज-पुंज संगठन, हताश कार्यकर्ताओं और गोदी मीडिया के बावजूद अपने अस्तित्व को बचाया और नए तरीके से गढ़ा है। बहरहाल 2018 ने जाते-जाते कांग्रेस को नया जीवनदान दिया है जिसके सहारे वह 2019 के आम चुनाव में नए जोश और तेवर के साथ उतरेगी।

### नेता बन गए राहुल

अगर 16 मई 2014 का दिन नरेंद्र मोदी का दिन था तो 11 दिसंबर 2018 राहुल गांधी का दिन माना जाएगा। यह उनके कांग्रेस अध्यक्ष के तौर पर एक साल पूरा करने का दिन भी है जिसका उत्सव उन्होंने अभी तक के अपने राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी सफलता न साथ किया है। इस चुनावी सफलता ने ना केवल कांग्रेस पार्टी के भीतर उनके नेतृत्व पर जीत की मुहर लगाई है बल्कि विपक्षी खेमे में भी उनकी स्वीकार्यता बढ़ी है। इससे लंबे समय से देश की राजनीति में अपना मुकाम तलाश रहे राहुल गांधी आखिरकार एक राजनेता के रूप में स्थापित हो गए हैं।

राहुल का अभी तक का सफर संघर्ष और विफलताओं से भरा है। इस दौरान उनके हिस्से में जबरदस्त आलोचनाएं, मात और दुष्प्रचार ही आए हैं। लंबे समय तक उनकी छवि एक ऐसे अनिश्चित क, थोपे हुए, अगंभीर, बेपरवाह, कमअक्ल और 'पार्ट टाइम पॉलीटिशियन' राजनेता की रही है जिसकी भारतीय राजनीति की शैली, व्याकरण और तौर-तरीकों पर पकड़ नहीं है, जो अनमनेपन से सियासत में है। इस दौरान उन्हें पार्टी के अंदर और बाहर दोनों जगह एक प्रेरणादायक और चुनाव जीता

सकने वाले नेता के तौर पर स्वीकृति नहीं मिली। उनके जितना मजाक भी शायद ही किसी और राजनेता का बनाया गया हो, वह ट्रोल सेना के भी फेवरेट थे। इस स्थिति में उनके पास खोने के लिए कुछ खास बचा नहीं था, उनके पास वापसी करने या फिर विलुप्त हो जाने के ही विकल्प बचे थे।

इसके बाद दो ऐसी घटनाएं हुईं जिन्हें राहुल गांधी और कांग्रेस पार्टी के लिए टर्निंग पॉइंट कहा जाएगा, पहला पंजाब विधानसभा चुनाव में 'आप' के गुब्बारे का फूटना और दूसरा नीतीश कुमार का भगवा खेमे में चले जाना। पंजाब में 'आप' की विफलता से राष्ट्रीय स्तर पर उसके कांग्रेस के विकल्प के रूप में उभरने की बची-खुची संभावना को पूरी तरह से समाप्त कर दिया, इसी तरह से नीतीश कुमार को 2019 में, नरेंद्र मोदी के खिलाफ, विपक्ष का चेहरा माना जा रहा था। लेकिन उनके पाला बदल लेने के बाद सारा फोकस राहुल गांधी पर आ गया।

इसके बाद गुजरात विधानसभा चुनाव के बाद से राहुल एक जुझारू नेता के रूप में उभर कर सामने आते हैं, यहां वह कुछ अलग ही अंदाज में दिखाई दिए थे जिसे देखकर लगा कि एक राजनेता के तौर पर उनकी लंबी और उबाऊ ट्रेनिंग खत्म हो चुकी है। गुजरात में उन्होंने मोदी-शाह की जोड़ी को उन्हीं की जमीन पर बराबरी का टक्कर दी थी, इसके बाद कर्नाटक में भी उन्होंने आखिरी समय पर गठबंधन की चाल चलते हुए भाजपा के इरादों पर पानी फेर दिया। गुजरात विधानसभा चुनाव के बाद से राहुल गांधी ने अपनी पार्टी को एक नई दिशा दी है, इसे भाजपा और संघ के खिलाफ 'काउंटर नैरेटिव' तो नहीं कहा जा सकता लेकिन इसने राहुल और उनकी पार्टी को मुकाबले में वापस आने में मदद जरूर की है। आज वह मोदी सरकार के खिलाफ विपक्ष की सबसे बुलंद आवाज बन चुके हैं। लगातार अपने तीखे तेवरों से ही नरेंद्र मोदी की 'मजबूत' सरकार को 'बैकफुट' पर लाने में कामयाब रहे हैं, 'राफेल' का मामला इसका सबसे बड़ा उदाहरण है जिसमें मोदी सरकार बुरी तरह से घिरी नजर आ रही है।

राहुल लगातार खुद को पूरे विपक्ष की तरफ से नरेंद्र मोदी के विकल्प के तौर पर पेश करने की कोशिश कर रहे थे। विपक्ष के दूसरे

नेताओं के मुकाबले वह नरेंद्र मोदी के खिलाफ सबसे ज्यादा मुखर और आक्रामक राजनीति कर रहे थे। तीन भाजपा शासित राज्यों में जीत के बाद राहुल की इन कोशिशों को एक ठोस मुकाम मिल गया है और वह हाशिये पर पड़ी कांग्रेस को भारतीय राजनीति के केंद्र में लाने में सफल हो गए हैं।

राहुल की इस उपलब्धि का एक और पक्ष है। इसका दूसरा बड़ा झटका मायावती और ममता बनर्जी जैसे नेताओं को लगा है जो विपक्ष की तरफ से खुद को मोदी के विकल्प के तौर पर पेश करने की कोशिश कर रहे थे।

### एजेंडा तय करते राहुल

राहुल गांधी विपक्ष की तरफ से न केवल विकल्प बनकर उभरे हैं बल्कि काफी हद तक वह देश का राजनीति का एजेंडा तय करने की स्थिति में भी आ गए हैं। तीन राज्यों में जीत के बाद अपनी पहली प्रेस कॉन्फ्रेंस में उन्होंने प्रधानमंत्री मोदी पर निशाना साधते हुए कहा था कि “देश ने उन्हें काम करने के लिए चुना है और इन नतीजों का साफ संदेश है कि उन्हें किसानों, भ्रष्टाचार, रोजगार और अर्थव्यवस्था के बारे में कुछ करना होगा।”

दरअसल विपक्ष में रहते हुए राहुल गांधी की सबसे बड़ी सफलता यही रही है कि वह मोदी सरकार को आर्थिक मोर्चे पर घेरने में सफल रहे हैं। वह रोजगार-भ्रष्टाचार और किसान मुद्दों को लगातार उठाते रहे हैं। इन चुनावों में भाजपा को जो नुकसान हुआ है उसके पीछे सबसे बड़ा कारण किसान-ग्रामीण असंतोष और मोदी सरकार की आर्थिक विफलता मानी जा रही है। नोटबंदी, जीएसटी, बैंकिंग-राफेल में भ्रष्टाचार और बेरोजगारी के मुद्दे को अकेले राहुल ही उठाते रहे हैं।

आज राहुल गांधी ने किसानों की कर्ज माफी को देश की राजनीति का सबसे बड़ा मुद्दा बना दिया है। मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और राजस्थान चुनाव प्रचार के दौरान राहुल ने दस दिन के भीतर किसानों की कर्जमाफी का वादा किया था और इन तीनों राज्यों में कांग्रेस ने सरकार बनाते ही किसानों के कर्ज माफ करने का ऐलान कर दिया है। अब राहुल सीना तानकर ऐलान कर रहे हैं कि “किसानों की कर्ज माफी के लिए हम केंद्र सरकार पर दबाव बनाएंगे, जब तक किसानों का कर्ज

माफ नहीं किया जाता, तब तक हम प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी को न बैठने देंगे और न ही सोने देंगे।”

लोकसभा चुनाव से ठीक पहले आर्थिक मुद्दों की वापसी के बाद भाजपा के लिए इसे अपने मंदिर-गाय जैसे कोर मुद्दों पर वापस आना आसान नहीं होगा। ऐसी स्थिति में यह और भी मुश्किल है जब कांग्रेस नरम हिंदुत्व के रास्ते पर आगे बढ़ते हुए इन मुद्दों पर भाजपा के एकाधिकार को चुनौती पेश कर रही है।

### किसकी हार ?

राहुल के बरक्स नरेंद्र मोदी मध्य प्रदेश के चुनाव अभियान से सुरक्षित दूरी बना कर चलते नजर आए। जहां एक तरफ राहुल गांधी ने मध्य प्रदेश को सबसे ज्यादा समय दिया, वहीं नरेंद्र मोदी प्रदेश के चुनाव में खुद को सीमित किए रहे। राज्य में भाजपा के चुनाव प्रचार अभियान में भी केंद्र की उपलब्धियों पर न के बराबर फोकस किया गया, ऐसा शायद इसलिए किया गया कि अगर इन राज्यों में भाजपा की हार होती है तो इसकी जिम्मेदारी मौजूदा मुख्यमंत्रियों पर टाली जा सके और 2019 लोकसभा चुनाव के लिए मोदी ब्रांड को बचाये रखा जा सके।

लेकिन इन तमाम तजवीजों के बावजूद ऐसा लगता नहीं है कि मोदी ब्रांड बचा है। अब कोई भी मोदी लहर और अच्छे दिनों की बात नहीं करता है, उम्मीदों की जगह उपहास ने ले ली है और बड़े से बड़े मोदी समर्थक अपने विकास के देवता का बचाव करने में असमर्थ हैं। उनमें से कइयों ने तो पाला ही बदल लिया है। लॉर्ड मेघनाद देसाई जैसे बड़े मोदी समर्थक आज नरेंद्र मोदी को लेकर निराशा जताते हुए कह रहे हैं कि प्रधानमंत्री “मोदी टीम लीडर नहीं हैं और अब लोग उन्हें दोबारा वोट नहीं देंगे।”

दरअसल अर्थव्यवस्था के मोर्चे पर मोदी सरकार की विफलता और उस पर रोमांचकारी प्रयोगों ने विपक्ष को संभलने का मौका दे दिया है। भारत की चमकदार इकोनॉमी आज पूरी तरह से लड़खड़ाई हुई है। बेहद खराब तरीके से लागू किए गए नोटबंदी और जीएसटी ने इसकी कमर तोड़ दी है। बेरोजगारी बढ़ रही है और कारोबारी तबका

हतप्रभ है। ऐसा महसूस होता है कि आर्थिक मोर्चे पर यह सरकार स्थितियों को नियंत्रित करने में सक्षम ही नहीं है।

तीनों राज्यों में शिवराज सिंह चौहान, रमन सिंह और वसुंधरा राजे की हार से ज्यादा मोदी की हार की चर्चा है। इसे इन तीनों से ज्यादा मोदी-शाह के अहंकार की हार बताया जा रहा है।

### मोदी बनाम शिवराज - राहुल की जबानी

मध्य प्रदेश में चुनाव प्रचार के आखिरी दौर में राहुल गांधी ने भरे मंच से शिवराज सिंह की तारीफ करते हुए कहा था कि “मोदी और शिवराज में एक फर्क है, शिवराज जी तमीज से बोलते हैं और नरेंद्र मोदी जी तमीज से बोलना नहीं जानते हैं।” राहुल यहीं नहीं रुके थे उन्होंने शिवराज की कई और ‘अच्छी बातें’ गिनाते हुए कहा था कि “शिवराज जी और हम चुनाव लड़ रहे हैं, खुलकर हम उनके बारे में और वह हमारे बारे में बोल रहे हैं और लड़ाई हो रही है, भयंकर लड़ाई हो रही है। मगर वह तमीज से बोल रहे हैं। इसलिए मैं शिवराज की तारीफ कर रहा हूँ, आप कहोगे राहुल गांधी चीफ मिनिस्टर की प्रशंसा कर रहे हैं, लेकिन यह सच्चाई है तो बोलनी पड़ेगी।”

यहां राहुल गांधी शिवराज की तारीफ करते हुए केवल नरेंद्र मोदी को निशाना नहीं बना रहे थे बल्कि यह पार्टी लाइन के दायरे से आगे बढ़ते हुए भारतीय राजनीति में मोदी-शाह द्वारा अपनाई जाने वाली उस भाषा-शैली और तौर-तरीकों का नकार भी जो केंद्र की शक्ति, निरंकुश व अहंकारी है और राजनीति में परंपरागत मर्यादाओं की प्रवाह नहीं करता है।

दरअसल राहुल गांधी मोदी-शाह के इस राजनीतिक शैली के बरक्स अपना एक अलग ‘नैरेटिव’ पेश करने की कोशिश कर रहे हैं जो ज्यादा विनम्र और समावेशी है और सबको साथ लेकर चलने की कोशिश करती है। तीन राज्यों में विधानसभा चुनाव जीतने के बाद की गई प्रेस कॉन्फ्रेंस में राहुल गांधी अपने इसी अवतार को पेश करते हुए नजर आए। इसमें उन्होंने भाजपा के कांग्रेस मुक्त भारत के नारे के उलट बोलते हुए कहा कि “बीजेपी की एक विचारधारा है हम इसके खिलाफ लड़ेंगे और उन्हें हराएंगे लेकिन हम

किसी को भारत से मुक्त नहीं करना चाहते हैं।'' यही नहीं उन्होंने बड़ी विनम्रता से पिछली सरकारों के योग्यदान को रेखांकित करते हुए कहा कि "हमने भाजपा को हराया है, इन राज्यों में भाजपा के मुख्यमंत्री थे। उन्होंने जो काम किया है उसके लिए हम धन्यवाद करते हैं, अब बदलाव का समय है और ऐसे में हम उनके काम को आगे ले जाना चाहते हैं।"

यह 'ब्रांड राहुल' की पेशकश है जो 'ब्रांड मोदी' के बिल्कुल उल्ट है जो लोकतंत्र में सबको साथ लेकर चलने और विपक्ष की अहमियत को तरजीह देती है। कोई भी मार्केटिंग गुरु यह बात बहुत अच्छी तरह से समझ सकता है कि किसी एक क्षेत्र के दो ब्रांड एक-दूसरे के खिलाफ खड़े होकर तभी मुकाबला कर सकते हैं जब उन दोनों के बीच कुछ बुनियादी फर्क हों, आज मोदी और राहुल के बीच यह बुनियादी फर्क साफतौर पर देखने को मिल रहा है।

### भविष्य का मुखौटा ?

इन विधानसभा चुनाव में राहुल के बाद शिवराज सिंह चौहान ही ऐसे नेता थे जिनका भविष्य सबसे ज्यादा दाव पर था। भाजपा के अंदर शिवराज सिंह उन चुनिंदा नेताओं में हैं जो अपनी छवि एक उदार नेता के तौर पर गढ़ने में कामयाब रहे हैं। शिवराज की राजनीति की शैली टकराव की नहीं बल्कि विनम्र, समन्वयकारी और मिलनसार रही है। वह एक ऐसे नेता हैं जो अपना काम बहुत नरमी और शांतिभाव से करते हैं लेकिन नियंत्रण ढीला नहीं होने देते, इसी वजह से आज मध्य प्रदेश भाजपा संगठन में उनके समकक्ष कोई दूसरा नजर नहीं आता है। वह पिछले तेरह सालों से मध्य प्रदेश की सत्ता पर काबिज थे। इतने लंबे समय से मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री रहने के बाद भी शिवराज सहज, सरल और सुलभ बने रहे, यही उनके अब तक के राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी पूंजी और ताकत है।

राहुल की तरह उनकी यह छवि नरेंद्र मोदी के बिल्कुल विपरीत है। उनके पक्ष में कई और बातें जाती हैं जो उन्हें जरूरत पड़ने पर भाजपा की तरफ से नरेंद्र मोदी का विकल्प बना सकती हैं, जैसे कि उनका विनम्र और ओबीसी समुदाय से होना और सबसे बड़ी

बात हिंदी हृदय प्रदेश का जन नेता होना। वह अपने विरोधियों से मेल-जोल बनाए रखने में माहिर हैं जिसकी ताजा झलक हम कमलनाथ के शपथ ग्रहण समारोह में देख चुके हैं। इसके अलावा जनता के साथ घुल-मिल कर उनसे सीधा रिश्ता जोड़ लेने की उनकी काबिलियत अद्भुत है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि शिवराज सिंह अपनी यह चमक सरकार गंवा देने के बाद भी बनाए हुए हैं। हारकर भी वह लगातार सुर्खियां बटोर रहे हैं। जरूरत पड़ने पर वह भाजपा के लिए दूसरा कामयाब मुखौटा साबित हो सकते हैं। मध्य प्रदेश में अपने 13 सालों के कार्यकाल में उन्होंने इस बात को बखूबी साबित करके दिखा दिया है कि कैसे बिना कोई विवाद खड़ा किए संघ के एजेंडे को आगे बढ़ाया जा सकता है।

तीन राज्यों का चुनावी असर देखिए, आज नितिन गडकरी कैसा धमाल मचाए हुए हैं, इसने भाजपा की अंदरूनी बेचैनी को एक झटके में सामने ला दिया है। कभी चुनौती-विहीन माना जा रहा मोदी-शाह का नेतृत्व आज निशाने पर है। हार के बाद शिवराज भी ताल ठोक कर कह रहे हैं कि "हर एक लंबी दौड़ या फिर ऊंची छलांग से पहले दो कदम पीछे हटना पड़ता है," जाहिर है मध्य प्रदेश में तो वह अपनी सबसे ऊंची छलांग बहुत ही कामयाबी के साथ लगा चुके हैं, ऐसे में जाहिर है उनकी अगली लंबी छलांग का दायरा बड़ा ही होगा।

### शिवराज के भाग्य का फैसला होना बाकी है

चुनाव हारने के बाद शिवराज सिंह लगातार इस बात का संकेत दे रहे हैं कि कम-से कम लोकसभा चुनाव तक उनका इरादा मध्य प्रदेश में ही रहने का है और वह लोकसभा चुनाव नहीं लड़ेंगे। इस्तीफा देने के बाद उन्होंने प्रदेश के 52 जिलों में आभार यात्रा निकालने की घोषणा की थी। इसका सीधा मतलब है कि वे अपनी जमीन छोड़ना नहीं चाहते हैं और लोकसभा चुनाव के बाद बनने वाली परिस्थितियों का यहीं डटकर इंतजार करना चाहते हैं। वह दो टुक कह चुके हैं कि, "मैं केंद्र की राजनीति में नहीं जाऊंगा। मैं मध्य प्रदेश में ही रहूंगा और यहीं मरूंगा।"

शिवराज सिंह चौहान को 2005 में जब

भाजपा नेतृत्व ने मुख्यमंत्री बनाकर मध्य प्रदेश भेजा था तब शायद ही किसी ने सोचा होगा कि शिवराज इतनी लंबी पारी खेलेंगे, इस दौरान पार्टी के अंदर से मिलने वाली हर चुनौती को पीछे छोड़ने में वह कामयाब रहे। मध्य प्रदेश की राजनीति में शिवराज इकलौते राजनेता हैं जो लगातार तेरह सालों तक मुख्यमंत्री रह चुके हैं।

मध्य प्रदेश में पंद्रह साल की एंटी इन्कंबेंसी के बावजूद अगर भाजपा इतने करीबी अंतर से सत्ता से बाहर हुई है तो उसका पूरा श्रेय शिवराज को ही दिया जा रहा है। ऐसे में भाजपा की अंदरूनी राजनीति में उथल-पथल शुरू हो चुकी है। इसमें शिवराज की भूमिका को देखना दिलचस्प होगा। फिलहाल उनका जोर हिंदी हृदय प्रदेश की जमीन पर अपने पकड़ को कमजोर नहीं होने देने का है। इसलिए चुनाव हारने के बाद वह इस दिशा में बहुत तेजी से एक्टिव हुए हैं। प्रदेश की आम जनता और कार्यकर्ताओं से मिलने का सिलसिला लगातार जारी है और अपने बयानों से मीडिया की सुर्खियां भी बटोर रहे हैं।

इन सबके बावजूद शिवराज को लेकर भाजपा में अनिश्चितता की स्थिति बनी हुई है और उनकी नई भूमिका को लेकर सस्पेंस बरकरार है। घोषणा के बावजूद उनके आभार यात्रा को ही हरी झंडी नहीं दी गई। हालांकि शिवराज सिंह चौहान कम से कम लोकसभा चुनाव तक भाजपा आलाकमान के लिए मजबूरी बने रहेंगे क्योंकि शिवराज ने अपने अलावा किसी और नेता को पनपने नहीं दिया है। पार्टी के पास प्रदेश में दूसरा विकल्प नहीं है। इसलिए आसार यह हैं कि शिवराज के भाग्य का फैसला 2019 लोकसभा चुनाव परिणामों के बाद ही होगा।

कुछ ही महीनों के बाद होने वाला लोकसभा चुनाव भारत के भविष्य की दिशा-दशा के लिए बहुत अहम साबित होने वाला है और यह अलग ही स्तर पर लड़ा जाएगा। ऐसे में तीन राज्यों में मिली जीत से अगर कांग्रेस व अन्य विपक्षी पार्टियां यह संदेश निकालती हैं कि 2019 में उनके लिए नरेंद्र मोदी को हराना आसान हो गया है तो यह आत्मघाती साबित होगा। बहरहाल 2019 की लड़ाई बहुत दिलचस्प होने जा रही है। ■

# फ्रांस में जन-विद्रोह की वजह

रामू सिद्धार्थ

*प्रदर्शनकारियों को फ्रांस की 70 से 75 प्रतिशत जनता का समर्थन प्राप्त है। प्रदर्शनकारियों में फ्रांस के अमीरों और उच्च-मध्य वर्ग को छोड़कर देश के अधिकांश तबके शामिल हैं। यह व्यापक जनक्रोश की स्वतः स्फूर्त अभिव्यक्ति है, जो व्यापक जन-विद्रोह की शकल ले चुकी है। सभी विश्लेषक एक स्वर से स्वीकार कर रहे हैं कि 1968 के छात्र-विद्रोह के बाद फ्रांस का यह सबसे बड़ा जन-आक्रोश और जन-विद्रोह है।*

**फ्रांस** में जन-विद्रोह की लहरों का एक सिलसिला चल रहा है। एक लहर उठकर अभी शांत भी नहीं होती कि दूसरी लहर उठ खड़ी हो रही है। यह सिलसिला 17 नवंबर से चल रहा है। उस दिन तीन लाख लोग सड़कों पर उतर आए। फिर पहली दिसंबर को एक लाख 60 हजार लोग सड़कों पर उतरे। आठ दिसंबर को करीब एक लाख 26 हजार लोग सड़कों पर थे। इनमें करीब 10 हजार लोग फ्रांस की राजधानी पेरिस की सड़कों पर विरोध कर रहे थे। आठ दिसंबर को सिर्फ पेरिस में 126 लोग बुरी तरह से जख्मी हुए। एक हजार से अधिक लोगों को पूरे देश में हिरासत में लिया गया। बड़े पैमाने पर सुरक्षा बलों और प्रदर्शनकारियों के बीच झड़प हुई। इतने बड़े पैमाने पर लोग सड़कों पर तब थे, जब फ्रांस की सरकार ने 90 हजार सुरक्षाबलों को देशभर में तैनात कर रखा था, क्योंकि उस सड़कों पर उतरने की घोषणा येलो वेस्ट (पीली बंडी यह वह चमकीली बंडी है जो अंधेरे में चमकती है और जिसे सुरक्षा के लिए पहना जाता है) ने पहले ही कर रखी थी।

आठ दिसंबर को फ्रांस में हो रहे प्रदर्शनों के साथ ही बेल्लिजयम और नीदरलैंड में भी प्रदर्शन हुए। इन प्रदर्शनों के संदर्भ में सबसे ज्यादा रेखांकित करने की बात यह है कि सभी सर्वे यह बता रहे हैं कि प्रदर्शनकारियों को फ्रांस की 70 से 75 प्रतिशत जनता का समर्थन प्राप्त है। प्रदर्शनकारियों में फ्रांस के अमीरों और उच्च-मध्य वर्ग को छोड़कर देश के अधिकांश तबके शामिल हैं। यह व्यापक जनक्रोश की स्वतः स्फूर्त अभिव्यक्ति है, जो

व्यापक जन-विद्रोह की शकल ले चुकी है। सभी विश्लेषक एक स्वर से स्वीकार कर रहे हैं कि 1968 के छात्र-विद्रोह के बाद फ्रांस का यह सबसे बड़ा जन-आक्रोश और जन-विद्रोह है। लोगों के भीतर गुस्सा किस कदर है, इसका अंदाजा प्रदर्शनकारियों के आक्रामक तेवर और उनके द्वारा व्यापक पैमाने की गई तोड़-फोड़ से लगाया जा सकता है। प्रदर्शनकारियों के निशाने पर अमीरों की शानदार कोठियां, बड़े-बड़े शॉपिंग मॉल, विशाल कारोबारी ठिकाने और सरकारी प्रतिष्ठान हैं। लोगों ने फ्रांस के विश्व प्रसिद्ध प्रतीकों को भी अपने हमले का निशाना बनाया। यहां तक कि फ्रांसीसी गणतंत्र की प्रतीक मारिआन (मरियम) की पेरिस स्थिति प्रतिमा के चेहरे को विकृत कर दिया गया। यह वर्तमान फ्रांसीसी गणतंत्र के प्रति लोगों के आक्रोश को सामने लाता है।

यह सच है कि 17 नवंबर को लोग सड़कों पर तब उतरे, जब फ्रांस में ईंधन के दामों में 23 प्रतिशत वृद्धि की गई। लेकिन, यह एक तात्कालिक कारण था, जो लोगों के बीच पनप रहे असंतोष और आक्रोश के विस्फोट का कारण बना। लेकिन, असल कारण ज्यादा व्यापक और गहरे हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि फ्रांस की सरकार ने एक दिसंबर के प्रदर्शन के बाद ईंधन के करों में की गई वृद्धि को वापस ले लिया, उसके बावजूद लोग आठ दिसंबर को लाखों की संख्या में सड़कों पर उतरे। इस पूरे संदर्भ में प्रश्न यह है कि आखिर फ्रांस की करीब दो-तिहाई जनता में इतना असंतोष और आक्रोश क्यों

है? पूरी दुनिया की तरह फ्रांस में भी नव-उदारवादी पूंजीवादी नीतियों ने अमीर और गरीब लोगों की बीच की खाई को बहुत बढ़ा दिया है। ऊपर के 20 प्रतिशत लोग नीचे के 20 प्रतिशत लोगों की तुलना में पांच गुना अधिक आय प्राप्त कर रहे हैं। ऊपर के एक प्रतिशत लोगों के हाथ में 20 प्रतिशत से अधिक आर्थिक संपदा है। फ्रांस की प्रति व्यक्ति औसत राष्ट्रीय आय 42,567.74 अमेरिकी डॉलर के बराबर है, जबकि आधे से अधिक फ्रांसीसी लोगों की औसत मासिक आय 1,930 डॉलर से भी कम है। फ्रांसीसी अर्थशास्त्री थॉमस पिकेटी का आकलन बताता है कि फ्रांस के निम्न और मध्य वर्ग की औसत आय स्थिर है या एक प्रतिशत या इससे कम दर से बढ़ रही है, जबकि धनी और धनी होते जा रहे हैं, उनकी आय में करीब तीन प्रतिशत वार्षिक की वृद्धि हो रही है।

फ्रांस की आर्थिक विकास दर 1.8 प्रतिशत है। इसने हालात को और बदतर बना दिया है। इस धीमी विकास दर से सृजित होने वाली आय का बड़ा हिस्सा कॉरपोरेट और अमीरों के हाथ में चला जा रहा है। योरोपीय यूनियन के 2012 के ऋण संकट के बाद फ्रांस की अर्थव्यवस्था की विकास दर स्थिर है। फ्रांस के एक बड़े हिस्से के पास काम नहीं है। 2009 से लेकर अब तक फ्रांस में बेराजोगारी की दर नौ से 11 प्रतिशत बनी हुई है। इस समय फ्रांस में 9.1 प्रतिशत लोग बेरोजगार हैं। यह संख्या जर्मनी की तुलना में दोगुनी है।

## अमीरों का राजा

प्रदर्शनकारी राष्ट्रपति इमैनुएल मैक्रोन को अमीरों का राजा कहकर पुकार रहे हैं। फ्रांस के राष्ट्रपति चुने जाने के पहले ही वर्ष में उन्होंने अमीरों पर लगने वाले करों में 3.6 बिलियन डॉलर की कटौती की। इससे फ्रांस की सरकार को होने वाली एक वर्ष की आय में 3.6 बिलियन डॉलर की कमी आ गई। सबसे ज्यादा कटौती संपत्ति कर और पूंजी आय में की गई। अमीरों को टैक्स में यह भारी छूट लोगों के आक्रोश की एक बड़ी वजह है। एक तरफ कॉरपोरेट और अमीरों को इतने बड़े पैमाने पर कर में छूट दी गई, दूसरी तरफ फ्रांस के आर्थिक सर्वे के अनुसार, इस वर्ष फ्रांस के 70 प्रतिशत लोगों की आय में कोई वृद्धि नहीं हुई। नीचे के पांच प्रतिशत

लोगों की क्रय शक्ति और गिर गई। योरोपीय यूनियन के 28 देशों में फ्रांस के श्रमिक सबसे ज्यादा टैक्स चुकाते हैं। इस समय फ्रांस में ज्यादातर वस्तुओं और सेवाओं पर 20 प्रतिशत टैक्स लगता है। इस टैक्स की मार भी श्रमिकों, निम्न-मध्य वर्ग और मध्य वर्ग पर पड़ती है। फ्रांस की सरकार ने 2019 का जो बजट अक्टूबर 2018 में प्रस्तुत किया। उसमें वेतन में 18.8 बिलियन यूरो डॉलर की कटौती का प्रस्ताव भी शामिल था। इसके साथ ही कारोबारियों को लोगों को नौकरी पर रखने और निवेश के नाम पर व्यापार कर में कटौती का प्रस्ताव किया गया।

फ्रांस दुनिया के उन चंद देशों में शामिल है, जहां सामाजिक सुरक्षा तंत्र सबसे बेहतर और मजबूत है। यहां आर्थिक आय का एक-तिहाई हिस्सा नागरिकों के कल्याण पर खर्च होता है, जो योरोप के किसी भी देश की तुलना में सबसे ज्यादा है। 2016 में फ्रांस ने करीब 715 अरब यूरो डॉलर स्वास्थ्य, परिवारों की सहायता, बेरोजगारी भत्ता तथा व्यापक जनता के फायदे के अन्य मदों में खर्च किया था। देशी-विदेशी कॉरपोरेट घरानों और अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों का दबाव है कि इसमें बड़े पैमाने पर कटौती की जाए। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तरीके से इसकी शुरुआत भी कर दी गई है, जिससे लोगों में गहरा आक्रोश है।

फ्रांस में श्रम कानून योरोप-अमेरिका की तुलना में श्रमिकों को ज्यादा सुरक्षा मुहैया कराते हैं। राष्ट्रपति मैक्रोन लगातार कह रहे हैं कि फ्रांसीसी अर्थव्यवस्था की विकास की रफ्तार तेज करने के लिए जरूरी है कि फ्रांस की श्रम संहिता में तेजी से बदलाव लाया जाए। निवेशकों यानी रोजगार प्रदाताओं को हायर एंड फायर की छूट दी जाए। उन बाधाओं को दूर किया जाए, जिनके चलते निवेशक पुराने श्रमिकों को निकालकर नए श्रमिकों की भर्ती नहीं कर पाते। कर्मचारी संघों के अधिकारों में कटौती का भी प्रस्ताव है, क्योंकि वर्तमान नियमों के तहत एक कर्मचारी से समझौता करके कोई नियोक्ता किसी कर्मचारी को निकाल या रख नहीं सकता है। रखने और निकालने की शर्तें यूनियन और नियोक्ता के बीच सामूहिक समझौते के तहत तय होती हैं।

मानवीय गरिमा के साथ जीने के लिए न्यूनतम आवश्यक आय में कमी, बेरोजगारी,

अमीरों और गरीबों के बीच असमानता की चौड़ी होती खाई, कॉरपोरेट और अमीरों के करों में भारी कटौती, निम्न-मध्य वर्ग और मध्य वर्ग पर करों का बढ़ता बोझ, सरकार द्वारा प्रदान की जाने वाली सामाजिक सुरक्षा में कटौती का प्रस्ताव और श्रम कानूनों को नियोक्ताओं के अनुकूल बनाने का प्रस्ताव वे बुनियादी वजहें हैं, जिनके चलते फ्रांस की 70 प्रतिशत से अधिक जनता के भीतर गहरा असंतोष और आक्रोश है, जो विभिन्न रूपों में सड़कों पर फूट रहा है। यह सभी कुछ विश्व-व्यापी नव-उदारवादी पूंजीवादी नीतियों का परिणाम है, जिसे मैक्रोन भी फ्रांसीसी समाज में तथाकथित क्रांतिकारी परिवर्तन की जरूरत के नाम पर लागू करने की कोशिश कर रहे हैं। पहले की सरकारें भी यही करती रही हैं।

### वर्षों का दबा असंतोष

फ्रांस की जनता के भीतर असंतोष और आक्रोश वर्षों से पनप रहा था। यह परंपरागत राजनीतिक पार्टियों से मोहभंग के रूप में सामने आया। इसी मोह भंग के चलते लोगों ने 18 महीने पहले ही कमोबेश एक गैर-राजनीतिक पृष्ठभूमि के व्यक्ति ( बैंकर ) मैक्रोन को अपना राष्ट्रपति चुना था, जिसने लोगों की जीवन स्थिति में सुधार करने और सबको रोजगार मुहैया कराने का वादा किया था। उन्होंने फ्रांसीसी लोगों के जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन का वादा किया था। संसदीय चुनावों में भी लोगों ने परंपरागत पार्टियों को दरकिनार कर मैक्रोन की नई-नवेली पार्टी को समर्थन दिया था। लेकिन, सत्ता में आने के साथ ही मैक्रोन ने नव-उदारवादी पूंजीवादी नीतियों को और जोर-शोर से लागू करना शुरू कर दिया। जिसका परिणाम व्यापक पैमाने पर असंतोष के रूप में सामने आया है। जिन लोगों ने मैक्रोन को समर्थन दिया था, उनमें से 50 प्रतिशत लोग आज उनके खिलाफ हैं। लोग कह रहे हैं कि सरकार धनी लोगों के लिए काम कर रही है। प्रदर्शनकारी कह रहे हैं- मैक्रोन हट जाओ, रास्ता साफ करो। क्रांति की भी बातें हो रही हैं।

ऐसा नहीं है कि ये नव-उदारवादी नीतियां केवल फ्रांस में लागू हो रही हैं और उसके बदतर परिणाम सिर्फ फ्रांस की जनता को

भुगतने पड़ रहे हैं। यह विश्व-व्यापी परिघटना है, लेकिन फ्रांस दुनिया में एक मामले में अपने तरह का अलग 'अवां गार्द' देश है। यहां लोगों में मानवीय गरिमा के साथ जीने की चेतना सापेक्षिक तौर बहुत उंचे स्तर की है। यह वह देश है जहां क्रांतिकारी परिवर्तन की सतत परंपरा रही है। 1789 की क्रांति ने सामंतवाद को ध्वस्त किया, तो 1871 की क्रांति ने पूंजीवाद को थोड़े समय के लिए ही सही, ध्वस्त कर दिया और मेहनतकशों का शासन कायम किया।

1968 में फ्रांसीसी छात्रों के विद्रोह ने दुनिया भर पर असर डाला। नव-उदारवादी नीतियों के साथ फ्रांस में इसका तीखा विरोध शुरू हो गया था। इसके बाद 1986, 1995, 2006 और 2010 में व्यापक पैमाने पर विरोध-प्रदर्शन हुए और सरकारों को जनता के सामने झुकना पड़ा। मैक्रोन की सरकार को भी जन-आक्रोश और जन-विद्रोह के सामने झुकना पड़ा है। ईंधन पर टैक्स को वापस लेना, वेतन में वृद्धि की घोषणा और पेंशन में कटौती के प्रस्ताव को वापस लेने को मजबूर होना पड़ा है, लेकिन विद्रोही इससे संतुष्ट नहीं हैं, उन्होंने अपनी मांगों की एक लंबी सूची पेश की है। व्यापक जन के हितों की पूर्ति करने वाली इस सूची और नव-उदारवादी पूंजीवादी जरूरतों के बीच कोई तालमेल संभव नहीं दिख रहा है। यह स्थिति निरंतर असंतोष, आक्रोश और जन-विद्रोह को जन्म देगी। ■

देखें: भूगोल और स्मृति की परिधियां

### बैंकके माध्यम से समयांतर का

#### शुल्क भेजें

Samyantar Current a/c

No. 27520200000094

Bank of Baroda, Mayur Vihar

Ph.-I, Delhi -110091

कृपया रेमिटेंस की सूचना तत्काल ईमेल अथवा एसएमएस द्वारा ही भेजें।

फोन: 09868302298(संपादकीय);

09871403843 (व्यवस्था)

email:

samayantar.monthly@gmail.com

समयांतर, 79-ए दिलशाद गार्डन,  
दिल्ली-110095

# ठहराव की ओर इस्लामिक क्रांति?

रामशरण जोशी

*प्रस्तुत यात्रा टिप्पणी ईरान की राजधानी तेहरान के सात दिवसीय प्रवास के दौरान हुए अनुभवों और अवलोकन पर आधारित है। ईरान को संपूर्णता से जानने का दावा लेखक का नहीं है क्योंकि शहर की सरहदों के पार जिंदगी कैसी है, उसमें झांकने का मौका ही नहीं मिला। 24 से 30 नवंबर के प्रवास में राजनेताओं, राजनयिकों, बुद्धिजीवियों, मीडिया-वृत्तचित्रकर्मियों, विद्याधियों, समाजकर्मियों, सामान्यजनों, उद्योगपतियों जैसों के साथ संवाद करने में वक्त कैसे गुजर गया, पता ही नहीं चला! सो, इस टिप्पणी की अंतर्निहित सीमाएं होंगी! अतः आरंभ में ही इसे स्पष्ट कर दिया गया है। - ले.*

यदि अमेरिकी आधिपत्य या अन्य ताकतों के अधीन जीनेवाले दुनिया भर के उत्पीड़ितजन जागरूक नहीं बनते हैं, उठ खड़े नहीं होते हैं और संगठित नहीं हो जाते हैं, तो शैतान की अधीनता खत्म नहीं होगी। हम सभी मिल कर दुनिया भर के उत्पीड़ितों को एकजुट करने का स्वप्न साकार करें... हम सभी प्रकार की गुलामियों को खत्म करने के लिए कटिबद्ध रहें।'' (इमाम खोमैनी, 11 मई, 1983; संस्थापक, इस्लामी ईरान गणतंत्र)

ईरान देखने की तम्मना पुरानी रही है। वजह, भारत और ईरान की सभ्यताएं और संबंध नए नहीं, सहस्राब्दियों पुराने हैं। काफी कुछ मिलता-जुलता है। करीब चालीस बरस पहले इस देश में 'इस्लामी क्रांति' हुई और अप्रैल, 1979 में ईरान 'इस्लामी गणतंत्र' बना। अब्बल दर्जे की सामंतशाही व पश्चिमशाही से मजहबी लोकशाही में तब्दील हो गया। रातोंरात। एक नया सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक आख्यान (नरेटिव) अस्तित्व में आया। इसमें झांकने-समझने की इच्छा बलवती हुई। और पूरी हुई 24 नवंबर, 2018 की सुबह से। एक मीडिया शिष्टमंडल के सदस्य के रूप में मैं गया हुआ था। आठ-दस सदस्य थे इस मंडल के।

मुझे याद आया, इस्लामी क्रांति के दस साल पूरे होने पर मैंने 1989 में किसी ईरानी मीडिया को इंटरव्यू दिया था। उस इंटरव्यू में

इस्लामी क्रांति की उपलब्धियों के साथ कुछ शंकाएं भी सामने रखी थीं। यह यात्रा एक अवसर था उपलब्धियों और शंकाओं की शिनाख्त का; क्या यह क्रांति या इंकलाब लोगों की जिंदगियों में बदलाव ला सका?; क्या सामाजिक न्याय व विषमता मुक्त समाज स्थापित कर सका?; क्या ईरान शोषण-उत्पीड़न मुक्त राष्ट्र बन सका?; क्या इमाम खोमैनी का ख्वाब साकार हो गया?; क्या इस्लामी न्याय व्यवस्था स्थापित हो सकी?; क्या स्त्री-पुरुष को समान अधिकार मिले हुए हैं?; इस धार्मिक देश में धार्मिकता और आधुनिक वैज्ञानिकता के बीच कैसे संबंध हैं, किस प्रकार का ताल-मेल है?; क्या ईरानराष्ट्र को मध्ययुगीनता + आधुनिकता + गैर पूंजीवादी व समाजवादी क्रांति की प्रयोगशाला कहा जा सकता है? इस तरह के सवालों से लदे दिमाग को लेकर मैं तेहरान पहुंचता हूँ।

बेशक कई भ्रम टूटे। पहली सुबह ही। तेहरान, साफ-सुथरी-चमचमाती सड़कों का शहर नजर आया। सड़कों पर कतारबद्ध कारें, न कोई डेंट-न खरोंच। अपनी अपनी लेनों में अनुशासित अपनी-अपनी मंजिल को जाते हुए वाहन! न कोई धुआं-न प्रदूषण, कारें भी छोटी नहीं, खासी लंबी-आरामदायक। स्टेयरिंग पर स्त्री-पुरुष, सामान रूप से दोनों सवार, हवा से बातें करते हुए। ऐसे में दिल्ली-मुंबई का जिस्म याद न आए और तोबा करने

को जी न करे, यह कैसे हो सकता है!

मध्य तेहरान के एक चार सितारा होटल सिमोर्घ में ठहराया गया। बिल्कुल फैशनपरस्त इलाका। दिल्ली का ग्रेटर कैलाश, कोलकाता का पार्क स्ट्रीट, मुंबई का पैडर रोड आंखों में उतर आए; सिर्फ हिजाब से मजहब की लाज रखते हुए और अपनी बांहों को वैनिटी बैग से सजाए महिलाएं चहलकदमी करती मिलीं। मर्दजात से कोई फासला नहीं। रात दस बजे के बाद सर से हिजाब भी आसमान में गायब होता मिला, और इसके बाद किसी भी पश्चिमी देश के नजारे जिंदा होते मिले; सड़क किनारे कार सटा महिलाओं के लबों से उठते धुआं, फुटपाथों पर टकराहट लबों की, बांहों को बांहों से सटा कर टहलना खरामा-खरामा; दिन में पार्कों के झुरमुटों में प्रणय-व्यापार; रेस्तरां में कॉफी की चुस्कियां; लंच-डिनर पर उमंगों का सैलाब!

वैसे तेहरान के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मर्द के कंधे से कंधा मिलाते हुए औरत मिली। पूरी तौर पर कामकाजी; होटल रहे या रेस्तरां; दफतर हो या शोध संस्थान; मीडिया रहे या तेहरान विश्वविद्यालय; या फिर ईरानी संसद रहे या समाजी व मजहबी संस्थाएं, महिलाओं की मौजूदगी पुरुषों को चिढ़ाती हुई दिखाई देगी। कुछ क्षेत्रों में तो पुरुषों को मात दे दी है और पचास फीसदी से ज्यादा हैं। 95 प्रतिशत ओरतें साक्षर हैं ग्रामीण क्षेत्रों में।

एक नितांत अनुपम अनुभव हुआ। क्या किसी मुस्लिम देश में हिंदू-मुस्लिम विवाह की कल्पना की जा सकती है! लेकिन इस शिया प्रधान इस्लामी देश में हिंदू युवक और शिया युवती वैवाहिक सूत्र में बंधे मिले। तेहरान विश्वविद्यालय के अंतरराष्ट्रीय विभाग के विद्यार्थी थे; युवक था पूना का मराठी अभिषेक और पत्नी थी सारा। शुरु में थोड़ी बहुत दिक्कतें पेश हुईं, लेकिन बाद में सबने स्वीकार कर लिया। हम दोनों खुश हैं अपने नए जीवन से। मुस्कराते हुए दोनों ने बताया। पत्नी ने हिजाब जरूर ओढ़े रखा था। अभिषेक अपनी सामान्य पोशाक में था। हिंदी-मराठी के साथ फारसी में भी बोल रहा था। युवक सांवल्ला था, और सारा गोरी-चिट्ठी। अलबत्ता ईरान में खूबसूरती पर खुदा की नेमत की बरसात हुई है।

दिलचस्प यह है कि जहां भारत में पिछले चार सालों से 'लव जेहादियों' का कहर बरपा हो रहा है, वहीं यह हिंदू-मुस्लिम दंपति स्वच्छंद रूप से तेहरान शहर की सांसों में बसा हुआ है। तब मुझे अपने देश के ताजा माहौल पर 'शर्म' क्यों न आए!

तब क्या तेहरान की आंखों में मजहबी सुरू उतरा हुआ है? बिल्कुल भी नहीं। चांद का टुकड़ा दिखाई देगा, किसी भी पूंजीवादी देश का। अभिजातीय वर्गीय जीवन शैली छितरी मिलेगी। आम लोगों के लिए बस स्टॉप पर स्त्री-पुरुष यात्रियों की कतारें दिखाई देंगी। पिकनिक स्थलों पर मौजमस्ती। बच्चों के साथ धूम धड़ाका; स्कूली विद्यार्थियों के हजूम के साथ शिक्षिकाएं। आधुनिक लिबास में। विश्व की सबसे लंबी छठी 'मिलाद मीनार' को देखते हुए रोमांचक अनुभव हुआ; दर्जनों छात्र-छात्राएं और शिक्षिकाएं। इस बात का एहसास कहीं भी नहीं था कि ये बच्चे किसी मध्य युग में अटके हुए हैं। उनकी शिक्षिकाएं भी वैसी ही मिलीं; फर्स्टेदार इंग्लिश और आधुनिक बोध से लैस; अमिताभ बच्चन, शाहरुख खान, आमिर खान, सलमान खान और हिंदी फिल्मों व संगीत में दिलचस्पी; महात्मा गांधी, नेहरू और इंदिरा गांधी के लिए आदर भाव; इंडिया का नाम सुनते ही बच्चे तो उछलने लगे और शिक्षकों के चेहरों पर चमक थी।

इस्लामी क्रांति के बाद बुर्को से ढका, सड़कों पर 'मोरल पुलिसिंग', लंबे-लंबे काले अबा (लबादा) व मोटे-मोटे सफेद दस्तार से लदे और लंबी-लंबी दाढ़ीवाले धर्मगुरुओं से सामना होगा, दिल्ली में ऐसा था भ्रम जो तेहरान में टूटा। कई भ्रम थे ऐसे ही, जो आहिस्ता आहिस्ता काफूर होते रहे जैसे-जैसे मैं इस शहर में उतरता चला गया।

चांदनी चौक, फतेहपुरी, करोलबाग के दृश्यों की याद दिलाते हुए बाजार भी मिले; वही भीड़-भाड़, वही धक्का-मुक्की, कानफोड़ शोर, अपनी तरफ ग्राहकों को लुभाते इशारे; मेवा की दुकानों पर उमड़ी भीड़; दिल्ली में तिब्बती विस्थापितों की थडियों की तरह अफगानी-ब्लोचिस्तानी विस्थापितों की थडियां और बिकते ऊनी कपड़े; चौराहों-दुकानों पर विशेष पोशाक पहने स्त्री-पुरुष ऊद-ऊदी-लोभान से पैसा बटोरते हुए, छुप-छुप कर भीख मांगते हुए लोग; अमेरिकी डॉलर के लिए

दीवानगी और ब्लैक मार्किट में यांकी मुद्रा के साथ-साथ भारतीय मुद्रा की भी खरीद-फरोख्त; दो हजार रुपए के नोट से मुहब्बत; काला बाजारी का बोलबाला। पर नमाज पांचों वक्त।

लॉउडस्पीकर की चीखें मस्जिद से, कानों से नहीं टकराईं। जरूर स्पर्श करता रहा कानों को अजानों का माधुर्य। कुकुरमुत्ता सी फैली हुई नहीं थीं मस्जिदें। इक्के-दुक्के चर्च भी दिखाई दिए। बिल्कुल साफ-सुथरे। गुरुद्वारा भी गए। ग्रंथी, दिल्ली से पहुंचे हुए थे। पंजाब के सेवादार संतुष्ट मिले। 'पाठ-पूजा-सबद की पूरी छूट। लंगर भी लगता है।', बाजारों में प्रेम-प्यार, आदर भाव। सिख सेवादार ने स्वीकार किया। भारत सरकार द्वारा संचालित 'केंद्रीय विद्यालय' भी मिला, जिसके प्रधानाचार्य थे एक मराठी। हिंदी व इंग्लिश के साथ-साथ फारसी में शिक्षा। मिश्रित वातावरण था विद्यालय में।

तेहरान में सिर्फ अमन-चैन की ही बंसी बजाई जाती है, यह सोचना भी एक भ्रम होगा। इस शहर की सांसों में भी 'दर्दभरे नाले' बसे हैं। इसका एहसास मुझे पार्क में घूमते हुआ। हुआ यह कि मैं एक दोपहर होटल से निकल कर एक खूबसूरत पार्क में तफरीह के लिए पहुंच गया। कुछ पढ़े-लिखे व बेरोजगार नौजवानों से मुठभेड़ हुई। गपशप होने लगी। वे धड़ल्ले से इंग्लिश बोल रहे थे। जब सुना मैं इंडिया से हूँ तो और दिलचस्पी जगी। इली नाम का युवक कहने लगा, "सर जिस होटल में आप ठहरे हैं वह काफी महंगा है। उसमें अमीर लोग ही जा सकते हैं। यह शहर तीन जिंदगियों में तकसीम हुआ है - नॉर्थ, मिडिल और साउथ; नॉर्थ में तो बड़े-बड़े विला और बीएमडब्लू, मर्सिडीज, टोयटा जैसी कारें मिलेंगी, बिल्कुल अमेरिका का टुकड़ा है, जन्तत है; साउथ दोजख है जहां हम लोगों की जिंदगी है, अंधेरे में डूबी, घुटी घुटी, सांस लेना मुहाल; जहां आपका होटल है वह मिडिल है, लेकिन नॉर्थ का ही एक्सटेंशन है।

"क्या आप जानते हैं, ऐसे भी इलाके हैं जहां के लोग घास भी खाते हैं जिंदा रहने के लिए, रोजगार नहीं है, आधा पेट रहना पड़ता है; कुछ लोग तो कब्रिस्तान में सोते हैं; अमीर और अमीर हो रहे हैं, गरीब और गरीब; खबरे दबा दी जाती हैं, रंगीन चैनलों -

अखबारों में झूठ होता है; फेक न्यूज होती है; धर्मगुरुओं की जमात की मुखालफत नहीं कर सकते, करते हैं तो मारे जाते हैं, पहले वे अल्लाह का वास्ता देते हैं, फिर मारते हैं; सरकारी और प्राइवेट दफ्तरों में सिफारिश, कनेक्शन और पैसे से नौकरियां मिलती हैं। 90 फीसदी लोग सरकार से संतुष्ट नहीं हैं। खुफिया पुलिस का जाल फैला हुआ है; हमें असली आजादी चाहिए। हम खौफ और हुकुमत की ताकत तले जी रहे हैं। अब हमें 'इवोलुशन टू रिवोलुशन' चाहिए।"

इसी इलाके में एक बुक शॉप में गया। अच्छी-खासी किताबें थीं फारसी व इंग्लिश में। ब्रिटिश, रूसी कथाकारों के उपन्यासों (युद्ध और शांति, पुनर्जन्म, मां, ओलिवर ट्विस्ट) से सजे हुए शेल्फ। वहीं राजनीतिक-आर्थिक साहित्य भी दिखाई दिया। दिलचस्पी होने लगी। देखा, मार्क्स, लेनिन, स्टालिन, माओ, गांधी, नेहरू, मंडेला जैसे चिंतकों-युग निर्माताओं का साहित्य भी इंग्लिश और फारसी में उपलब्ध है। अच्छा लगा, एक मुस्लिम देश में ऐसे साहित्य का होना। आस्तिकों के बीच नास्तिकों-काफिरों के साहित्य का होना धार्मिक उदारता की अंतर्धारा का प्रतीक है। ईरान के मौजूदा राष्ट्रपति हसन रूहानी और सर्वोच्च धार्मिक नेता या सुप्रीम लीडर अली खोमैनी को अपने पूर्वर्तियों से अधिक उदार माना जाता है। तेहरान में

यह सुनाई दिया। शेल्फों के एक कोने में एक पतली कद-काठी का युवक बैठा हुआ था। किताब में डूबा हुआ। दिलचस्पी हुई। करीब जा कर बातचीत की। उसने भी अच्छी इंग्लिश में जवाब दिया। देश में फैली गरीबी और बेरोजगारी की बात की। ग्रामीण व कस्बाई ईरान में आज भी पिछड़ापन है। भुखमरी की स्थिति है। हर जगह धार्मिक पुलिसिंग और गुप्तचरी है। विरोध करने पर दमन का कहर टूटता है। वामपंथियों को तो बिल्कुल बर्दाश्त नहीं किया जाता है। मीडिया सिर्फ सरकार की बात कहता है, सही हालात को दबा दिया जाता है। 'यदि यही हाल रहा तो नौजवान खड़े होंगे विश्वविद्यालय खामोश नहीं रहेंगे। मजहबी नेताओं की मनमानी के खिलाफ जलजला आएगा।' बार-बार पूछा, लेकिन नाम नहीं बताया। युवक की वैचारिक काया और देह से इतना ही अंदाज लगा सका कि यह कोई वामपंथी हो सकता है, किसी क्षेत्र



में एक्टिविस्ट भी ! इतना जरूर था, जब मैंने अपने देश और वैचारिक भाषा की पहचान उसके सामने रखी तो वह खुश हुआ। मुझ में भरोसा जगा और खुलकर बातचीत करने लगा पर नाम से गुमनाम रहना ही पसंद किया।

सभी को अभिव्यक्ति की आजादी चाहिए। मैं जिस होटल में रुका हूँ, खबरों के चैनल नियंत्रित हैं। काफी जद्दोजहद के बाद दूसरे देशों के चैनल मिल पाते हैं। वाई-फाई में भी यही समस्या है। आसानी से फेसबुक, गूगल, ट्विटर जैसे सोशल मीडिया नहीं मिल पाते। घुमा-फिरा कर पकड़ में आते। फिर भी दावा है कि मीडिया के मामले में ईरान एक 'खुला देश' है। मीडिया पर कोई पाबंदी नहीं है; 22 राष्ट्रीय और 60 प्रादेशिक चैनल हैं; सभी चैनलों की मालिक सरकार है। इसी में शामिल है इंग्लिश, अरबी और उर्दू के सात चैनल भी। एक-दो चैनल पर बॉलीवुड की फिल्में जरूर दिखाई जाती हैं। अधिकांश चैनलों पर शहीदों और शहादत को गौरवान्वित किया जाता है। मजहबी प्रचार होता है। इस्लामी संघर्ष के व्याख्यानों को पेश किया जाता है, इस्लामी क्रांति के इतिहास को दोहराया जाता है। तेहरान का युद्ध संग्रहालय देखने लायक है।

... जाहिर है, इससे जनता को अनुकूलित किया जाता है बड़ी बारीकी के साथ। फिर भी लोग जुगाड़ कर ही लेते हैं पश्चिमी मीडिया में झांकने का। दुनिया भर के सोशल मीडिया से चिपके रहते हैं और आजादी की हवा उनके सपनों और विचारों को स्पर्श करती रहती है।

अलबत्ता, प्रिंट मीडिया निजी क्षेत्र में है। काफी हद तक स्वतंत्र है। ईरान की प्रसिद्ध फारस न्यूज एजेंसी के दफ्तर भी गए। बताया गया, कुल 49 न्यूज एजेंसीज हैं जिसमें 'इरना' सरकारी है, इंग्लिश भाषा के प्रमुख अखबार हैं तेहरान टाइम्स और क्यहम इंटरनेशनल। देश में कुल 23 दैनिक निकलते हैं जिनमें 3 इंग्लिश और एक अरबी में। 2002-4 के बीच 85 अखबारों को बंद कर दिया गया। वैसे दावा है कि मीडिया पूरी तौर पर आजाद है, कोई सेंसरशिप नहीं है, सरकार की नीतियों की आलोचना की जाती है, सूचना के अधिकार का इस्तेमाल किया जाता है। पत्रकारों की पेशेवर आजादी के लिए एक अलग से अदालत होती है। कोई

नेता, मंत्री, अधिकारी या धार्मिक नेता प्रेस को धमकता है- डराता है, तो उसके खिलाफ इस अदालत में शिकायत की जा सकती है। पत्रकार संपादक का दावा था, "सोशल मीडिया बहुत ताकतवर और जीवंत है। सारांश में, ऐसा कोई क्षेत्र या विषय नहीं जिस पर हम कलम नहीं चला सकते। अलबत्ता, कुछ कानून-कायदों का ध्यान रखना पड़ता है। झूठे आरोपों व मानहानि से बचना होता है। यह फेक न्यूज का जमाना है, इसलिए अतिरिक्त सावधानी जरूरी भी है क्योंकि अधिकतर फेक न्यूज फासीवाद से जुड़ी रहती हैं। कट्टरवाद का प्रचार करती हैं और गुमराह करती हैं।" मीडिया जमीन से जुड़ा है और गांव तक फैल गया है। इसलिए धार्मिक राष्ट्र के बावजूद लोगों की लोकतांत्रिक नजरें शासकों पर जरूर टिकी हुई हैं। इसलिए जलजले की रफ्तार तेज रहेगी। 2011 में मिस्र के 'स्प्रिंग रेवोल्यूशन' के प्रति चेतना आम लोगों में दिखाई दी।

एक सत्य को स्वीकार करना होगा। ईरानियों में है बला की जिजीविषा; 1979 में इस्लामी क्रांति के तुरंत बाद पड़ोसी शिया देश इराक के साथ युद्ध झेला। आठ सालों (22 सितंबर 1980 से 20 अगस्त, 1988) तक। दोनों शिया देशों के करीब पांच लाख लोग मरे, हजारों हताहत हुए; 1980 से ही ईरान अमेरिकी प्रतिबंधों का सामना कर रहा है। अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रम्प ने इन प्रतिबंधों को और कड़ा कर दिया है। लेकिन, सरकारी और आम लोग, दोनों ही प्रतिबंधों से बेपरवाह हैं। निश्चित हो कर अपने राष्ट्र की दिनचर्या को जारी रखे हुए हैं। ईरानियों की नजर में "70 प्रतिशत प्रतिबंध मनोवैज्ञानिक हैं, 30 प्रतिशत वास्तविक हैं।" मगर यह देश विचित्र विडंबनाओं का शिकार भी मिला; एक तरफ ओसत ईरानी की नजर में राष्ट्रपति ट्रम्प 'महाखलनायक' हैं, वहीं दूसरी तरफ अमेरिका या पश्चिमी जगत में बसने की बेपनाह ख्वाहिश भी है! गोरों के लिए मोहब्बत भी है। इस मुद्दे पर राज्य और अवाम के बीच सहमति भी मिली, और असहमतियां भी। बावजूद उपभोक्तावाद के, ईरानी परंपराओं को लेकर गर्व भी करता है और फौलादी इरादे भी रखता है। और यही इरादे 'तूफानी बदलाव का सबब' भी बनेंगे!

(दो)

1979 में ईरान के इस्लामी गणतंत्र के संस्थापक इमाम रूहोल्लाह खोमैनी के विचारों का अध्ययन करें तो देखेंगे कि उन्होंने शुरू से अंत तक दुनिया भर के "दबे-कुचलों की एकता और संगठित ताकत" की बात कही है। वे अपने सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक सरोकारों के दायरे में दक्षिण अमेरिका, उत्तरी अमेरिका, अफ्रीका, एशिया जैसे सभी महाद्वीपों-उपमहाद्वीपों की उत्पीड़ित-शोषित मानवता को संबोधित करते हैं। सभी प्रकार के अन्याय, जुल्म, असमानता के खिलाफ उठ खड़े होने का आह्वान करते हैं। वे यह भी कहते हैं "एक देश और सभी देशों के दबे-कुचलों को चाहिए कि वे अपनी मुट्टी की ताकत को समझें और उसके बल पर अपने हकों को हासिल करें। उन्हें इसका इंतजार नहीं करना चाहिए कि उनके हक उन्हें दे दिए जाएंगे। अहंकारी, किसी को भी उसका हक नहीं देगा।" वे अपने अनुयायियों को यह भी ताकीद करते हैं, "दुनिया भर के दबे-कुचलों, चाहे मुस्लिम रहें या गैर-मुस्लिम, की एक पार्टी होनी चाहिए। गैर-मुस्लिम सरकारें भी अपने अवाम का दमन-उत्पीड़न करती हैं ..." (24 अगस्त, 1979) इस नजर से देखें तो इमाम अयातुल्लाह खोमैनी ने मुसलमानों और गैर-मुसलमानों के बीच कोई फरक नहीं किया है। हालांकि, उनकी चिंताओं के केंद्र में मुसलमान हैं। अपने सरोकारों में इमाम साहब राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय सीमाओं से ऊपर भी उठ जाते हैं। वे मानते हैं कि महा शक्तियां राष्ट्रवाद के हथियार के माध्यम से अपना आधिपत्य स्थापित करती हैं। इसलिए इन शक्तियों के खिलाफ उठ खड़ा होना चाहिए।

वास्तव में, 1978-79 की इस्लामी क्रांति ईरान में अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी दादागीरी के खिलाफ हुई थी। ईरान के तत्कालीन शासक या शाह मोहम्मद रजा पहलवी ने अपने देश का निर्ममता के साथ पश्चिमीकरण कर दिया था। योरो-अमेरिकी ब्लॉक को खुल कर खेलने-लूटने की इजाजत दे रखी थी। ईरान की आर्थिक प्राण वायु-तेल पर विदेशी कंपनियों का अधिकार था। सारांश में, जिस तरह दक्षिण अमेरिका में उत्तरी अमेरिका का आधिपत्य था, वैसी ही कम-अधिक स्थिति ईरान में

थी। इससे समाज में निर्मम असमानता पैदा हो गई थी। गरीबी-बेरोजगारी बेइतिहास थी। जाहिर है, लोगों में शाह और उनके सरपरस्त विदेशी राष्ट्रों के खिलाफ असंतोष व गुस्सा फैलता चला गया। इस्लामी क्रांति, इसका अंतिम मुकाम या मजिल थी। शाह रजा पहलवी को देश छोड़ भागना पड़ा। इसके बाद 'इस्लामी गणतंत्र' स्थापित हुआ, लंबे संघर्ष और कुर्बानियों से।

अब सवाल यह है कि क्या इमाम साहब के सपनों का ईरानी समाज बन पाया है? क्या ईरान में दबे-कुचलों का निजाम कायम हो गया है? क्या ईरान की इस्लामी क्रांति ने वह सब कुछ कर दिखाया है जिसे पूंजीवादी क्रांति और साम्यवादी क्रांति करने में असफल रही हैं? क्या मजहबी ईरानी राज्य से जहालत, गुरबत, नाइंसाफी का सफाया कर दिया गया है? इस्लामी ईरान में न कोई छोटा है, न कोई बड़ा; न कोई गरीब है, न कोई अमीर। सब बराबर हैं। क्या चालीस साल में ऐसा राज स्थापित हो सका? कम-से-कम, इसकी तस्दीक, ईरानी गणतंत्र की वर्तमान सूरत तो नहीं करती है। ऐसा मुझे लगा। कुछ तथ्यों की कहानी इस प्रकार है। ईरान प्रवास के आखिरी दिन चेंबर ऑफ कॉमर्स के चेयरमैन के सलाहकार डॉ. ए. आर. गोल्पयेगनी ने इस सच्चाई को खुले दिल से स्वीकार किया, "ईरान में 11 फीसदी से अधिक बेरोजगारी है। समाज में असमानता बढ़ी है" उन्होंने इस बात को भी स्वीकार किया कि इस्लामी क्रांति के बाद निजी पूंजी का दबदबा कम नहीं हुआ है, "ईरान में तेजी से निजीकरण हो रहा है। केंद्रीय उद्योग का निजीकरण किया गया है। बैंकों और उद्योग का निजीकरण किया गया है। देश का आर्थिक ढांचा त्रिस्तरीय है: सरकार, निजी क्षेत्र और सहकारी क्षेत्र। देश के प्रभावशाली पदों पर रहने वाले इस सरमायेदार ने यह दिलचस्प-नायाब दावा भी किया, "ईरान का निजीकरण, पश्चिम के निजीकरण से अलहदा है। दोनों में फरक है।" क्या निजीकरण उर्फ पूंजीवाद के चरित्र में बुनियादी अंतर हो सकता! मूलतः निजीकरण, पूंजीवाद का ही विस्तार है। निजीकरण या निजी मलिकयत से ही पूंजीवाद प्रतिबिंबित होता आया है। उन्होंने यह जरूर माना, "लेकिन चंद हाथों में दौलत

जमा नहीं होनी चाहिए। इससे विषमता बढ़ती है। सामाजिक न्याय नहीं हो पाता है। लेकिन मुझे यकीन है, ईरान में निजीकरण से सामाजिक न्याय अस्तव्यस्त नहीं होगा।" इसके साथ ही उन्होंने साफ शब्दों में यह भी कहा, "वैसे विषमता नहीं बढ़नी चाहिए। मगर अगले दस सालों में क्या होगा, कैसी स्थिति जन्म लेगी, मैं नहीं जानता।" इमाम साहब सादगी पसंद थे। जिस घर में उन्होंने अंतिम सांसें लीं थीं, वे बेहद सादा-साफ-सुथरा लगा। लेकिन, क्या उनके उत्तराधिकारियों की जीवन शैली भी उतनी ही सादा व प्रेरक है? आमलोग ऐसा नहीं मानते हैं। यहां तक की इमाम खोमैनी का समाधि स्थल भी भव्य है। उनके जीवन से ठीक विपरीत। भारत भी इससे अलहदा कहा है। गांधीजी की विरासत के मालिक उन्हें ही चिढ़ा रहे हैं।

विभिन्न कंपनियों में उच्चपदों पर आसीन गोल्पयेगनी के कथन से इतना तो स्पष्ट है कि ईरान में अपेक्षित सामाजिक साम्य व्यवस्था अभी अपनी मंजिल से बहुत दूरस्थ है। निजी पूंजीवाद का अंतर्निहित चरित्र है विषमता को जन्म देना अन्यथा उसका ही अस्तित्व संकटग्रस्त हो जाएगा। चूंकि, ईरान एक अच्छा-खासा औद्योगिक देश है तो पूंजीवाद के विस्तार की संभावना कम नहीं है। यदि राज्य पूंजीवाद और निजी पूंजीवाद परस्पर आश्रित हो जाएं, तो स्थिति और विकट हो सकती है और सामाजिक खाई और अधिक चौड़ी हो सकती है।

बेशक, इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि पिछले चार दशकों में स्थिति में क्रांतिकारी सुधार हुआ है। 99 प्रतिशत हवाई अड्डे कार्यरत हैं; 80 प्रतिशत आबादी के पास स्मार्ट फोन हैं; करीब दो प्रतिशत लाख कि.मी. सड़कें हैं; 1लाख 50 हजार कि.मी. हाईवे हैं; प्रतिबंधों के बावजूद विदेशी पूंजी नियोजन हो रहा है: 38 लाख बैरल तेल का उत्पादन प्रतिदिन किया जाता है जिसमें से 10 लाख का निर्यात होता है और आठ प्रतिशत की जीडीपी है। प्रतिवर्ष 140 फिल्में बनती हैं... शिक्षा के मामले में भी ईरान पीछे नहीं है। लेकिन इन सबके बावजूद, ईरान के अधिकृत क्षेत्रों ने स्वीकार भी किया कि "समाज का एक हिस्सा वर्तमान व्यवस्था से संतुष्ट नहीं है।" देश में भ्रष्टाचार है।

अमेरिका समर्थित आतंकवाद है। वैसे इस्लामी स्टेट के एक्टिविस्ट सफल नहीं हो सके हैं। वैश्विक सूचना सीमित है। देश में ऐसे भी लोग जरूर हैं जो इस्लामिक व्यवस्था का विरोध भी करते हैं। नीतियों को पसंद नहीं करते हैं। अधिकतर लोग मानते हैं, "सरकार युवाओं के साथ पटरी बैठाने में नाकाम हो रही है।" वैसे अमेरिकी प्रतिबंधों से मुकाबला करने में निजी पूंजी व क्षेत्र को काफी तरजीह दी जा रही है।

जिम्मेदार क्षेत्रों का यह भी कहना है, "ईरान में तलाक की घटनाएं बढ़ रही हैं। शादियां टूट रही हैं। तलाक की असली वजह है पतियों द्वारा नशीलें पदार्थों का सेवन। करीब 50 प्रतिशत औरतें होती हैं जिन्हें तलाक चाहिए जबकि पति इससे बचना चाहते हैं। युवाओं में अफीम की लत बढ़ती जा रही है। अफीम को सस्ती दरों पर चोरी-छिपे बेचा जाता है। अफीमची पति अपनी पत्नियों पर अत्याचार करते हैं। और इसके बाद फैमिली कोर्ट में मामला पहुंच जाता है। हालांकि महिला मामलों की विभाग की निदेशक डॉ. सिद्दीकी एजाजी का दावा है, "पश्चिम की तुलना में ईरान में तलाक का प्रतिशत कम है। समाज में औरतों का और उनके प्रति नजरिए में जबरदस्त बदलाव आया है; अब वे अपनी सुंदरता के प्रति जागरूक बनी हैं; उन्हें आजादी चाहिए। उन्हें आनंद चाहिए। मगर इस जागरूकता के साथ-साथ विकृतियां भी पैदा हुई हैं। इसे रोकने की इस्लामी क्रांति कोशिश कर रही है। सामाजिक कार्यों में महिलाओं को 100 प्रतिशत सक्रिय किया जा रहा है।; आज महिलाएं चांसलर, वाईस चांसलर बन रही हैं, जबकि क्रांति से पहले 30 प्रतिशत महिलाएं शिक्षित थीं। हम चाहते हैं कि आधुनिकाएं बनने के साथ-साथ एक अच्छी माताएं भी बनें। पत्नी बनें और समाज सुधारिका भी बनें।"

अमेरिका के सांस्कृतिक हमलों या पश्चिम के 'सॉफ्ट वार' के कारण युवा वर्ग में व्यक्तिवाद व भटकाव बढ़ रहे हैं। महिलाएं फैसला ले रही हैं। उनमें अस्मिता बोध तेजी से जाग रहा है जिसके साथ पुरुष समाज अपनी पटरी नहीं बैठा पा रहा है। वैसे अब शादियां परिपक्व होने के बाद की जा रही हैं- लड़कियां 25-26 की होने के बाद करती

हैं, जबकि लड़के 27-28 के बीच। परोक्ष रूप से एक वर्ष के लिए 'लिव इन रिलेशन' की व्यवस्था है। सरकार को कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन युवक मूलतः परिवार विरोधी नहीं हैं, लेकिन सरकार के आलोचक हैं। "भारत में रहे ईरान के पूर्व राजदूत, जो बेंगलुरु में विद्यार्थी के रूप में भी रहे थे, डॉ. अंसारी ने स्वीकार किया" हमने इस्लामिक क्रांति से काफी कुछ उपलब्ध किया है, लेकिन 100 फीसदी से काफी दूर हैं। सामाजिक न्याय से दूर हैं। अभी इसके लक्ष्यों को प्राप्त करना बाकी है।"

राजसत्ता के बतौर समाजवादी क्रांति अभी "बैक फुट" पर है। 1991 में सोवियत संघ के पतन और चीन में बढ़ते पूंजीवाद के कारण कुछ बुनियादी सवाल जरूर पैदा हो गए हैं; क्या इस्लामी क्रांति या धार्मिक क्रांतियां समाजवादी क्रांति का विकल्प बन सकती हैं? क्या इस क्रांति की कोख से नए मानव के निर्माण का वैकल्पिक नैरेटिव अस्तित्व में आ सकता है?

जहां तक मैं समझता हूँ, इस मजहबी क्रांति से मुमकिन नहीं है। ईरान राज्य का संपत्ति चरित्र बरकरार है। ठीक है, शाह की तानाशाही का खात्मा जरूर हुआ है लेकिन क्या सामंती और पूंजीवादी अंतरविरोधों का समाधान किया जा सकता? मध्ययुगीनता और आधुनिकता; ग्रामीण और शहरी के अंतरविरोधों का शमन हो सकता है? धर्म एक सीमा तक प्रतिरोध को रोक सकता है, अंतरविरोधों को डिफ्यूज कर सकता है, उन पर भावनाओं की खाक डाल सकता है, लेकिन उनका स्थायी समाधान नहीं कर सकता। इस्लामी क्रांति के प्रणेता इमाम साहब जीवन भर राष्ट्रवाद से ऊपर उठने और मुसलमानों के बीच बिरादराना भाव पैदा करने का उपदेश देते रहे। उन्होंने कहा है कि इस्लाम और मुसलमानों की अच्छाइयों के खिलाफ है राष्ट्रवाद। लेकिन क्या इस्लामी क्रांति मुस्लिम संसार के अंतरविरोधों का माकूल समाधान कर सकती? क्या मुसलमान और इस्लामी राष्ट्र एक हो सके? क्या शिया, सुन्नी, खुर्दिश तथा कबाईली मुस्लिम समाज के बीच व्याप्त अंतरविरोधों को दूर किया जा सकता है? क्यों आज भी मुस्लिम संसार अशांत और युद्धग्रस्त है? मैं समझता हूँ, ईरान में इस्लामी क्रांति 'ठिटुर' गई है। इस सदी में इसे नए विजन का 'पुश' चाहिए। ■

# साहित्य अकादेमी या द्विज साहित्य अकादेमी?

एक संवाददाता

भिखारी ठाकुर के जीवन पर आधारित सजीव के उपन्यास सूत्रधार के नायक भिखारी ठाकुर अपने प्रति होने वाले जातिगत पक्षपातों पर रुआंसा होकर अविनाश चंद्र विद्यार्थी से कहते हैं-

'जिस साहित्य और साहित्यकार को वे इतनी बड़ी चीज मानते आए थे, वहां भी कनफुसुकिया और चपड़ चालाकी, वही डाह, वही 'बाभन-सूद' चलता है क्या! रामजी हे रामजी! उसी से बचने के लिए साहित्य और कला में आए और यहां भी वही...! चौबे जी की तरह विद्वान होते तो... नहीं नहीं, चौबे जी की तरह विद्वान ब्राह्मण होते तो और बात थी, खाली 'बाभन' होते तो भी चलता!'

(सूत्रधार, पृ. 304)

साहित्य अकादेमी के सन् 1955 से लेकर 2017 तक के हिंदी में सम्मान प्राप्त करने वालों की वर्षवार, पुस्तकवार और मजबूरन जातिवार सूची दी जा रही है। दूरबीन लेकर ढूंढिए, सूची में एक भी पिछड़े, शूद्र, अतिशूद्र, अल्पसंख्यक (नारी या पुरुष) का नाम है? या किसी अल्पसंख्यक का नाम है? साहित्य अकादेमी के कर्ताधर्ता, विद्वान और भारत सरकार के लोग क्या बताने की कृपा करेंगे कि आखिर ऐसा क्यों है! क्या विगत 63-64 सालों में एक भी जन्मना गैर द्विज साहित्यकार के साहित्य को इस सम्मान योग्य नहीं पाया गया? और तो और आचार्य चतुरसेन शास्त्री, फणीश्वरनाथ रेणु और राजेंद्र यादव को भी नहीं? जब रेणु और राजेंद्र ही नहीं माने गए तो दूसरों की क्या बिसात है!

आश्चर्य की बात है कि इस सूची में कोई मुसलमान लेखक भी नहीं है- राही मासूम रजा, शानी, बदी उज्जमा, अब्दुल बिस्मल्ला, असगर वजाहत, आबिद सुरती... कोई नहीं। सूची में जिन चार महिला लेखकों के नाम हैं, उनमें एक भी पिछड़े, दलित (शूद्र, अतिशूद्र) परिवारों की नहीं हैं। जो एक हैं नासिरा शर्मा

उनके साथ भी शर्मा (ब्राह्मण) लगा है।

साहित्य अकादेमी कोई अमूर्त संस्था नहीं है। इसके निदेशक, सचिव, पदाधिकारी, जूरी के सदस्य हाड़-मांस के पुतले होते हैं। इस जात-पात के कोढ़ से ग्रस्त समाज में कोई पक्षपात विहिन निर्णय हो पाएगा ऐसा सोच पाना भी कठिन है। सम्मान की जूरी, संस्तुतिकर्ता या निर्णायक मंडल के सदस्य कौन लोग होते आए हैं जो जातिवाद के विरुद्ध और साहित्य, कला, संस्कृति और मानवता के पक्ष में अपने लेखन और भाषण में बढ़-चढ़ कर बोलने वाले इस बिंदु पर आकर न्याय के पक्ष में आवाज उठाने में लाचार क्यों हो जाते हैं? क्या हाथी के दांत खाने और दिखाने के अलग-अलग हैं?

तर्क देने वालों के हजारों कुतर्क हो सकते हैं, मसलन छूटे हुए नामों में निराला, मुक्तिबोध, नागार्जुन, दुष्यंत कुमार जैसे अनेक नाम हैं। जहां तक निराला का प्रश्न है, वह 'ब्राह्मण समाज में क्यों अछूत' बनकर रहे।

आज अमीरों की हवेली  
किसानों की होगी पाठशाला  
धोबी, पासी, चमार, तेली  
खोलेंगे अंधेरे का ताला

....

कैसे स्वीकार्य होते!

राहुल सांकृत्यायन की स्थिति भी कोई बेहतर नहीं। उनका निष्कर्ष था, हिंदुस्तान तो सबसे बड़े नरक में है, क्योंकि इसके ऊपर बिलायती जोकों की गुलामी भी है और अपनी भी! 'सतमी के बच्चे' जैसी कहानियां और उनका पूरा साहित्य साक्षी है। ऐसे राहुल जी को साहित्य अकादेमी सम्मान मिल गया तो इसके पीछे जवाहर लाल नेहरू थे। नागार्जुन तो खुलेआम सामाजिक न्याय और दबे-कुचले लोगों के पक्षधर थे। उन्होंने 'सूअर' पर भी कविता लिखी- यह भी तो मादरे हिंद की बेटी

हैं। नागार्जुन को यह कहकर हटाया गया कि उन्हें मैथिली में पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। नागार्जुन मैथिली से ज्यादा हिंदी के साहित्यकार थे। इस भौंडे बहाने के बरक्स नोबेल पुरस्कार को रखते हैं- मैडम क्यूरी को दो-दो बार नोबेल मिल चुका है।

औरों को भी किसी न किसी बहाने छांटा गया होगा, निष्पक्ष द्विजों को भी। हमें तो लगता है, आज प्रेमचंद भी होते तो उन्हें भी अकादेमी ने इसी बिनाह पर इस अयोग्य माना होता। 'दुष्यंत' और 'अदम' जैसे कितने जन्मना द्विज, जनता के कवि थे, मगर ऐसे सारे जनपक्षधर अकादेमी द्वारा नकारे गए। 'ऐसे अनेक साहित्यकार हैं, जिन्हें अकादेमी ने सम्मानित किया भी तो ज्यादातर उनकी दोयम दर्जे या नखदंत विहीन कृतियों को सम्मानित किया, जबकि उनकी तेजस्वी कृतियों को छोड़ दिया। साहित्य अकादेमी का काम क्या तेजस्विता पर धूल डालना भर रह गया है? सारा आयोजन-प्रयोजन अच्छे साहित्यकार को निष्प्रभ और हाशिये के बाहर करने जैसा क्यों लगता है?

ऐसा नहीं है कि वंचित जनपक्षधर, ओबीसी, स्त्री, दलित और अल्पसंख्यक साहित्य अकादेमी के सम्मान के लिए मरे जा रहे हैं, पर अगर हों तो गलत क्या है? तुम पियो तो पुण्य, हम पिएं तो पाप! परीक्षाओं और साक्षात्कारों में क्यों पूछा जाता है कि अमुक लेखक को कितने सम्मान मिले हैं, किस कृति को अमुक-अमुक पुरस्कार या सम्मान मिला है, विदेश यात्राओं और दीगर चीजों पर यह मुद्दा प्रभाव डालता है। सबसे बुरा यह कि जनता में वही गलत संदेश जाता है। कुल मिलाकर यह भ्रम या गलत संदेश की स्थिति फैलती है कि एक निर्णय रोजी-रोटी और सम्मान से जीने के लिए कई-कई निर्णयों को प्रभावित करता है।

ध्रुव और उत्तम की वह मिथकीय कथा याद आती है जहां पिता की गोद में बैठने को गए ध्रुव को उत्तम की मां यह कहकर वंचित करती है कि गोद में बैठने के लिए तुम्हें मेरी कोख से जन्म लेना चाहिए था।

अगर ऐसा नहीं है तो क्या अकादेमी एक श्वेत पत्र जारी करेगी- सम्मानित लेखक, पुस्तक, वर्ष के साथ-साथ यह भी कि विचारार्थ अन्य किन-किन लेखकों की किन-किन कृतियों को शामिल किया गया, जूरी के

## साहित्य अकादेमी सम्मान ( हिंदी )

वर्ष	नाम	पुस्तक	जाति
1955	माखनलाल चतुर्वेदी	हिम तरंगिनी ( कविता)	ब्राह्मण
1956	वासुदेव शरण अग्रवाल	पद्मावत संजीवनी व्याख्या ( टीका)	वैश्य
1957	आचार्य नरेंद्र देव	बौद्ध धर्म दर्शन	खत्री
1958	राहुल सांकृत्यायन	मध्य एशिया का इतिहास( इतिहास)	ब्राह्मण
1959	रामधारी सिंह 'दिनकर'	संस्कृति के चार अध्याय ( शोध)	भूमिहार ब्राह्मण
1960	सुमित्रानंदन पंत	कला और बूढ़ा चांद ( कविता)	ब्राह्मण
1961	भगवतीचरण वर्मा	भूले बिसरे चित्र( उपन्यास)	कायस्थ
1963	अमृत राय	कलम का सिपाही ( जीवनी)	कायस्थ
1964	अज्ञेय	आंगन के पार द्वार( कविता)	ब्राह्मण
1965	नगेंद्र	रस सिद्धांत ( कविता समालोचना)	ब्राह्मण
1966	जैनेंद्र कुमार	मुक्तिबोध ( उपन्यास)	जैन
1967	अमृतलाल नागर	अमृत और विष ( उपन्यास)	ब्राह्मण
1968	हरिवंश राय 'बच्चन'	दो चट्टानें ( कविता)	कायस्थ
1969	श्रीलाल शुक्ल	राग दरबारी( उपन्यास)	ब्राह्मण
1970	रामविलास शर्मा	निराला की साहित्य साधना( जीवनी)	ब्राह्मण
1971	नामवर सिंह	कविता के नए प्रतिमान ( साहित्य आलोचना)	राजपूत
1972	भवानी प्रसाद मिश्र	बुनी हुई रस्सी ( कविता)	ब्राह्मण
1973	हजारी प्रसाद द्विवेदी	आलोक पर्व ( आलेख संग्रह)	ब्राह्मण
1974	शिवमंगल सिंह सुमन	माटी की बारात( कविता)	राजपूत
1975	भीष्म साहनी	तमस ( उपन्यास)	खत्री
1976	यशपाल	मेरी तेरी उसकी बात( कविता)	खत्री
1977	शमशेर बहादुर सिंह	चुका भी हूं नहीं मैं ( कविता)	जाट
1978	भारत भूषण अग्रवाल	उतना वह सूरज है ( कविता)	वैश्य
1979	सुदामा पाण्डेय 'धूमिल'	कल सुनना मुझे( कविता)	ब्राह्मण
1980	कृष्णा सोबती	जिंदगीनामा( उपन्यास)	खत्री
1981	त्रिलोचन	ताप के ताये हुए दिन ( कविता)	राजपूत
1982	हरिशंकर परसाई	विकलांग श्रद्धा का दौर ( व्यंग्य)	ब्राह्मण
1983	सर्वेश्वर दयाल सक्सेना	खूंटियों पर टंगे लोग ( कविता)	कायस्थ
1984	रघुवीर सहाय	लोग भूल गए हैं( कथा संग्रह)	कायस्थ
1985	निर्मल वर्मा	कच्चे और काला पानी ( कथा संग्रह)	खत्री
1986	केदारनाथ अग्रवाल	अपूर्वा ( कविता)	वैश्य
1987	श्रीकांत वर्मा	मगध ( कविता)	कायस्थ
1988	नरेश मेहता	अरण्य ( कविता)	ब्राह्मण
1989	केदारनाथ सिंह	अकाल में सारस ( कविता)	राजपूत
1990	शिवप्रसाद सिंह	नीला चांद ( उपन्यास)	राजपूत
1991	गिरजाकुमार माथुर	मैं वक्र के हूँ सामने ( कविता)	कायस्थ
1992	गिरिराज किशोर	ढाई घर( उपन्यास)	वैश्य
1993	विष्णु प्रभाकर	अर्द्धनारीश्वर( उपन्यास)	वैश्य
1994	अशोक वाजपेयी	कहीं नहीं वहीं ( कविता)	ब्राह्मण
1995	कुंवर नारायण	कोई दूसरा नहीं ( कविता)	मारवाड़ी जैन
1996	सुरेंद्र वर्मा	मुझे चांद चाहिए ( उपन्यास)	कायस्थ
1997	लीलाधर जगूड़ी	अनुभव के आकाश में चांद ( कविता)	ब्राह्मण
1998	अरुण कमल	नए इलाके में ( कविता)	ब्राह्मण
1999	विनोद कुमार शुक्ल	/दीवार में एक खिड़की रहती है ( उपन्यास)	ब्राह्मण
2000	मंगलेश डबरा	हम जो दिखते हैं ( कविता)	ब्राह्मण
2001	अलका सरावगी	कलिकथा: वाया बाईपास ( उपन्यास)	मारवाड़ी
2002	राजेश जोशी	दो पंक्तियों के बीच ( कविता)	ब्राह्मण
2003	कमलेश्वर	कितने पाकिस्तान( उपन्यास)	कायस्थ
2004	वीरेन डंगवाल	दुश्चक्र में सृष्टा( कविता)	ब्राह्मण

वर्ष	नाम	पुस्तक	जाति
2005	मनोहर श्याम जोशी	क्याप ( उपन्यास)	ब्राह्मण
2006	ज्ञानेंद्रपति	संशयात्मा ( कविता)	ब्राह्मण
2007	अमरकांत	इन्हीं हथियारों से ( उपन्यास)	कायस्थ
2008	गोविंद मिश्र	कोहरे में कैद रंग( उपन्यास)	ब्राह्मण
2009	कैलाश वाजपेयी	हवा में हस्ताक्षर ( कविता)	ब्राह्मण
2010	उदय प्रकाश	मोहनदास ( कहानी)	राजपूत
2011	काशीनाथ सिंह	रेहन पर रघू ( उपन्यास)	राजपूत
2012	चंद्रकांत देवताले	पत्थर फेंक रहा हूँ ( कविता)	ब्राह्मण
2013	मृदुला गर्ग	मिल जुल मन ( उपन्यास)	वैश्य
2014	रमेश चंद्र शाह	विनायक( उपन्यास)	वैश्य
2015	रामदरस मिश्र	आग की हंसी ( कविता)	ब्राह्मण
2016	नासिरा शर्मा	पारिजात ( उपन्यास)	मुसलमान /ब्राह्मण
2017	रमेश कुंतल मेघ	विमिथकसरित्सागर	ब्राह्मण
2018	चित्रा मुद्गल	नाला सोपारा पो.बा.नं.203 ( उपन्यास)	राजपूत/ब्राह्मण

सदस्य कौन थे, निदेशक कौन, संस्तोता कौन, उनमें पात्रता थी या नहीं चयन/निर्णय करने की ? क्या निर्णायक मंडल को प्रकाशित सभी श्रेष्ठ कृतियों की जानकारी थी ? ऐसा इसलिए कि कम-अज-कम पता तो चले कि वे अर्हताएं कौन-कौन सी हैं जो उन्हें प्राप्त करनी चाहिए थीं। ज्यादा नहीं, विगत 10 वर्षों की सूची जारी करें।

ऐसा क्या हो गया कि सारी बौद्धिक प्रतिभा द्विजों तक ही केंद्रित हो गई और विगत 63 वर्षों में एक भी गैर द्विज इस स्तर तक न पहुंच सका ? प्रगतिशील माने जाने वाले एक शीर्ष पत्रकार ने तो एक बार यहां तक कहा था कि सभी क्षेत्रों में श्रेष्ठ प्रतिभाएं ब्राह्मण वंश से ही आती हैं। क्या मतलब... ? वर्गों की तरह वर्णों में भी साहित्य बंटा होता है और गैर द्विजों पर घृणा से थूकते थे वे दुर्वासागण हमेशा प्रचारित-प्रसारित-पूजित होते रहते हैं।

साल-दर-साल यह सब स्वस्थ साहित्य के नाम पर चलाया जाता रहा और कोई चूं तक नहीं करता कि कहीं उनका नाम लिस्ट में आते-आते निकाल न दिया जाए।

साहित्य अकादेमी सम्मान के इस मत्स्य न्याय के पक्ष में यह भी तर्क दिए जा सकते हैं कि राधाकृष्ण, धर्मवीर भारती, रांगेय राघव, मोहन राकेश, शरद जोशी, सुरेंद्र चौधरी आदि सवर्ण प्रतिभाएं भी तो थीं जिन्हें अकादेमी सम्मानित न कर सकी, कि भारत की प्रायः आधी आबादी वाली हिंदी के लिए एक सम्मान है और शेष भाषाएं, जिनमें कतिपय भाषाओं के बोलने वालों की कुल संख्या कुछ एक लाख

ही है, के लिए भी एक सम्मान, तो सबको अकादेमी कैसे मिलती ! पूछा जाए, क्यों ? एक ही वर्ष में सम्मान एकाधिक लोगों को देने का नियम भी तो बनाया जा सकता है। ज्ञानपीठ ने अपना सम्मान बांटा या नहीं ? नोबेल पुरस्कार तो प्रायः हर साल बंटते देखे गए हैं। अपनी इसी असूझ मात्र की मारी होती अकादेमी तो ऐसी दुविधाएं दूर की जा सकती हैं, पर नहीं।

मजेदार बात है कि अकादेमी निराला की साहित्य-सर्जना का सम्मान नहीं करती, वहीं 'निराला की साहित्य साधना' को सम्मान योग्य मानती है। कभी-कभी लगता है, यह सब बहुत सचेत भाव से नहीं होता होगा, किंचित स्वतः स्फूर्त भाव से होने लगा होगा। तो क्या अतिसंख्य लोगों का ऐसा ही मानना है ? अपने अंधकूप कम्फर्ट जोन के बाहर आकर देखें तो जन्मगत आधारों की धुरी धसकने लगी है। अब, जबकि बौद्धिकता की नई-नई अर्गलाएं, आयाम और वितान खुलने लगे हैं, साहित्य अकादेमी या ऐसी तमाम संस्थाएं अपने वर्गों-वर्णों तक ही सीमित रखकर उन्हें बौद्धिक दारिद्र्य में कैद रखने का सांस्कृतिक अपराध नहीं कर रही हैं ? एक बार जरा मुड़कर देखें तो पता चलेगा कि रोकने की इतनी कोशिशों के बावजूद क्या रेणु, राजेंद्र यादव, राही मासूम रजा, रांगेय राघव आदि के साहित्य की स्वीकार्यता को अकादेमी रोक पाई। वे आज भी लोकप्रिय हैं जबकि अकादेमी के सम्मानित अधिकतर साहित्य को कोई पूछता भी नहीं है। ■

# जब एक इंसान गुजर गया

## विद्यार्थी चर्चर्ची

“ बिछड़ने की घड़ी आ गई है और हम अपनी-अपनी राह पर चल पड़े हैं, मैं मर जाऊंगा और तुम जीते रहोगे। इसमें क्या बेहतर है, सिर्फ भगवान ही जानता है। ”

—एपोलॉजी, प्लेटो। ओरिएना फैलेसी की किताब ए मैन के आवरण पर उद्धृत।

तीस साल पहले एक इंसान गुजर गया। एक जनवरी 1984 को सफदर हाशमी और जन नाट्य मंच (जिस स्ट्रीट थियेटर समूह के वह दिल दिमाग थे) के उनके साथियों पर (दिल्ली के पास औद्योगिक कस्बे) साहिबाबाद में हमला हुआ। उस समय वह हल्ला बोल नाटक का मंचन कर रहे थे। अपनी ख्यात साहसिकता से सफदर ने हमलावरों के ज्यादा वार खुद सहे। अगले ही दिन उन घावों के कारण वह गुजर गए।

सफदर हाशमी माकपा के एक नामी गिरामी कार्यकर्ता थे, जिनकी संस्कृति के क्षेत्र में भी तूती बोलती थी। ओपन थियेटर मंचों द्वारा अधिकतर मजदूर वर्ग और मध्य वर्गीय लोगों को शिक्षित और संगठित करने में उन्हें महारत हासिल थी। जहां तक हत्यारों की पहचान का सवाल है सभी हासिल सबूत कांग्रेस और इंटक के साए में पनप रहे खास स्थानीय गुंडों की तरफ इशारा कर रहे थे।

एक बारगी, राष्ट्रीय समाचारपत्रों ने भी खरी-खरी कहने में कसर नहीं छोड़ी। इस नीच कारनामे के बारे में बेहद खुलकर लिखा गया। और समाज के हर क्षेत्र के लोगों ने, अभी-अभी पैंतीस बरस के हुए, इस अनूठे नौजवान की हत्या की एक आवाज में आलोचना की। यह ऐसा इंसान था, जो जितने आराम से दोस्त बना सकता था उसी तरह अपने आलोचकों को मोह भी लेता था।

हाशमी के निधन के करीब एक हफ्ते बाद, 10 जनवरी को, शबाना आजमी ने नई दिल्ली

में बारहवें अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह में आए लगभग एक हजार से ज्यादा समीक्षकों और प्रतिनिधियों को स्तब्ध कर दिया। स्टेज पर आ कर उन्होंने कांग्रेस की भरपूर आलोचना की कि एक तरफ तो वह कला और संस्कृति को बढ़ावा देने का दावा करती है और दूसरी तरफ एक ऐसे जज्बाती संस्कृतिकर्मी की हत्या करवा देती है जिसने लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष और मेहनतकश वर्ग के आदर्शों का धर्म की तरह पालन किया।

किसी को भी उस सर्दी की संध्या की भली भांति याद होगी जब सिरि फोर्ट ऑडोटीोरियम एक बहुत सुरक्षित जेल जैसा लग रहा था, जहां हर तरफ बंदूक धारी सुरक्षाकर्मी छाए हुए थे। तब के सूचना और प्रसारण मंत्री, एच के एल भगत, ढीठता से झुठला रहे थे लेकिन सुनने वालों में उनकी बात को संजीदगी से सही मानने वाले न के बराबर थे।

वास्तव में सफदर हाशमी के उल्लेखनीय जीवन और एक विजयी मौत पर देश में लोगों का ध्यान आकर्षित करने में इस अदाकारा के इस प्रभावशाली वक्तव्य की भूमिका कम नहीं थी।

इस युवा शहीद के जन्म दिन, 12 अप्रैल पर, नुक्कड़ नाटक समूहों ने जन नाट्य दिवस का आयोजन किया। उन्होंने भाषण दिए, नाटक किए व नाचे, गीत गाए, हंसे और रोए, उन्होंने अपने बिछड़े साथी और रहबर के प्रिय आदर्शों का जश्न मनाया। उसके नाटकों के भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुवाद किए गए और ऐसे दर्शकों के सामने वे नाटक खेले गए जिनमें अधिकतर गरीब और मेहनतकश लोग थे। कहीं-कहीं मध्य वर्ग के लोगों ने भी इनका लुत्फ उठाया पर हस्बेमामूल उनके जोश पर एहतियात की छयाएं मंडरा रही थीं।

इस त्रासदी के बरसों बाद, यह सब, एक ऐसे बुरी तरह से खाली ही रहे समय पर लिखा जा रहा है, जब बहुत से युवाओं ने हाशमी का नाम भी ना सुना हो और मुझे लग रहा है कि हमें नए सिरे से खुद से पूछना चाहिए कि इस लाजवाब नागरिक और कलाकार को क्यों मार दिया गया। हाशमी के निधन के बाद देश के समाजवादी खेमे में हुई कुछ बेचैन कर देने वाली घटनाओं को ध्यान में रखते हुए अगर तथाकथित

प्रगतिशील और वामपंथी ईमानदारी से अपना जमीर टटोलेंगे तो और बातों के अलावा उन्हें लगेगा कि यह इंसान अपने साथियों से कितना अलग था।

संक्षेप में हाशमी की हत्या माफिया तत्वों ने केवल इस बिनाह पर नहीं की कि वह लिखता था, बोलता था और एक जबरदस्त संगठन कर्ता भी था। बल्कि यह मुख्यतौर पर इसलिए की गई क्योंकि उसके शब्दों और कामों में प्रतिरोध की एक ऐसी खास संस्कृति और राजनीति की छाप स्पष्ट थी जिससे यथास्थितिवाद के चौधरी बेतहाशा तिलमिलाते थे। हाशमी बुद्धिजीवियों की सुखासीन शैली के विरोधी थे और घर और पार्टी कार्यालयों की सुरक्षित पनाहों से परिवर्तन की आवश्यकता पर भाषणबाजी झाड़ना सही नहीं मानते थे। खरा दृष्टा होने के कारण वह असुरक्षित थे। अपनी आस्थाओं के साथ हमेशा निडर खड़े रहने के कारण उनकी हत्या हो सकती थी। अपने सिद्धांतों के लिए दुख उठाने में उन्हें गुरेज नहीं था और इसके लिए उन्हें खून और सम्मान से सना अंत सहना पड़ा।

इस संदर्भ में लोगों को याद करना पड़ेगा कि साहिबाबाद क्षेत्र में 1988 के अंत में सीटू के आंदोलन की शानदार विजय में हाशमी के नेतृत्व में मजदूर वर्ग के विषयों पर हुए नाटकीय मंचों की कम भूमिका नहीं थी। जहां तक याद पड़ता है, उससे पहले, साहिबाबाद में इंटक का प्रभाव था। अपनी पकड़ ढीली पड़ती देख गुंडों ने हमला कर दिया। इसका मतलब था कि इलाके के रोजगारदाताओं और उन पर आश्रित यूनियनों के बुरे दिन।

बहुत शानदार ढंग, पर फिर भी सटीक तरीके से, यह कहा जा सकता है कि सफदर हाशमी को अपनी नियति से जूझना था। वरना उनके गुजर जाने के ढंग को कैसे इस तरह समझाया जा सकता है। जब एक लचीले नियमों वाला रास्ता अपना कर वह उच्च वर्ग के आराम और सुख भोग कर खासी पकी अवस्था में अपने बिस्तर में किसी सहज प्राकृतिक कारण से गुजर जाते। और अगर ऐसा हुआ होता तो इससे विभिन्न और स्वयं उनके, राजनीतिक दल के बुजुर्ग राजनेताओं के जीवन के ग्राफ की याद आ जाती।

सेंट स्टीफन के प्रतिभाषाली छात्र, हाशमी

का जन्म धनी और उच्च सामाजिक स्तर के परिवार में हुआ। अगर चाहते तो वह आईएएस या कारोबारी बिरादरी के सदस्य बन सकते थे। जैसा कि उनके संक्षिप्त, सघन जीवन के असामान्य पथ से स्पष्ट है वह अपने बेबस हमवतनियों के लिए वास्तव में काम आना चाहते थे। समाज के सबसे कमजोर व्यक्ति की भलाई के लिए अपने दिल और दिमाग का तोहफा सौंपना चाहते थे।

कुछ समय पढ़ाने और बाद में नई दिल्ली में पश्चिम बंगाल के सूचना केंद्र में कुछ समय प्रेस अधिकारी की संक्षिप्त-सी नौकरी करने के बाद, हाशमी ने पारंपरिक करियर की बातों को तिलांजलि देकर खुद को नुक्कड़ नाटकों के द्वारा सामाजिक चेतना जगाने के एकमात्र मकसद को अपने आपको समर्पित करने का फैसला ले लिया। उन्होंने अभिनेताओं और अभिनेत्रियों की अपनी ही टीम बनाई, नाटक और कविताएं लिखीं, गीत रचे। फिर जन नाट्य मंच के झंडे के तले वर्षों एक फैक्ट्री से दूसरी फैक्ट्री, एक मोहल्ले से दूसरे मोहल्ले, एक कॉलेज से दूसरे कॉलेज तक हर उत्सुक व्यक्ति को वर्ग चेतना के बारे में समझाते हुए यात्राएं कीं। उनका, खासकर मजदूर वर्गों से, अधिक से अधिक संपर्क बनाने का मिशन था, उन्हें अहिंसक और लोकतांत्रिक ढंग से एक जुट होकर और इक्कठ्ठा होकर संघर्ष करने की प्रेरणा दी।

सफदर इतिहास के ऐसे पारंगत अध्येता और अपने दौर की सामाजिक और आर्थिक वास्तविकताओं के विचारशील पारखी थे कि उन्होंने समझ लिया था कि भारतीय व्यवस्था के मौजूदा चरित्र के कारण धनी और सुविधा परस्त वर्ग से टक्कर शुरुआत से पहले ही खत्म हुई लड़ाई की तरह खत्म हो जाएगी। हालात पर उनकी सूझ भरी पकड़ के बावजूद हिंसा ने उसे सरे राह धर दबोचा - यह विषाद और विडंबना से भरा एक सबक है। एक तरह से हाशमी के निधन का हम सबको पहले से ही पता था। बहुत विचलित करने वाला और दग्ध चौंधक से भरा। हमें विभिन्न संदर्भों के उन त्रासद नायकों की भी याद दिलाता है जिनका जिक्र महाभारत और प्राचीन यूनानी नाटकों में भी आता है। ■

अनु: महाबीर सरवर

## भविष्य के लिए एक दस्तावेज

समयांतर की 20 वर्ष की इस यात्रा से गुजरना एक ऐसे दौर से गुजरना है जो भारतीय और विश्व राजनीति, संस्कृति तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों—में तीव्र उथल-पुथल का गवाह रहा है। चूंकि इस विशेषांक को हमने साहित्य और संस्कृति पर केंद्रित किया है इसलिए इस क्षेत्र में हुई उथल-पुथल और परिवर्तनों का इसमें इसका एक हद तक दस्तावेजीकरण देखा जा सकता है। चयनित लेख मात्र भारतीय साहित्य और संस्कृति से ही हमारा परिचय नहीं कराते बल्कि वैश्विक स्तर पर होने वाली सांस्कृतिक घटनाओं का भी उल्लेख करने से नहीं चूकते। महत्वपूर्ण बात यह है कि साहित्य और संस्कृति पर केंद्रित ये लेख अपने समय के राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों को भी प्रतिबिंबित और रेखांकित करते हैं।

यह कहना गलत नहीं होगा कि गुजरात में गोधरा कांड के बाद हुए नरसंहार और सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों को जिस तरह से *समयांतर* ने जगह दी वह हिंदी में अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। महान शायर वली दकनी की मजार का विध्वंस किया जाना एक ऐसे अपशकुन की तरह भारतीय सांस्कृतिक जगत पर उभरा था जिसका असर दूरगामी हुआ। उस दौरान की लेखकीय प्रतिक्रियाएं स्पष्ट बतलाती हैं कि भविष्य में क्या रुख लेने वाला है।

वृहत्तर संदर्भ में *समयांतर* जो दृष्टि अपनाता रहा है वह हिंदी पाठकों को लगातार विश्व साहित्य से रू-ब-रू करवाने की रही है। ऐसे विषय जो सामान्यतः दुरुह और 'हिंदी पाठकों की समझ' के बाहर मानकर हिंदी की पत्रिकाओं द्वारा नकारे जाते हैं *समयांतर* ने उन्हें लगातार प्रकाशित कर हिंदी पाठकों को बौद्धिक रूप से समृद्ध ही नहीं किया बल्कि यह बात जोरदार तरीके से बतलाने की कोशिश की कि हिंदी का पाठक किसी भी रूप में अंग्रेजी समेत किसी भी भाषा के पाठकों से अपनी बौद्धिकता में कमतर नहीं है।

एडवर्ड सईद का सार्त्र पर लिखा लेख हमें उस महान लेखक के उन पहलुओं से भी परिचित कराता है जिनके बारे में उतना नहीं जाना जाता है। इसके साथ देरिदा पर आनंद प्रकाश का लेख तथा महमूद दरवीश का एक लंबा साक्षात्कार प्रमाण के तौर पर इस अंक में सम्मिलित हैं। अरब दुनिया के महान कवि महमूद दरवीश किसी परिचय के मोहताज नहीं हैं। नोम चोम्स्की हमारे समय की सबसे विलक्षण प्रतिभा हैं, उनके बिना बात पूरी ही नहीं हो पाती है। जब एक विलक्षण प्रतिभा दूसरी विलक्षण प्रतिभा के बारे में हमें बताती है तो हमें उन कोणों से समाज और राजनीति को देख पाते हैं जिनके बारे में अक्सर नहीं सोचते। नोम चोम्स्की पर केंद्रित लेख हमें अमेरिका के उन खूंखार और हत्यारी योजनाओं के बारे में बताता है जिन्हें हर पीढ़ी के लिए जाना जरूरी है।

हम आज एक ऐसे दौर में रह रहे हैं जहां बहुसंख्य आबादी के लिए उम्मीद की कोई किरण का दिखना भी असंभव सा लगने लगा है। ऐसे दौर में एक लेखक, कलाकार, चित्रकार, संस्कृतिकर्मी, फिल्मकार की क्या भूमिका होनी चाहिए? जानी-मानी लेखिका अरुंधति राय का लेख 'लेखक होने का मतलब' मार्च 2002 के अंक में प्रकाशित हुआ था, जिसे हम पुनः प्रकाशित कर रहे हैं। 18 साल बाद भी इस लेख से गुजरते हुए यह लगता है कि हालात बिल्कुल वैसे ही हैं या अरुंधति राय के शब्दों में कहें— 'कुल मिलाकर भारत में— इसे अगर कम कड़े शब्दों में कहें तो— ठीक नहीं हैं।' यह लेख राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक धरातल की कई महीन परतें हमारे सामने खोलता है। वैसे कोई भी उत्कृष्ट कृति या लेखन जो अपने समय को पूरा उधाड़कर रख देता है, दरअसल वह अपने समय के भी पार जाता है और लेखक की बातें और उसकी महान रचनाएं पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक रोशनी की तरह हमारे साथ चलती हैं। बुद्धिजीवी की भूमिका और किताबों पर हिंदी के दो मूर्धन्य लेखक राजेंद्र यादव और मनोहर श्याम जोशी के लेख हैं। इसके अलावा दलितों और आदिवासियों से जुड़ी गंभीर बहसों भी इस अंक में शामिल हैं। दलितों का यह सवाल कि धर्म ने दासता के खिलाफ आवाज नहीं उठाई, आजादी के 70 साल बाद भी हमारे सामने उसी तरह से खड़ा है जैसे सदियों पहले था। या फिर आदिवासियों के बारे में जैसा कि बहुचर्चित लेखिका महाश्वेता देवी ने कहा था— "शोषण के खिलाफ जब आदिवासी समाज में हिंसा का ज्वार उभरता है, तब दिल्ली हतप्रभ रह जाती है क्योंकि आदिवासियों के बारे में दिल्ली की समझ अंग्रेजों जैसी है।"

महाश्वेता देवी, गिरीश कर्नाड के साक्षात्कारों के अलावा मशहूर चित्रकार मकबूल फिदा हुसेन को भी हम याद कर रहे हैं। हुसेन को 2006 में हिंदू कट्टरपंथियों की वजह से देश को छोड़कर जाना पड़ा था और वह फिर कभी लौटकर नहीं आ पाए। जिस वतन को वह इतना प्यार करते थे उसकी धरती पर उन्हें दो गज जमीन भी मय्यसर नहीं हुई। आज उन पर कोई बात तक नहीं करना चाहता है। यद्यपि प्रारंभ में हमने सोचा था कि 2016 से आगे के लेख सम्मिलित नहीं किए जाएं। सिर्फ मृणाल सेन पर लेख श्रद्धांजलि स्वरूप 2017 का लिया गया है, जो नए लेख हैं उनमें वर्ष का संकेत है।

*समयांतर* इस बात का प्रमाण है कि किसी भी पत्रिका की सफलता और सार्थकता के लिए जरूरी होती है संपादकीय दृष्टि और प्रतिबद्धता। मुझे आशा है कि यहां चयनित लेख मेरी बात को प्रमाणित करेंगे।

कृष्ण सिंह

# लेखक होने का मतलब

## ■ अरुंधति रॉय

जहां तक मेरा सवाल है, लेखक के लिए पहला नियम यह है कि उसके लिए कोई नियम ही नहीं है। और दूसरा नियम (चूंकि पहला नियम तोड़ने के लिए ही है) यह है कि खराब रचना के लिए कोई बहाना नहीं हो सकता। चित्रकार, लेखक, गायक, अभिनेता, नृतक, फिल्मकार, संगीतकार—ये हैं ही उड़ान भरने, मानवीय कल्पना के सीमांतों को परेशान करने, सबसे अनपेक्षित चीजों में सौंदर्य ढूंढ निकालने का चमत्कार करने और ऐसी जगहों में संगीत पाने के लिए जहां कि दूसरे लोगों ने देखने की भी कभी जहमत नहीं की होगी।

एक ऐसे समाज में जहां करोड़ों लोग निरक्षर हों, लेखक होना—उस पर भी तथाकथित प्रसिद्ध लेखक होना—एक संदिग्ध किस्म का सम्मान है। एक ऐसे देश में जिसने दुनिया को महात्मा गांधी दिए, जिन्होंने अहिंसात्मक प्रतिरोध ईजाद किया और फिर आधी शताब्दी बाद परमाणु विस्फोट किया, लेखक होना एक भयावह बोझ है। (यद्यपि, यह कहना जरूरी है कि, यह उतना भयावह नहीं है, जितना कि अमेरिका में लेखक होना। जिसने इतने परमाणु हथियार इकट्ठे किए हुए हैं कि उनसे इस दुनिया का कई बार ध्वंस किया जा सकता है।) एक ऐसे देश में लेखक होना जहां कि अपने ही नागरिकों के खिलाफ 'विकास' के नाम पर अघोषित किस्म का गृहयुद्ध चलाया जा रहा हो, लेखक होना एक दुर्भर दायित्व है। जब लेखकों और लेखन के बारे में चर्चा होती है तो मैं दुर्भर और दायित्व जैसे शब्दों का इस्तेमाल भारी मन से और कम निराशा के साथ नहीं करती।

लेखकों और कलकारों की भूमिका समाज में क्या है? क्या यह भूमिका परिभाषित की जा सकती है? क्या इसे किसी एक निश्चित तरीके से निर्धारित, वर्णित, अभिलक्षित किया जा सकता है? या ऐसा किया जाना चाहिए?

इस बात से ही कि लेखकों को निश्चित कर्तव्यों और दायित्वों के बोझ से बांध कर रहना और काम करना है, मेरे दिमाग में कई

भयावह चीजें आने लगती हैं। कल्पना कीजिए कि एक छोटी काली किताब है—अच्छे लेखक की अनुमोदित निर्देशिका जैसी कुछ—जो कहती है: 'सब लेखकों को राजनीतिक रूप से सजग और सेक्स के मामले में नैतिक होना चाहिए' या 'सब लेखकों को ईश्वर, वैश्वीकरण और पारिवारिक जीवन के सुखों पर विश्वास करना चाहिए...'

जहां तक मेरा सवाल है, लेखक के लिए पहला नियम यह है कि उसके लिए कोई नियम ही नहीं है। और दूसरा नियम (चूंकि पहला नियम तोड़ने के लिए ही है) यह है कि खराब रचना के लिए कोई बहाना नहीं हो सकता। चित्रकार, लेखक, गायक, अभिनेता, नृतक, फिल्मकार, संगीतकार—ये हैं ही उड़ान भरने, मानवीय कल्पना के सीमांतों को परेशान करने, सबसे अनपेक्षित चीजों में सौंदर्य ढूंढ निकालने का चमत्कार करने और ऐसी जगहों में संगीत पाने के लिए जहां कि दूसरे लोगों ने देखने की भी कभी जहमत नहीं की होगी। अगर आप उनकी उड़ान को बांध देते हैं, अगर आप उनके परो को समाज की नैतिकता और जिम्मेदारी की तात्कालिक धारणाओं से बोझिल कर देते हैं, अगर आप उन्हें पूर्वनिर्धारित मूल्यों से बांध देते हैं, तो आप उनके प्रयास का ध्वंस कर देते हैं।

एक अच्छा या महान लेखक ऐसी किसी नैतिकता या जिम्मेदारी को मानने से इनकार

कर सकता है जिसे समाज उस पर थोपना चाहता है। इस पर भी उनमें से उत्कृष्ट और महान लोग जानते हैं कि अगर वे इस कठोर संघर्ष से पाई स्वतंत्रता का दुरुपयोग करते हैं तो यह केवल खराब रचना की ओर ले जाएगा। नैतिकता, परिश्रम और उत्तरदायित्व का एक महीन बुना हुआ जाला है जो कि कला और लेखन स्वयं एक लेखक पर लागू करता है। यह एक है, अकेला है लेकिन इस पर भी यह है। अच्छा कहें तो यह रचनाकार और माध्यम के बीच में अद्भुत बंधन है। खराब कहें तो यह असम्मान और शोषण का संबंध है।

बाहरी नियमों का न होना चीजों को उलझा देता है। कल्पना की सशक्त, वास्तविक, सुनहरी चिड़िया को कृत्रिम, थोथे चने से विभाजित करने वाली रेखा बहुत महीन है। वह रेखा है कहां? आप इसे कैसे पहचानते हैं? आपको कैसे पता चलता है कि आपने इसे पार कर दिया है? रहस्यवादी और आदिम लगने के खतरे के बावजूद मैं यह कहने से अपने को रोक नहीं पा रही हूँ कि आप जानते हैं। सत्य यह है कि कोई भी—पाठक, समीक्षक, एजेंट, मित्र या दुश्मन—निश्चित तौर पर कुछ नहीं कह सकता। एक लेखक को अपने आपसे स्वयं यह प्रश्न पूछना होता है और इसका उत्तर जितनी ईमानदारी से हो सकता है, देना होता है। इस रेखा के बारे में यह है कि एक बार आप इसे पहचानना शुरू कर दें, एक बार आप इसे देख लें, इसे नजरअंदाज करना असंभव है। आपके पास इसे स्वीकार करने और इस पर चलने के अलावा और कोई रास्ता नहीं रहता। आपको इसे इसकी सारी जटिलताओं, विरोधाभासों और मांगों के साथ स्वीकारना होता है। और यह सदा आसान नहीं होता। यह सदा तारीफों और सम्मानों की ओर नहीं ले जाता। यह आपको निहायत अजीब और अनजानी जगहों में ले जा सकता है। उदाहरणस्वरूप युद्ध के मैदान में आप किसी गुलाबी चिड़िया की काम-क्रीड़ा से या पाली हुई गोल्डफिश मछली के गुप्त जीवन, या किसी बूढ़ी ताई के पागलपन की ओर जाने से अभिभूत हो सकते हैं। और कोई नहीं कह सकता कि इसमें सत्य, कला और सौंदर्य नहीं है। या इसके विपरीत मेरी तरह आप भी इतने दुर्भाग्यशाली हो सकते हैं कि घोषित



शांति में एक आवाज विहीन युद्ध से जा टकराए। मुश्किल यह है कि एक बार आप इसे देख लेते हैं तो इसे अनदेखा नहीं कर सकते। और एक बार आप ने इसे देख लिया, तो चुप रहना, कुछ न कहना उतना ही राजनीतिक कदम हो जाता है जितना कि बोलना। जो भी हो, जवाबदेही, आपकी है।

आज, संभवतः किसी और ऐतिहासिक दौर से ज्यादा, लेखक की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की सभ्य समाजों तथा दुनिया के सबसे ताकतवर देशों के शासकीय तंत्रों द्वारा रक्षा की जाती है और उसका पक्ष लिया जाता है। किसी भी आवाज को चुप करने या दबाने की कोशिश का जमकर विरोध होता है। लेखक को गले लगाया जाता है और उसे संरक्षण दिया जाता है। यह अपने आप में बहुत सुंदर बात है। लेखक, अभिनेता, संगीतकार, फिल्मकार—आधुनिक सभ्यता के ताज के चमचमाते नग बन गए हैं। रचनाकारों को मुझे लगता है अंततः आज उतनी स्वतंत्रता प्राप्त है जितनी की कभी संभव हो सकती है। इससे, पहले कभी इतने लेखकों की किताबें नहीं प्रकाशित हुआ करती थीं। (और अब तो हमारे पास इंटरनेट भी है।) आज से पहले हम कभी भी व्यावसायिक रूप से इतने सफल नहीं थे। हम बाजार के बीच रहते हैं और पनपते हैं। यह सही है कि हर तथाकथित सफलता के पीछे सैकड़ों ऐसे होते हैं जो 'असफल' रहते हैं। यह सही है कि अनगिनत लोक और शास्त्रीय कलाएं हैं, अनगिनत भाषाएं हैं, अनगिनत संस्कृतियां और कला परंपराएं हैं जिन्हें कि आश्चर्यलोक की बड़ी बंपर सेल की धकापेल में कुचला और एक किनारे पटक जा रहा है। इस पर भी इतने सारे लेखक, गायक, अभिनेता, चित्रकार कभी इतने प्रभावशाली और समृद्ध सुपरस्टार नहीं बने। और ये सफल लोग लाखों नकलची पैदा करते हैं, वे औरों को रास्ता दिखाते हैं, उनकी कृतियां कला क्या होती हैं या क्या होनी चाहिए इसका मानदंड बनती हैं।

आजकल भारत में यह सब हास्यास्पद स्थिति पर पहुंच गया है। हाल में भारतीय लेखकों की व्यावसायिक सफलता के कारण पश्चिमी प्रकाशक अगली बड़ी आंग्ल-भारतीय कथा कृति की तलाश में जी-जान से जुटे हैं। वे इसके लिए सब कुछ कर रहे हैं,

यहां तक कि अंग्रेजी बोलने वाले भारतीयों का लेखक के पद के लिए इंटरव्यू ले रहे हैं। महत्वाकांक्षी मध्य वर्गी मां-बाप जो कि कुछ वर्ष पहले एक अपने बच्चों को इंजनीनियरी, डॉक्टरी या मैनेजमेंट से नीचे और कुछ नहीं पढ़ाना चाहते थे अब उन्हें उम्मीद के साथ रचनात्मक-लेखन के स्कूलों में भेज रहे हैं। मेरी तरह के लोगों से कंप्यूटर कंपनियां, घड़ी निर्माता, यहां तक कि मीडियापति लगातार प्रार्थना करते रहते हैं कि उनके उत्पादों को अनुमोदित कर दें। मुंबई में एक बुटीक मालिक ने, जहां में खरीदारी कर रही थी, मुझे फिल्मों में हुआ कि क्या मैं आपकी किताब भी सजा सकता हूँ (मानो वह कोई कंगन या कानों की बाली का जोड़ा हो)। झुंपा लाहिड़ी भारतीय मूल की अमेरिकी लेखिका, जिसे कि पुलितजर पुरस्कार मिला, हाल ही में बंगाली रस्म से विवाह करने भारत आई थी। इस विवाह का समाचार राष्ट्रीय अखबारों ने पहले पेज पर छपा था।

यह सब हमें कहां ले जाएगा? क्या यह मात्र कोई दुष्परिणाम रहित बेहदगी है, जिसे अनदेखा करना ही बेहतर है? या लुभाने के लिए उतावली या प्रतिक्रिया हमारी कला को प्रभावित करती है? यह हमारी ऐनकों में किस तरह के लेंस लगाती है? यह हमें हमारे आसपास की दुनिया से कितनी दूर करती है?

यह खतरा बहुत गंभीर है कि इस नए तरह का यह लुभाना हिंसा और दमन से कहीं अधिक प्रभावी तरीके से हमारा मुंह बंद कर सकता है। हमें बोलने की आजादी है। हो सकता है ऐसा हो पर क्या हमारे पास वास्तविक स्वतंत्र अभिव्यक्ति है? अगर हमें जो कहना है वह नहीं 'बिकता' तो क्या हम उसे तब भी कहेंगे? क्या हम ऐसा कर सकते हैं? या क्या सब ऐसी बात कहने की कोशिश नहीं कर रहे हैं जो कि बिकती है? क्या लेखक महल के विदूषकों की भूमिका से मुक्त हो पाएंगे? या 21वीं सदी की प्रच्छन्न दरबारी वृहन्नलाओं के रूपों में हमारे सीईओ-ओं (चीफ एक्जीक्यूटिव ऑफिसर-प्रमुख कार्यकारी अधिकारी) की मौज-मस्ती का ध्यान रखने में लगे रहेंगे? आप जानते हैं कि वे नटखट तो हैं, पर हैं मुद्दु। घटिया हो सकते हैं, पर खतरनाक नहीं।

मेरे पहले और एकमात्र उपन्यास *गॉड*

*ऑफ स्माल थिंग्स* का छपे अब कई वर्ष हो चुके हैं। शुरू के दिनों में मेरा वर्णन-परिचय-एक तुक्के में 'सफल' (अगर इस बेहूदे शब्द का इस्तेमाल करूं तो) हो गई पहली किताब की लेखिका के रूप में करवाया जाता था। आजकल स्वयं मेरा परिचय एक मन-मौजी के रूप में करवाया जाता है। स्पष्ट है कि मैं, जैसा कि 21वीं सदी की चलताऊ भाषा में कहा जाता है, 'लेखक-एक्टिविस्ट' (आंदोलकारी) हो गई हूँ। (सोफा-बैड की तरह।)

मुझे क्यों लेखक-एक्टिविस्ट कहा जाता है—यहां तक कि जब उसे सहमति पूर्वक, तारीफवाले अंदाज में इस्तेमाल किया जाता है—यह शब्दावली मुझे क्यों परेशान कर देती है? मुझे लेखक—एक्टिविस्ट इसलिए कहा जाता है क्योंकि मैंने *गॉड ऑफ स्माल थिंग्स* लिखने का बाद तीन राजनीतिक निबंध लिखे: 'दि एंड ऑफ इमेजिनेशन' भारत के परमाणु विस्फोट के बारे में था, 'दि ग्रेटर कॉमन गुड' बड़े बांधों और 'विकास' को लेकर होने वाली बहसों के बारे में था और 'पावर पोलिटिक्स: दि रीइन्कारनेशन ऑफ रू पैलस्टि लस्किन' बिजली और पानी जैसी आधारभूत चीजों के निजीकरण और निगमीकरण के बारे में था। अयोध्या में मंदिर बनाने के अलावा आजकल ये भारत सरकार की चिंताओं के प्रमुख विषय बने हुए हैं।

मुझे आश्चर्य होता है कि वह व्यक्ति जिसने *दि गॉड ऑफ स्माल थिंग्स* लिखा लेखक कहलाता है और जिस व्यक्ति ने राजनीतिक निबंध लिखे एक आंदोलनकारी (एक्टिविस्ट) कहलाता है? यह सही है कि *गॉड ऑफ स्माल थिंग्स* एक उपन्यास है लेकिन यह मेरे किसी भी निबंध से कम राजनीतिक नहीं है। सही है कि निबंध कथा-साहित्य नहीं है लेकिन लेखकों ने कब से कथा-साहित्य अलावा चीजें-लिखने के अधिकार को त्याग दिया है।

मेरा मानना यह है कि मुझे पर यह दोनाली उपाधि, यह भयावह पेशाई चिप्पी इसलिए नहीं लगाई जा रही है कि मेरा काम राजनीतिक है बल्कि यह इसलिए है कि मैं अपने लेखों में पक्ष लेती हूँ। मेरा एक दृष्टिकोण होता है। खराब बात यह है कि मैं इसे स्पष्ट कर देती हूँ कि मेरा मानना यह है

कि यह पक्ष लेना सही और नैतिक है और इससे भी खराब बात यह है कि मेरे वश में जो कुछ है, इस पक्ष के लिए खुल्लम-खुल्ला समर्थन जुटाने के लिए, उसका इस्तेमाल करती हूँ। 21वीं सदी के लेखक के लिए यह ठीक नहीं समझा जाता, अभद्रता मानी जाती है। यह खतरनाक तरीके से उस क्षेत्र के नजदीक पहुंच जाता है जिस पर कि राजनीतिक दलों के विचारकों का कब्जा है— ऐसे लोगों की नस्ल, जिन पर कि दुनिया को (जो कि उचित भी है) विश्वास नहीं रहा है। मैं इसके बारे में सजग हूँ। मैं चौकस होने के पक्ष में हूँ। मैं विवेक, समझदारी, प्रयोगधर्मिता, सूक्ष्मता, अनेकार्थकता, संश्लिष्टता को पसंद करती हूँ... अनुत्तरित प्रश्न, असमाधानित कथाएँ, अविजित शिखर, एक अधूरे सपने के अवशेष, सब मुझे प्रिय हैं। सामान्यतः।

क्या यह एक लेखक के लिए जरूरी है कि वह हर मामले में अनेकार्थी और गूढ़ बना रहे? क्या यह सच नहीं है कि मानवीय इतिहास में कई ऐसे भयावह प्रसंग आए हैं जबकि विवेक और व्यवहारिकता क्लीवता का ही दूसरा नाम सिद्ध हुई है? जबकि सावधानी वास्तव में कायरता का दूसरा नाम थी? जब शालीनता छिपा हुआ पतन थी? जबकि सचेतता एक तरह की पक्षधर्मिता ही थी?

क्या यह सच नहीं है, या कम से कम सैद्धांतिक रूप से संभव नहीं है कि एक समाज या देश की जिंदगी में ऐसा दौर आता है जबकि राजनीतिक माहौल की मांग होती है कि—यहां तक कि हमारे बीच जो सबसे शालीन हैं—वे भी खुल कर सामने आएँ? मैं मानती हूँ कि आज हमारे सर पर ऐसा ही मानती हूँ कि आज हमारे सर पर ऐसा ही समय आन पड़ता है। और मेरा मानना है कि आने वाले वर्षों में बुद्धिजीवियों और कलाकारों से पक्ष लेने के लिए कहा जाएगा, और इस बार हमारे पास 'औपनिवेशिक दुश्मन' से लड़ाई की सुविधा नहीं होगी। हम स्वयं से ही लड़ रहे होंगे।

हमें स्वयं से ही अपने मूल्यों और परंपराओं, अपने सपने और भविष्य, एक नागरिक के रूप में अपनी जिम्मेदारियों, अपने लोकतांत्रिक संस्थाओं की वैधता, राज्य की भूमिका, पुलिस, सेना, न्यायपालिका

और बुद्धिजीवी समुदाय के बारे में असुविधाजनक सवाल करने होंगे।

आजादी के पचास साल भी भारत 'औपनिवेशिक विरासत' से संघर्ष कर रहा है, अभी भी 'सांस्कृतिक अपमान' से कसमसा रहा है। नागरिक होने के नाते हम आज भी गरी दुनिया की अपनी परिभाषा को 'अस्वीकार' करने के धंधे में लगे हुए हैं। बौद्धिक रूप से और भावनात्मक स्तर पर हमने हाल ही में उस सांप्रदायिक और जातिवादी राजनीति से लड़ना शुरू किया है जो कि हमारे समाज को टुकड़े-टुकड़े करने को तैयार है। लेकिन इस बीच हमारे क्षितिज पर कुछ नया ही मंडराने लगा है।

न यह युद्ध है, न कत्ले आम है, यह नस्लीय सफाई नहीं है, अकाल नहीं है, न ही कोई महामारी है। ऊपरी तौर पर यह मात्र आम दिनचर्या है। इसमें युद्ध या कत्ले आम की भव्यता या वृहदता जैसी नाटकीयता नहीं है। उस तुलना में यह सपाट है। टीवी पर यह उबाऊ हो जाता है। इसका संबंध पानी की सप्लाई, बिजली, सिंचाई जैसी नीरस बातों से है। लेकिन इसका संबंध इतने बड़े पैमाने पर बर्बर विस्थापन से है, जिसका इतिहास में मुश्किल से ही कोई सानी हो। अब तक आप समझ गए होंगे कि मैं कॉरपोरेट वैश्वीकरण के आधुनिक संस्करण के बारे में बात कर रही हूँ।

वैश्वीकरण क्या है? यह किसके लिए है? भारत जैसे देश में इससे क्या होने जा रहा है, जहां कि सामाजिक असमानता को जातिप्रथा के द्वारा शताब्दियों से जीवन का हिस्सा बना दिया गया है? एक ऐसे देश में जहां कि करोड़ों लोग ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं। जिसमें कि 80 प्रतिशत जमीन छोटे किसानों के पास है। जिसमें कि लगभग आधी जनता लिख-पढ़ नहीं सकती।

क्या कृषि, पानी की सप्लाई, बिजली और आवश्यक वस्तुओं का कॉरपोरेटीकरण और वैश्वीकरण भारत को गरीबी, अशिक्षा और धार्मिक कट्टरपन के सड़ते हुए दलदल से निकाल सकता है? क्या सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तृत ढांचे को, जिसे कि पिछले 50 वर्षों में जनता के पैसे से बनाया गया था, तोड़ना और नीलाम करना ही आगे बढ़ने का रास्ता है? क्या कॉरपोरेट वैश्वीकरण सुविधाभोगी और वंचितों, ऊंची जातियों और छोटी

जातियों, शिक्षितों और अशिक्षितों के बीच के अंत को कम कर देगा? या यह उन लोगों की, जो शताब्दियों से पहले ही आगे हैं, और मदद करेगा?

क्या कॉरपोरेट वैश्वीकरण 'दुनिया की गरीबी के उन्मूलन के लिए है' या यह उपनिवेशवाद की नई किस्म है, दूर से नियंत्रित होने और डिजिटल तकनीक से चलाई जाने वाली? ये बहुत बड़े, विवादास्पद सवाल हैं। उत्तर इस बात पर निर्भर करते हैं कि वे कहां से आ रहे हैं, भारत के ग्रामीण क्षेत्रों यानी गांवों और खेतों से, शहरी भारत की गंदी और अनधिकृत बस्तियों से, फल-फूल रहे मध्यवर्ग के दीवाने खानों से या बड़े उद्योगों के सम्मेलन कक्षों से।

आज भारत पहले से कहीं ज्यादा दूध, चीनी, अनाज पैदा कर रहा है। सरकारी गोदाम चार करोड़ लाख टन अनाज से भरे हुए हैं। वे किसान जिनके पास अत्यधिक अनाज है, बदहवास हैं। जिन क्षेत्रों में उनका राजनीतिक असर है, सरकार जितना अनाज संभाल सकती है या इस्तेमाल कर सकती है, उससे ज्यादा खरीदे जा रही है। इस पर भी विश्व व्यापार संगठन की शर्तों के तहत सरकार को 1,400 वस्तुओं के आयात पर से बंदिशें हटानी पड़ी हैं जिनमें दूध, अनाज, चीनी, कपास, चाय, काफी, रबर और नारियल का तेल शामिल है। यह इस तथ्य के बावजूद कि इन चीजों की बाजार में इफरात है।

पहली अप्रैल, 2002—अप्रैल फूल दिवस—से एक बार फिर विश्व व्यापार संगठन की शर्तों के तहत भारत सरकार को क्वांटिटेटिव आयात बंदिशों को हटाना पड़ेगा। भारतीय बाजार पहले ही सस्ते आयातित माल से अटा पड़ा है। यद्यपि नियम के हिसाब से भारत अपने कृषि उत्पादन का निर्यात करने के लिए स्वतंत्र है, व्यवहार में इसके अधिकांश का निर्यात नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह पहली दुनिया के 'पर्यावरणीय मानदंडों' को पूरा नहीं करता। (पश्चिमी उपभोक्ता दागी आमों या मच्छर काटे केलों या एकआध घुन लगे चावलों को नहीं खाता है। भारत में हम मच्छर के काटे या यदाकदा नजर आ गए घुन की परवाह नहीं करते।)

अमेरिका जैसे विकसित देश, जिनके बड़े पैमाने पर सरकारी इमदाद पर चलने वाले कृषि उद्योग में इनकी जनसंख्या के मात्र दो से तीन प्रतिशत लोग लगे हैं, भारत जैसे विकासमान देशों पर बाजार को 'प्रतिस्पर्धी' बनाने के लिए, कृषि को दी जाने वाली सरकारी सहायता को खत्म करने का दबाव डालने के लिए डब्ल्यूटीओ को इस्तेमाल कर रहा है। मशीनों से लैस विशाल कंपनियां जो कि हजारों एकड़ खेती की जमीन पर काम कर रही हैं किसी तरह गुजर कर रहे गरीब किसानों से प्रतिस्पर्धा करना चाहती हैं जिनके पास मुश्किल से एक-आध एकड़ जमीन है।

वास्तव में भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था का गला काटा जा रहा है। वे किसान जो बहुत ज्यादा पैदा करते हैं संकट में हैं, वे किसान भी जो कम पैदा करते हैं संकट में हैं और भूमिहीन कृषि मजदूर के पास काम नहीं है क्योंकि बड़े बागानों और फार्मों न अपने मजदूरों को निकाल दिया है। वे काम की तलाश में शहरों की ओर आ रहे हैं।

नए वैश्वीकृत गांव के मुखिया, जिसका मुख्यालय डब्ल्यूटीओ के चमचमाते दफ्तर में है, का नारा है 'सहायता नहीं व्यापार'। ब्रिटिश उपनिवेशकों ने व्यापारी का रूप धारण कर कुछ सदी पूर्व हमारी धरती पर कदम रखा था। हम ईस्ट इंडिया कंपनी को नहीं भूले हैं। इस बार उपनिवेशकों को एक भी गोरे को नाममात्र को भी उपनिवेश में भेजने की जरूरत नहीं। सीईओ और उसके आदमियों को गर्म मुलकों में जा कर मलेरिया, हैजा, लू और असमय मृत्यु का सामना करने का खतरा उठाने की जरूरत नहीं है। उन्हें सेना या पुलिस रखने की जरूरत नहीं है या विद्रोहों और विप्लवों की चिंता करने की जरूरत नहीं है। वे अपने उपनिवेश भी रख सकते हैं और अपनी आत्मा को भी बोझहीन रख सकते हैं। तीसरी दुनिया की मंदी के लिए नया सुंदर नाम 'बेहतर विनियोग माहौल बनाना है' हो गया है। इसके अलावा इसको लागू करने की जिम्मेदारी भी स्थानीय प्रशासन की है।

भारत में 'विकास परियोजनाओं' के लिए रास्ता बनाने के लिए सरकार वर्तमान भूमि अधिग्रहण कानून (यह अपने आप में विडंबना है कि इसे 19वीं शताब्दी में अंग्रेजों ने बनाया था) में तब्दीली करने की प्रक्रिया

में लगी हुई है तथा इसे और भी सख्त करने में लगी है। राज्य सरकारें 'आतंकवाद विरोधी' कानूनों को पैना करने में लगी हैं जिससे कि जो विकास का विरोध करता है उसे आतंकवादी करार दिया जा सके। उन्हें बिना किसी मुकदमे के तीन वर्ष तक बंद किया जा सकता है। उनकी जमीन और जानवरों को जब्त किया जा सकता है।

हाल ही में कॉरपोरेट वैश्वीकरण की थोड़ी आलोचना हुई है। जो सीएटल और प्राहा में हुआ, वह इतिहास में लिखा जाएगा। जब भी डब्ल्यूटीओ या विश्व आर्थिक मंच की बैठक होती है उन्हें स्वयं को हजारों सशस्त्र पुलिस से अपने को किलाबंद करना पड़ता है। इस पर भी इसके प्रशंसक बिल क्लिंटन से लेकर कोफी अन्नान, अटलबिहारी वाजपेयी और बाजारों में खड़े दलाल तक वही बड़ी-बड़ी बातें दोहराए चले जाते हैं। अगर प्रशासन की संस्थाएं अपना सही काम कर रही हों—असरकारी न्यायालय, अच्छे कानून, ईमानदार राजनीतिज्ञ, लोकतांत्रिक भागीदारी, पारदर्शी प्रशासन, जो कि मानवाधिकारों का सम्मान करता हो, लोगों को उन मामलों में जो कि उनके जीवन को प्रभावित करते हैं, में अपनी बात कहने का अवसर देता हो—तब वैश्वीकरण की योजना गरीबों के लिए भी काम करेगी। वे इसे 'वैश्वीकरण का मानवीय पक्ष' कहते हैं।

मुद्दा यह है कि अगर यह सब ठीक है तो कुछ भी असफल नहीं होगा; समाजवाद, साम्यवाद या और भी कुछ। सब कुछ ठीक स्वर्ग में, साम्यवादी शासन में और सैनिक तानाशाही में, होता है! लेकिन एक असंपूर्ण दुनिया में, क्या कॉरपोरेट वैश्वीकरण हमारे लिए यह सब सौगात लाएगा? आज जबकि भारत मुक्त बाजार के द्रुतगामी रास्ते पर है, क्या यह सब हमारे यहां हो रहा है? क्या उस हसीन सूची की कोई चीज ऐसी है जो कि भारत की आज की जिंदगी पर लागू होती है? क्या सरकारी संस्थाएं पारदर्शी हैं? क्या लोगों की कोई दखल है? क्या उन्हें उन निर्णयों के बारे में जो कि उनकी जिंदगी को गंभीर रूप से प्रभावित करते हैं—उनसे विमर्श करना तो दूर—सूचना तक दी जाती है? और क्या श्रीमान क्लिंटन (और अब बुश महोदय) और श्री वाजपेयी हर संभव

कोशिश कर रहे हैं कि 'सत्ता के संस्थान' सही काम कर रहे हैं? या क्या वे ठीक उलट कामों मशगूल हैं? क्या वे जब सत्ता के सही संस्थानों की बात करते हैं तो उनका तात्पर्य कुछ और होता है?

नवंबर, 2000 में बांधों पर विश्व आयोग (वर्ल्ड कमीशन ऑन डैम्स—डब्ल्यूसीडी) की रिपोर्ट नेलसन मंडेला ने जारी की थी। यह पहली बार है जबकि बड़े बांधों की उपयोगिता पर कोई गंभीर अध्ययन किया गया है। हममें से कई लोगों के लिए जो कि बड़े बांधों का विरोध कर रहे हैं डब्ल्यूसीडी की रिपोर्ट से कई असहमतियां हैं जिनमें से कई बातें लीपापोती के कारण अस्वीकार्य हैं। फिर भी इसने गंभीर सामाजिक और पर्यावरण से संबंधित कई मसलों को उठाया है जिन पर कि पिछले कई वर्षों से बहस चल रही है। कम से कम इसने उन सरकारों के लिए जो कि बड़े बांध बनाने में लगीं हैं, कुछ नीतियां तो निर्धारित की हैं। कम से कम इसने यह अनुमान लगाने की कोशिश तो की है कि बड़े बांधों से कितने लोग उजड़े हैं।

भारत दुनिया में अकेला देश था जिसने कि बांधों पर विश्व आयोग को सार्वजनिक सुनवाई की इजाजत नहीं दी। गुजरात सरकार, जिस राज्य में सरदार सरोवर बांध का निर्माण हो रहा है, ने आयोग के सदस्यों को गिरफ्तार कर लेने की धमकी दी।

फरवरी, 2001 में भारत सरकार ने औपचारिक रूप से बांधों पर विश्व आयोग की रिपोर्ट को खारिज कर दिया। क्या यह पारदर्शी, जिम्मेदार, सहभागी लोकतंत्र का आभास देता है?

हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय ने 77,000 'प्रदूषण करने वाली और अवैध' औद्योगिक इकाइयों को दिल्ली में बंद करने का आदेश दिया। यह आदेश पांच लाख लोगों को बेरोजगार कर देगा। ये 'औद्योगिक इकाइयां' क्या हैं? ये कौन लोग हैं? ये वे करोड़ों लोग हैं जो कि स्वयं या मजबूरी में गांवों से काम की तलाश में चले आए हैं। ये वे लोग हैं जिनका कि अस्तित्व नहीं है, 'अ-नागरिक' जो कि अधिकृत महानगर की झुगियां, दरारों और गड्डों में रहते हैं। वे 'सरकारी' शहरी सुविधाओं के ढांचे से बाहर रहते हैं।

दिल्ली की एक करोड़ 20 लाख आबादी का लगभग 40 प्रतिशत—लगभग

50 लाख लाख लोग-गंदी बस्तियों और अनाधिकृत बस्तियों में रहते हैं। अधिकांश में नगरपालिका द्वारा मुहैया की जाने वाली सुविधाएं—बिजली, पानी, नालियां और सीवर—नहीं हैं। 50 हजार लोग बेघर हैं और फुटपाथों पर सोते हैं। ये 'अ-नागरिक', जिसे अर्थशास्त्री कु छ खिन्न भाव से 'अनौपचारिक सेक्टर' कहते हैं, में काम करते हैं। इस समानांतर कमजोर पर जीवंत अर्थव्यवस्था को देख कर कल्पना को धक्का भी लगता है और आनंद भी मिलता है। ये फेरीवाले, रिक्शा चलाने वाले, रद्दी को पुनः इस्तेमाल लायक बनाने वाले, कार की बैटरियों को रिचार्ज करने वाले, सड़क के दर्जी, ट्रांजिस्टर नॉब बनाने वाले, बटन लगाने वाले, कागज की थैलियां बनाने वाले, रंगसाज, छपाईवाले, भिखारी हैं। ये 'औद्योगिक इकाइयां' हैं जिन्हें कि सर्वोच्च न्यायालय ने निशाला बनाया है। (सौभाग्य से वह दस्तक मेरे दरवाजे पर अभी तक नहीं हुई है, यद्यपि मैं भी लोगों की तरह ही अवैध इकाई हूँ।)

भारत में आज 'मुक्त बाजार', सुधार डीरैगुलेशन और लाइसेंस राज खत्म करने की चर्चा है—यह सब उद्यम को बढ़ाने और भ्रष्टाचार को मिटाने के लिए है। इस पर जब सरकार एक फलते-फूलते बाजार को मिटा देती है, जब यह पांच लाख कल्पनाशील, मेहनती, लघु उद्यमियों की मदद तोड़ देती है और अन्य लाखों लोगों को भ्रष्टाचार के उद्योग के आगे भोजन बना कर डाल देती है, इस विडंबना पर जितना कम कहा जाए, बेहतर है।

इसमें शक नहीं कि अनौपचारिक क्षेत्र प्रदूषण फैलाता है और एक औपनिवेशिक नियम के तहत इसका भूमि का इस्तेमाल नियमानुसार नहीं है। पर तब हम कोई स्वच्छ, आदर्श दुनिया में नहीं रहते हैं। इस तथ्य का क्या होगा कि दिल्ली का 67 प्रतिशत प्रदूषण मोटर गाड़ियों की देन है? क्या यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सर्वोच्च न्यायालय निजी गाड़ियों पर पाबंदी लगाएगा, या प्रति परिवार गाड़ियों की सीमा निश्चित करेगा?

अगर प्रदूषण की वास्तव में हमारी सरकार और न्यायालयों की मुख्य चिंता है तो ऐसा क्यों है कि उन्होंने बड़े औद्योगिक घरानों की बड़ी फैक्ट्रियों को, जिन्होंने कि नदियों को

प्रदूषित कर दिया है, जंगलों को साफ कर दिया है, भूमिगत पानी को समाप्त और विषाक्त कर दिया है और इन संसाधनों पर निर्भर रहने वाले लाखों लोगों की आजीविका को नष्ट कर दिया है, नियंत्रित करने का कोई विशेष उत्साह नहीं दिखाया है। जैसे कि केरल में ग्रेसिस की फैक्टरी, मध्य प्रदेश में ओरिएंट पेपर मिल, गुजरात में विषैला 'सन राइज बैल्ट' उद्योग। जादूगोड़ा की यूरेनियम की खानें, उड़ीसा के अल्यूमीनियम के कारखाने तथा इसी तरह के और भी कई उद्योग।

यह, पहली दुनिया द्वारा पृथ्वी के गर्म होने के विवाद में बांह मरोड़ने का हमारा घरेलू संस्करण है; यानी हम प्रदूषण करें, तुम भरपाई करो।

इन स्थितियों में 'लेखक-आंदोलनकारी' की शब्दावली उस काम को बतलाने के लिए जो मैं करती हूँ मुझे और भी ज्यादा परेशान करती है। पहला, इसका इस्तेमाल इस तरह किया गया है कि लेखक और आंदोलनकारी दोनों का अवमूल्यन हो। यह एक लेखक क्या होता है और क्या कर सकता है उसके विषय क्षेत्र, विस्तार और सीमा को घटाने की कांशिश है। यह ऐसा सुझाता-सा लगता है कि लेखक सिद्धांतः इतने कमजोर होते हैं कि वे कोई बात साफ-साफ, खुलकर, तर्क, आवेग, साहस, ढिठाई और जरूरत हो तो बेहूदगी के साथ सार्वजनिक तौर से राजनीतिक पक्ष नहीं ले सकते। और दूसरी ओर यह सुझाता है कि आंदोलनकारी बौद्धिक दुनिया से दूर रुक्ष और अशिष्ट होता है। चूंकि आंदोलनकारी अपने धंधे से ही 'पक्ष लेने वाला' होता है इसलिए उसमें सूक्ष्मता और बौद्धिक ऊंचाई नहीं होती और इसकी जगह वे रुक्ष, सरलीकृति-दिमाग से, चीजों की एकतरफा समझ से प्रचलित होता है। पर इस शब्दावली से मेरा झगड़ा यह है कि विरोध को व्यवसाय बनाने का यह प्रयत्न समस्या का सीमित करना और सुझाना है कि इससे सुलटने का काम आंदोलन करने वालों और लेखक-आंदोलनकारियों का है।

तथ्य यह है कि आज जो घट रहा है वह 'समस्या' नहीं है और जो मुद्दे हम में से कुछ लोग उठा रहे हैं वे 'मामूली' नहीं हैं। वे विशाल राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल हैं, जो दुनिया को हिलाए हुए हैं। इनसे

कोई इसलिए नहीं जुड़ा है कि वह आंदोलनकारी या लेखक है। यह जुड़ाव इसलिए है कि हम मानवप्राणी हैं। इन चीजों के बारे में लिखना इसलिए सबसे बेहतर है क्योंकि लेखक सबसे प्रभावशाली ढंग से यही कर सकता है। सार्वजनिक बहसों को गैर-पेशेवर करना इसलिए जरूरी है क्योंकि ये आम आदमी की जिंदगी को गहरे प्रभावित करते हैं। अपने भविष्य को 'विशेषज्ञों' के हाथों से वापस लेने का समय आ गया है। सामान्य भाषा में सार्वजनिक प्रश्न पूछने और सामान्य भाषा में सार्वजनिक उत्तर मांगने का समय आ गया है।

चाहे जितने तीखेपन से, गुस्से से, मनाकर या काव्यात्मक तरीके से बात कही जाए, कूल मिलाकर सत्य यह है कि अंततः लेखक एक नागरिक है, कइयों में से एक, जो कि सार्वजनिक सूचना मांग रहा है, सार्वजनिक स्पष्टीकरण चाहता है।

अपनी बात करूं तो मेरा कोई विचारधारात्मक स्वार्थ नहीं है। मुझे लेखक के रूप में कोई हित नहीं साधना है। मैं बात सुनने को तैयार हूँ। मैं अपना मत बदलने के लिए तैयार हूँ। लेकिन तर्क की जगह, या स्पष्टीकरण, या तथ्यों की काट की जगह अपमान, भर्त्सना और विशेषज्ञों का राष्ट्रगान की तुम नहीं समझतीं और यह जटिल मामला है इसलिए समझाया नहीं जा सकता-सुनने को मिलता है। इसका निहित पाठ यह है कि : इस बारे में तुम्हें अपनी छोटी बुद्धि लगाने की जरूरत नहीं है। जाओ अपने खिलौने से खेलो। दुनिया के यथार्थ को हमारे लिए छोड़ दो।

यह पुरानी ब्राह्मणवादी मनोवृत्ति है। ज्ञान का औपनिवेशिकरण करो, इसके चारों ओर दीवार खींचो और अपने हित में इस्तेमाल करो। मनुस्मृति कहती है कि अगर कोई दलित कोई श्लोक या किसी ग्रंथ का कोई हिस्सा सुनता है तो उसके कानों में पिघला शीशा डाल दिया जाना चाहिए। यह मात्र संयोग नहीं है कि जब भारत सूचना क्रांति की पहली पंक्ति में आने के निकट है उसके करोड़ों नागरिक अशिक्षित हैं। (अपने आप में यह जानकारी कम महत्वपूर्ण नहीं होगी कि भारत में कितने 'विशेषज्ञ'-अध्येता, प्रोफे शनल, कंसलटेंट (सलाहकार)-वास्तव में ब्राह्मण या ऊंची जातियों के हैं।)

अगर आप उन भाग्यशाली लोगों में हैं जिन्हें कि सुविधाभोगियों की उस छोटी गाड़ी में सवार होने का अवसर प्राप्त है तो इस मामले को विशेषज्ञों के हवाले कर देने में आपका और विशेषज्ञों का, दोनों का हित है। यह इस चक्कर से, अपनी जिम्मेदारी से पिंड छुड़ाकर, अपनी अंतरात्मा को बोझ मुक्त करने का आसान तरीका है। और यह हर तरह की 'विशेषज्ञता' के लिए जबरदस्त बाजार पैदा करता है। वहां एक पूरी कुरूप दुनिया इंतजार में है जिसमें आपने तरह-तरह की चीजें ढूँढ निकालनी हैं। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि सब कंसलटेंट ठगी करते हैं या विशेषज्ञता का कोई मतलब नहीं है, पर आपने यह कहावत सुनी होगी - गरीबी में बहुत पैसा है। उन लोगों से जो गरीबी और निराशा की अपनी विशेषज्ञता से जीवनयापन करते हैं, पूछने के लिए कई नैतिक प्रश्न हैं।

उदाहरणस्वरूप कब कोई विद्वान विद्वान न रह परजीवी होकर निराशा और विस्थापन पर पलने लगता है? क्या एक विद्वान के अनुदान (फंडिंग) का स्रोत उसकी विद्वत्ता को प्रभावित करता है? अंततः हम जानते हैं कि विश्व बैंक के अध्ययन दुनिया भर में सबसे ज्यादा उद्धृत अध्ययन होते हैं। क्या विश्व बैंक दुनिया की स्थितियों का निष्पक्ष प्रेक्षक है? क्या जिन अध्ययनों के लिए वह अनुदान देता है उनसे उसका कोई हित जुड़ा नहीं होता?

उदाहरण के लिए अंतरराष्ट्रीय बांध आयोग को लें। यह खरबों रुपए प्रति वर्ष की लागत का है। यह विशेषज्ञों और कंसलटेंटों से भरा हुआ है। इतने अध्ययनों, रिपोर्टों, किताबों, पीएचडी-यों, अनुदानों, ऋणों, कंसलटेंट्सियों, ईआईएसके के बावजूद क्या यह अजीब नहीं है कि भारत में बड़े बांधों कितने लोगों को विस्थापित किया है इसका कोई आधिकारिक आंकड़ा नहीं है? इसका भी कोई अनुमान नहीं है कि अनाज के कुल उत्पादन में बड़े बांधों का सही-सही कितना योगदान है? एक भी बड़े बांध का सरकारी ऑडिट, एक विस्तृत, ईमानदार, विचारपूर्ण, परियोजना पूरी होने के बाद का मूल्यांकन, यह देखने के लिए नहीं हुआ है कि जो उस का निर्धारित लक्ष्य था वह उसने पाया या नहीं। इसकी जो कीमत आई है वह सही है या नहीं या वास्तव में कीमत क्या थी?

विशेषज्ञों की मंशा क्या है?

कुल मिलाकर भारत में- इसे अगर कम कड़े शब्दों में कहें तो - ठीक नहीं है। और इस भी उन सैंकड़ों जन आंदोलनों की अद्भुत गहराई, और समझदारी की तारीफ किए बिना नहीं रह सकते जो कि देश भर में चल रहे हैं। उन्हें दबाया जा रहा है पर वे चुप नहीं बैठते, न ही खत्म होने वाले हैं।

उनकी राजनीतिक विचारधाराएं और रणनीतियां विभिन्न तरह की हैं। हमारे एक अजीब मलयाली प्रोफेसर हैं जो कि हर रोज राष्ट्रपति को इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों के सांप्रदायिकीकरण के खिलाफ पत्र लिखते हैं; सुंदरलाल बहुगुणा टिहरी बांध का विरोध करने के लिए आमरण अनशन कर अपनी जान पर खेलते हैं; जादुगोड़ा के आदिवासी अपनी जमीन पर यूरेनियम के खनन का विरोध करते हैं; कोइल कारो संगठन झारखंड में विशाल बांध बनाने का विरोध कर रहा है; चकित करने वाला छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा है; लगातार हड़काया जा रहा मजदूर किसान शक्ति संगठन है; टिहरी गढ़वाल में बीज बचाओ आंदोलन है; और नर्मदा बचाओ आंदोलन तो है ही।

भारत की मुक्ति उसके लोगों और राजनीतिक संगठनों की अंतरनिहित अराजकता और कलह में ही है। यहां तक कि हमारे एडि या खट खटाते, बूट पटकते फासिस्ट भी अराजक की हद तक अनुशासनहीन हैं। एक बार में वे एक दूसरे से पांच मिनट से ज्यादा सहमत नहीं रह सकते। भारत को कॉरपोरेटाइज करना इतना ही कठिन है जितना की उछालें मारते समुद्र को लोहे के कपाटों से बांधकर अनुशासित करने की कोशिश करना। मेरा अनुमान है कि भारत नियंत्रित नहीं होगा। यह हो ही नहीं सकता। यह बहुत बड़ा और चतुर है, इसे फिर से बाड़े में नहीं कुदाया-फंदाया जा सकता। यह अत्यंत विविध, अत्यंत भव्य, अत्यंत हिंस्र और-अंततः मैं मानती हूँ- इतना ज्यादा लोकतांत्रिक है कि इसे टोक-पीट कर सिर्फ एक बात पर विश्वास करने के लिए, जो कि अंततः कॉरपोरेट वैश्वीकरण वास्तव में है कि 'जीवन का मतलब ही लाभ' है, मजबूर नहीं किया जा सकता।

दुनिया में क्या हो रहा है, इस क्षण सामान्य आदमी की समझ से बाहर है। लेखक,

कवि, कलाकार, गायक, फिल्मकार जो कि इसे समझ सकते हैं, इसे सामान्य आदमी का समझा सकते हैं। वे लाभ से लबलबाते चार्टों और बोर्डरूमों के झकाझक वक्तव्यों को वास्तविक जीवन के वास्तविक लोगों की वास्तविक कहानियों में बदल सकते हैं। इस तरह की कहानियां कि जब आप अपने घर, अपनी जमीन, अपने व्यवसाय, अपने सम्मान, अपने विगत और अपने भविष्य को एक अदृश्य ताकत के हाथों खो बैठते हैं तो क्या होता है? ऐसे आदमी या ऐसी चीज को जिसे आप देख नहीं सकते। जिससे आप घृणा नहीं कर सकते। यहां तक आप जिसकी कल्पना तक नहीं कर सकते।

यह नई स्थिति है जो हमारे सामने प्रस्तुत की जा रही है। एक नए तरह की चुनौती। यह एक नई तरह की कला के लिए अवसर प्रदान करता है। एक कला जो अ-स्पर्श को स्पर्श कर देती है, निराकार को साकार बना देती है और असंभाव्य को संभाव्य बना देती है। एक कला जो कि अदृश्य दुश्मन को रूप प्रदान कर वास्तविक बना देती है। उसे दंड देती है।

सनकी लोग कहते हैं वास्तविक जिंदगी का चुनाव असफल क्रांतियों और बेहूदी स्थितियों के बीच से ही करना होता है। मैं नहीं जानती... संभव है वे सही हों। पर उन्हें भी समझना चाहिए कि इसकी सीमा नहीं है कि ये बेहूदी स्थितियां कितनी बेहूदी हो सकती हैं। हमें जो खोजना और पाना है, हमें जिस चीज पर शान चढ़ानी है और उसे एक परिपूर्ण भव्य, चमचमाती चीज में बदलना है वह है नए किस्म की राजनीति। यह सत्ता की राजनीति नहीं है, बल्कि यह प्रतिरोध की राजनीति है। विरोध की राजनीति। जिम्मेदारी तय करने का दबाव बनाने की राजनीति। कुछ विनाशों को रोकने के लिए विश्वव्यापी एकजुटता की राजनीति। आज की स्थितियों में मैं कहना चाहती हूँ कि एक मात्र जिस चीज का वैश्वीकरण किया जाना चाहिए वह है, असहमति। यह भारत का सबसे अच्छा निर्यात है। ■

(अमेरिका में दिए इकबाल अहमद स्मृति व्याख्यान का संपादित रूप)

(मार्च, 2002)

# गिरगिटिया रंग-वैभव की बहार

■ राजेंद्र यादव

बुद्धिजीवी की सामाजिक भूमिका पर बात चाहे बौद्धिक और सैद्धांतिक स्तर से शुरू हो या ऐतिहासिक और दूसरी भाषाओं के वर्तमान से वह आ टिकती है बुद्धिजीवी के अपने आचरण पर। क्या खुद उसके मन में उन नैतिक मूल्यों या सामाजिक आदर्शों के लिए वह सम्मान है जिनकी बात वह देशी-विदेशी उदाहरणों के साथ मंचों से रात-दिन करता है?

समाज में हिजड़ों की भूमिका नहीं 'शोभा' या समस्या होती है। अपने संदर्भ में हमें बुद्धिजीवी की सामाजिक भूमिका पर नहीं, सामाजिक स्थिति पर बात करनी चाहिए क्योंकि हिंदी के वर्तमान परिदृश्य में सामाजिक भूमिका और बुद्धिजीवी दो विरोधी शब्द हैं। भूमिका उनकी होती है जिनकी चेतना और चिंता में समाज, उसकी समस्याएं या उसे बनाने-बिगड़ने वाला मनुष्य होता है। लोग उसमें अपना नैतिक आदर्श देखते हैं। दुर्भाग्य से हिंदी बुद्धिजीवी के लिए समाज, समय बहुत 'मंडेन' या तात्कालिकता-ग्रस्त स्थितियां हैं, मगर उसकी आकांक्षा या शिकायत है कि समाज उनकी चिंता करे, उसे पाले और कंधों पर उठाकर जयगान करे। यह मूलतः सामंती मानसिकता है जहां अन्नदाता किस्म का कोई संरक्षक कवियों/कलावतों को पालता था। उन्हें रोजी-रोटी से निश्चित कर देता था, उनकी पालकी उठाता था और वे काव्य, कला या विचार की दुनिया में रमण करते रहते थे। हमारा बुद्धिजीवी चाहता है कि आज यह काम समाज या उससे भी आगे सरकार करे— उसकी इस आकांक्षा के पीछे तर्क यह है कि रोजमर्रा के दबाव और उलझाव उसके बुद्धिकर्म की स्वतंत्रता को बाधित करते हैं, इसलिए यह जिम्मेदारी सरकार ले ताकि वह सरकारी संरक्षण में 'स्वतंत्र' रह सके... एक तरफ उसके दिमाग में कहीं वसिष्ठ, द्रोणाचार्य, चाणक्य हैं तो दूसरी ओर कालिदास, चंद्रबरदाई, भूषण और गालिब हैं, चेतन-अवचेतन में शंकराचार्य, सुकरात, अरस्तू, रूसो, वाल्टेयर से लेकर मार्क्स, सार्त्र की तस्वीरें भी कुलुबुलाती रहती हैं। उनकी वैचारिक प्रतिबद्धताएं नहीं, देवता बनी या 'लार्जर दैन

लाइफ' (वास्तविक से बड़ी) मूर्तियां उन्हें मोहती हैं—काश, हमारी भी वही प्रतिष्ठा होती या 'किस साले नारकीय और दरिद्र समाज में जन्म लिया है, जहां बुद्धिजीवी की न कोई हैसियत है न वकत। एक हैं फ्रांस, जहां दि-गॉल कहता है कि 'मैं सार्त्र को कैसे गिरफ्तार कर सकता हूं। सार्त्र ही तो फ्रांस है', हमारे ये मित्र इन नामों को इस तरह लेते हैं मानो स्वयं भी इन्हीं में से एक हों। पर यह भूल जाते हैं कि सार्त्र ने नोबेल पुरस्कार को लौटाने में क्षण नहीं लगाया था या जब जरूरत हुई तो छत्र आंदोलन से लेकर माओवादी संगठनों तक का साथ दिया था या अल्जीरिया के संदर्भ में किस तरह अपनी सरकार के विरुद्ध आवाज बुलंद की थी।

यह बुद्धिजीवी बिल्कुल भी समाज की बात न करता हो, ऐसा नहीं है। मगर उसका समाज कहीं अमूर्तन और 'आइडिया' के रूप में धुंधले कांच के पार दीखती कोई चीज है। अमूर्तन सार्वभौमिकाता और सार्वकालिकता तो देता है, लेकिन किसी विशिष्ट समय और समाज को फोकस नहीं करता। यह वैसा ही है जैसे मनुष्य-मात्र के कल्याण और मोक्ष के सिद्धांत गढ़ने वाले के लिए अपने आस-पास गरीबी, भुखमरी, बीमारी से मरने वाला आदमी एक तुच्छ और ऐसी तात्कालिक समस्या है जिस पर अपनी विलक्षण प्रतिभा बर्बाद नहीं की जा सकती। यह 'मायोपिया' (निकटांधता) विदेशी साहित्य के संदर्भ में ज्यादा उजागर होता है ब्लैक-लिटरेचर, रंगभेद के खिलफ अफ्रीकी साहित्य के विद्रोही तेवर, स्त्रीवादी लेखन का बढ़ता बौद्धिक हस्तक्षेप, तीसरी दुनिया का अपना सौंदर्य-शास्त्र उसे चिंतन और विमर्श के

धरातल पर इतना आंदोलित करता है कि सारी लघु-पत्रिकाएं सुने-अनसुने विद्रोही कवियों की रचनाओं-वक्तव्यों के अनुवादों से भरी रहती है, मगर स्वयं अपने समाज में न उनकी पहचान दिखाई देती है, न जरूरत, हां, 'कभी-कभार', इन विश्वकोषी सूचनाओं से यह जरूर पता चलता है कि दुनिया के हर समाज के मुकाबले हिंदी साहित्य समाज जितना कूढ़-मग्न, जड़ और दरिद्र है कि मलयालम, मराठी, कन्नड़, तेलुगु, गुजराती और बंगला-असमिया में कैसे साहित्यकार को लगभग देवता की तरह पूजा जाता है, कुछ बुद्धिजीवियों की तो स्थाई थीम ही हिंदी पाठक की रुचि... दरिद्रता और छाती पीट... मर्सियाख्वानी है।

देवताओं की इस आरती-कथा में जो चीज एक सिरे से गायब है वह है आत्मविश्लेषण। हमारे लेखकों-बुद्धिजीवियों में कहां-क्या कमी है कि उस जनता से उसका कोई संवाद नहीं है जिससे उसे सम्मान-सरोपा संरक्षण चाहिए? संरक्षण सेठों और सरकार का हो, मगर सम्मान हिंदी का सामान्य पाठक देयह चमत्कार सारे दूरदर्शनी ढोल-धमाके के बावजूद घटित होता हुआ नहीं लगता। क्या इतना काफी नहीं है कि सत्ता में आपकी पूछ है और राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय संकलनों में रचनाएं शामिल हैं? हर 'बजट-निपटाऊ' आयोजन में आपको अध्यक्षता के लिए बुलाया जाता है और हर जगह आपका 'ताना-बाना' फिट है।

माफ कीजिए, मेरे दिमाग में बुद्धिजीवी और साहित्यकार लगभग पर्याय हो रहे हैं। जैसे तो डाक्टर, वकील, इंजीनियर, प्राध्यापक सभी को बुद्धिजीवी जाना जाता है, मगर वहां प्रोफेशनल दक्षता पहला मानदंड है, नैतिक पक्षधरता की उम्मीद शायद साहित्यकार से ही की जाती है। डॉक्टर की नैतिकता यही है कि वह अपने पेशे के लिए कितना समर्पित और सच्चा है, उसे यह भेद करने का अधिकार नहीं है कि मरीज या घायल गांधी है या गोडसे। एक मनुष्य है जो तकलीफ और यातना में है और डॉक्टर का धर्म है कि उसकी जनमपत्री में न जाकर बीमारी में जाए। शायद यही 'नैतिकता' वकील भी अपने लिए चाहे। मगर क्या साहित्यकार इस अर्थ में पेशेवर हो सकता है? क्या एक नाटककार, कवि या विचारक को हम यह 'स्वतंत्रता' देंगे कि वह सचमुच जनरल डायर या हिटलर, आडवाणी या बाल

ठाकरे के कृत्यों और जीवन-दर्शन को जायज और सही ठहराए। इसके लिए जरूरी होगा कि पहले वह अपने बुद्धि-कौशल से एक व्यक्ति या वर्ग को देश, राष्ट्र और अमूर्त मानवता का शत्रु घोषित करे और उसके संहार के पक्ष में इन नायकों के साथ खड़ा हो। फिर हम उसे चंद्रबरदाई और भूषण जैसा चाण कहेंगे, जैसा चारण कहेंगे, आज के अर्थ में 'बुद्धिजीवी' नहीं। वह कौन-सी छलनी है यहां एक तरफ शिवमंगल सिंह सुमन और श्रीकांत वर्मा है तो दूसरी तरफ मुक्तिबोध और हरिशंकर परसाई? मोटे रूप में इसे सत्ता का प्रतिपक्ष ही कह सकते हैं।

मोटे रूप में यह भेद संघर्षशील जनता के प्रति सत्ता के व्यवहार और उसके पक्ष-विपक्ष में बुद्धिजीवी की भूमिका से तय होता है। सत्ता की ठकुरसुहाती, साठ-गांठ और लाभ-लपकन के साथ जनता के दुख-दर्द की शाब्दिक चिंता का नाटक उसे अविश्वसनीय और हास्यास्पद बनाता है। मध्यवर्गीय सुख-सुविधा और उपभोक्तावाद के लिए तैयार किया वैचारिक शून्य, बुद्धिजीवी को 'गिरगिटिया' रंग-वैभव देता है। अपनी भाषा के सबसे महान लेखक-विचारक कवि, जो पहले इंदिरा गांधी के दरबार में चक्कर लगाया करते थे आज कभी के डिया सम्मान की थैलियां बटोरते हैं तो कभी मोदी की, कभी मुरलीमनोहर जोशी के दरबार में नियमित बंदगी करते हैं तो कभी अटलबिहारी वाजपेयी का घुटना-वंदन और कुछ नहीं तो 'सुलभ' तो सुलभ है ही... विवेकहीन सार्वजनिक व्यक्तित्व, सार्वजनिक जन-सुविधा में रूपांतरित होने के लिए अभिशप्त है। वैसे इस बुद्धिजीवी तेबेले या हमाम का यह दृश्य काफी मनोरंजक है जहां खुद सरकारी पैसे से ऐश करने वाले हर दूसरे को मुफ्तखोर कह रहे हैं और सारा मार्क्सवाद भूलकर अपने को राणा प्रताप और पृथ्वीराज के वंशज घोषित करने वाले मुच्छाड़, चोटी के विद्वान-ज्योतिषियों के चरणों में बैठे अपना भविष्य तय करा रहे हैं। उनके हिसाब से आज जब किसी भी सामाजिक आंदोलन का कोई भविष्य रह ही नहीं गया है तो व्यक्तिगत उपलब्धियों का स्वर्ग क्यों छोड़ा जाए, बौद्धिक चमत्कार इसी में है कि वे ऐसे शब्दों और वैचारिक सूक्तियों का निर्माण करते रहें

जिनके हर अवसर के अनुरूप विरोधी अर्थ निकाले जा सकें। इनके पास साहित्य या विचार के लिए खोने और छोड़ने को कुछ नहीं है, जो भी कुछ पाने और हड़पने के लिए है।

ये बुद्धिजीवी अपने-अपने मठों और मचानों पर कागजी बाघों की तरह भक्तों की सुविधा के लिए चरण लटकाए बैठे रहें, इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं है, मगर फिर पाश, वरवर राव, गदर या नारायण सुर्वे जैसों की दुहाई न दें कि वहां की जनता उन्हें कितना सम्मान देती है। अपने विश्वसों के लिए वे सड़कों पर उतरे हैं। आंदोलन में शामिल हुए हैं—ठीक उसी तरह जैसे अंतरराष्ट्रीय लेखिका अरुंधति रॉय मेधा पाटकर के साथ जुड़ी हैं। यह नाकाबिले बर्दाश्त बेशर्मा है कि आप खुद तो चारणों, हिजड़ों, और मीरासियों की संस्कृति के दयनीय उदाहरण बने रहें और रोना रोते रहें हिंदी के सांस्कृतिक दारिद्र्य का... धन्यवाद दीजिए हिंदी-समाज की उस उदासीनता और सहनशीलता को कि वहां आपके होने न होने से कोई फर्क नहीं पड़ता, वर्ना कहीं अगर वहां भी पढ़ने-लिखने और सोचने का सिलसिला शुरू हो गया तो पता नहीं उसकी भाषा में कंकड़-पत्थर बोलने लगे या अश्रव्य शब्दावली... जुलूस मुर्दे पर लपकने वालों की जो भूमिका होती है, वही तो देता है उन्हें हमारा समाज।

बुद्धिजीवी की सामाजिक भूमिका पर बात चाहे बौद्धिक और सैद्धांतिक स्तर से शुरू हो या ऐतिहासिक और दूसरी भाषाओं के वर्तमान से वह आ टिकती है बुद्धिजीवी के अपने आचरण पर। क्या खुद उसके मन में उन नैतिक-मूल्यों या सामाजिक आदर्शों के लिए वह सम्मान है जिनकी बात वह देशी-विदेशी उदाहरणों के साथ मंचों से रात-दिन करता है? इनमें प्रायः सारे पेशे से अध्यापक हैं जो सिद्धांततः न पढ़ाते हैं, न क्लास लेते हैं—सुविधाएं, तनखाएं आई.ए.ए.एसों की होने के बावजूद उनका रात-दिन का धंधा है शेर बाजारी, दलाली, ट्यशनो या नेताओं की दरबारदारी... परम सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों से लेकर चरमवामपंथियों तक मैंने किसी अध्यापक को अपने और विद्यार्थियों के संबंधों, पाठ्यक्रमों की गुणवत्ता, क्लास लेने जैसी बातों के लिए कभी आवाज उठाते या आंदोलन करते नहीं देखा। इनमें से किसी ने भी अपने क्षेत्र में कोई नया विचार दिया हो या किसी नए क्षेत्र का

अनुसंधान किया हो, यह भी नहीं सुना। हां, यह जरूर सुना कि किसने अपने बेटे-बेटियों को कहां विदेश (अमेरिका) भेजा, नौकरियों के लिए क्या षड्यंत्र किए। कैसी कोठी बनाई। बेटे की शादी में दहेज-मकान लिए, देशी-विदेशी आयोजनों में जाने के लिए अफसरों-नेताओं की चरण-चप्पियां कीं, पुरस्कार झटकने के लिए क्या तिकड़में की और फिर हत्यारे, घूसघोर, बेईमान, देशद्रोही नेताओं द्वारा कैसे सम्मानित हुए... इन महान बुद्धिजीवियों को अगर भाजपा की पोंगापंथी विचारधारा और जन-विरोधी सरकार सूट करती है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? हमारे देखते-देखते ये सब वही जाएंगे। इनकी बौद्धिकता सिर्फ अपनी खुशामदी सफलताओं को जायज ठहराने की चालाकी है। क्या वह सिर्फ संयोग है कि गोलवलकर, आडवाणी, देवरस, सुदर्शन, जिस तरह घोषणा करते रहे हैं कि भारतीय राजनीति, संस्कृति, इतिहास का नाश कम्युनिस्टों ने किया है ठीक उसी भाषा में विष्णुकांत शास्त्री, विद्यानिवास मिश्र, निर्मल वर्मा, अशोक वाजपेयी आदि—सभी एक स्वर में सिद्ध कर रहे हैं कि वामपंथी विचारधारा ने कैसे साहित्य की कलात्मकता, उत्कृष्टता और महानता का बंटोधार किया है। वस्तुतः नारा चाहे महान भारतीय संस्कृति को बचाने का हो या साहित्य की स्वायत्तता का—मूल चिंता लोकतांत्रिक उभारों को नकार कर सामंती मूल्यों और फासीवादी आग्रहों के प्रति निष्ठा की है। इसलिए हर वह 'दर्शन' विदेशी या अस्वीकार्य है जो यथास्थिति बदलने की बात करता है।

मैं समझता हूँ कि इस तथाकथित बुद्धिजीवी की न तो कोई सामाजिक भूमिका है, न होनी चाहिए। अपनी दयनीय और पतित स्थिति के लिए ये खुद जिममेदार हैं। सही है कि बुद्धिजीवी आंदोलन नहीं खड़े कर सकता, मगर भविष्य की दृष्टि से किन शक्तियों के साथ खड़ा हो, यह विवेक तो दिखा ही सकता है। उसका सबसे बड़ा संकट चुनाव का विवेक है। जब उसका चुनाव ही यह हो कि किसी भी व्यवस्था में डाल दो, रह जाएंगे तो उसकी मृत्यु पर रोने का हक, शायद किसी को नहीं है। किसी की भी भूमिका वक्तव्यों से नहीं आचरण और कर्मों से तय होती है। ■

(जनवरी-फरवरी, 2001)

# किताब और नया हिसाब-किताब

■ मनोहर श्याम जोशी

मेरे पूर्वजों के लिए शब्दों का और इसलिए किताबों का बहुत महत्त्व था। पोथी-पत्रों की कृपा से ही उनकी आजीविका चलती थी। उनकी अधिकतर पोथियां पुरातन काल से ही चली आ रही होती थीं। उनके बारे में हद से हद कोई नई टीका ही बाद की लिखी हुई होती थी। वह 'बाद में' भी मेरे परदादा के परदादा से बहुत पहले हो चुका था। इसलिए बस गिनी-चुनी पोथियां ही थीं। उनकी प्रतियों की संख्या भी सीमित थी क्योंकि नई प्रति बनाने के लिए किसी पुरानी प्रति की हाथ से नकल करनी पड़ती थी। इसीलिए तब पोथियां फीतेदार कपड़े में अच्छी तरह से लपेट-बांधकर बहुत संभाल कर रखी जातीं और उन्हें केवल किसी विशेष अवसर पर ही खोला जाता। और खोलकर उन्हें रखने के लिए ही खासतौर पर बनने वाली दोपाई पर रखा जाता था। उम्मीद यह की जाती थी कि पोथी में आए पाठ का उपयोग करने वालों को किशोरावस्था या उससे भी पहले वह कंठस्थ करा दिया गया होगा। पोथी तब अत्यंत आदरणीया हुआ करती थी। उसे खोलने से पहले और बंद कर चुकने के बाद सिर-माथे लगाने का नियम था।

मेरे दादा के जमाने तक स्थिति बदल चुकी थी। पोथियों की जगह किताबों का जमाना आ चुका था। पुस्तकों की प्रतियां अब नकल नहीं करनी पड़ती थीं, छप जाया करती थीं। काल ने जिसके पृष्ठों की सफेदी को भूरेपन में बदल दिया है। 'श्री व्यंकटेश्वर स्टीम प्रेस', खेतवाड़ी मुंबई से प्रकाशित ऐसी कुछ पुस्तकें आज भी मेरे यहां पुरखों की थाती के रूप में पूजाघर में वस्त्रों में लिपटी रखी हुई हैं। तब तक अधिकतर पुरानी पोथियां ही मुद्रित की जा रही थीं और छपने के लिए जो नई पुस्तकें लिखी जा रही थीं उनकी संख्या बहुत सीमित थी। इसलिए पुस्तक आदर के स्थान पर यथावत विराजमान रह पा रही थी। वह इतनी अतिपरिचिता न हो गई थी कि उसे उपेक्षित का दर्जा मिलने की नौबत आ जाए। मेरी किशोरावस्था तक भी पुस्तक के हाथ से गिर जाने पर उसे उठाकर माथे लगाने का और मन

ही मन 'विद्यानाम्नी' किसी देवी से क्षमा-याचना करने का नियम था।

मेरे पिता की पीढ़ी के जवान होने तक एक बड़ा परिवर्तन यह हो गया कि नई-नई पुस्तकें बड़े पैमाने पर छपने और सबके लिए ज्ञान-विज्ञान के द्वार खोलने लगीं। विद्यालयों में पुस्तकालय खुल गए और पुस्तकालय स्वयं अपने में विद्यालय बन गए। मुझे याद है कि गवर्नमेंट कॉलेज, अजमेर में हम छात्रों के लिए पुस्तकालयाध्यक्ष हर्षे साहब किसी प्रोफेसर से कम श्रद्धास्पद न थे। यह भले ही हम लोगों का गढ़ा हुआ मिथक हो कि उन्होंने पुस्तकालय की एक-एक पुस्तक पढ़ रखी थी लेकिन इसमें संदेह नहीं कि किसी भी विषय पर बातें करो, हर्षे साहब उससे जुड़ी हुई समान पुस्तकों के नाम ही नहीं गिनाते चले जाते थे बल्कि यह भी बता पाते थे कि कौन चीज आपको कहां सबसे अच्छी लिखी हुई मिलेगी, मेरे पिता की और मेरी पीढ़ी के विद्यार्थियों के लिए पुस्तकालय एक मंदिर, एक मिथकीय प्रतीक बन सका था। पिछली पीढ़ी के यशस्वी आर्जे टानी साहित्यकार बोर्खेज ने जो पुस्तकालय और पुस्तक दोनों को कथा-पात्र तक बनाया और 'एक ही पुस्तक है जो बार-बार लिखी जाती है'—मार्का ने एक नया वेदांत रच डाला।

मेरे पिता की और मेरी पीढ़ी के लोग नित्य नियम से किसी-न-किसी पुस्तकालय में जाते रहते। यही नहीं, अपने-अपने घर में भी कहीं-न-कहीं छोटा-बड़ा पुस्तकालय बनाते। आज भी किसी परिचित या अपरिचित के घर में मेरी पीढ़ी के लोगों की आंखें निजी पुस्तकालय खोजने लगती हैं। यही कारण है कि हम लोगों के पुस्तकालयों में एक-दूसरे की खरीदी हुई कुछ ऐसी पुस्तकें अवयश्य सुशोभित नजर आती हैं जिन्हें हम जान-बूझकर लौटाना भूल गए। तब के लोगों की स्मृति में जो गंध सबसे ज्यादा तीव्रता से उपस्थित रही थी वह थी पुस्तक-गंध। वे किताबों को पढ़ना ही नहीं सूंघना भी पसंद करते थे। बल्कि कुछ को तो वह सूंघ-सांघकर ही पढ़ा हुआ मान लेते थे। तब के कुछ लोगों

का बस चलता तो पुस्तकों को सूंघते ही नहीं, चखते भी। 'पुस्तक चाटना' और 'पुस्तक घोंट कर पी जाना' जैसे मुहावरे इसी दमित इच्छा से उपजे थे। शायद। सच तो यह है कि तब के लोगों को पुस्तक से प्यार हो गया था।

आज जानिए जिससे प्यार हो जाए उसे छोड़ने का मन ही नहीं करता। इसके चलते कुछ ऐसा हुआ जो उस दौर में बड़े-बूढ़ों को नितांत आपत्तिजनक प्रतीत हुआ। पोथियों को पूजने वालों के वंशज विलायती साहबों के पद-चिह्नों पर चलते हुए भोजन करते और निवृत्त होते समय भी पुस्तक का साथ न छोड़ने लगे। इस तरह पूज्या को पतुरिया बनवा देने वाले छापेखाने को हमारे बुजुर्ग कोसते रहे हों तो क्या आश्चर्य। हमारे परिवार में मेरे मंझले चाचा पहले व्यक्ति थे जिन्होंने पुस्तकालय से शौचालय तक का मार्ग प्रशस्त करने का जोखिम उठाया। फिर मेरे—जैसे अनेक आधुनिक युवा बड़े उत्साह से उनके पद-चिह्नों पर चले। क्षुब्ध कुमाऊंनी बुजुर्गों ने छापे-खाने की देन को 'चिथाड़' (चिथड़ा) की संज्ञा दे दी। माताएं यह बड़बड़ते हुए सुनाई देने लगीं कि 'आग लगे इन चिथड़ों को।'

किताब को चिथड़ा कहने का औचित्य तब कुछ पल्ले नहीं पड़ा था। अब सोचता हूं कि शायद हमारे बुजुर्गों को यह लगा हो कि जहां पोथियों में बिरादरी द्वारा सदियों से समादृत वांगमय रहा करता था, वहां इन छपी हुई पुस्तकों में ताजा फैशन पर तैयार किया गया ज्ञान का एक चिथड़ाभर है, जिसकी फैशन बदलने के बाद कोई उपयोगिता नहीं रह जाएगी।

अल्मोड़ा में अपने पुश्तैनी पूर्वजों की जोड़ी हुई बची-खुची पुस्तकें देखता हूं तब पाता हूं कि वे सब की सब ऐसी हैं जिनका अब कोई नाम लेना भी नहीं रह गया है। जो ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकें हैं उनमें दी हुई जानकारी आज के हिसाब से न केवल आधी-अधूरी है, बल्कि कई मामलों में भ्रामक भी। जो पिछली सदी के आरंभिक दशकों की रचनात्मक साहित्य की पुस्तकें हैं वे 'आउट ऑफ डेट' नहीं, तो 'आउट ऑफ फैशन' जरूर हो गई हैं। उन्हें भुला ही देना चाहते हैं। पुरानी पुस्तकों में से कुछ ही ऐसी हैं जो बतौर 'एंटिक' अच्छी दामों पर बिक सकती हैं, बाकी सब तो बस किसी कबाड़ी के काम की रह गई हैं। पुरानी किताबों की तो बात छोड़िए, नई-नई छपी हुई किताबों तक की अब अक्सर यही नियति होने लगी है। प्रकाशकों की दुनिया में एक



नया शब्द उभरा है—‘रिमेंडर’। अर्थात् नई छपी किसी पुस्तक की वे प्रतियों जो बिक ही न सकी हों और जिन्हें रद्दी के भाव बेच देना ही श्रेयस्कर हो। प्रसंगवश यह शब्द मैंने पहली बार कुछ श्रेष्ठ आधुनिक भारतीय पुस्तकों के यूनेस्को द्वारा करवाए गए अनुवादों के संदर्भ में सुना था।

शायद मेरे पूर्वज तब भी यह देख सके थे कि श्रेष्ठ हो या निकृष्ट, हर पुस्तक देर-सबेर कहीं न किसी की दृष्टि में ‘कबाड़’ ही ठहरने वाली है। मुक्त-मंडी ने पुस्तक को चिथड़ा पुकारने वाले मेरे पूर्वजों का यह अनुमान सही कर दिखाया है कि पोथी और पुस्तक में उतना ही अंतर है, जितना कि जातीय स्मृति में बस जाने वाले मिथक-पुराण और महीने के महीने रद्दी में बिक जाने वाले अखबार में। आधुनिक समाज-शास्त्रियों ने छापेखाने के क्रांतिकारी महत्त्व को रेखांकित करते हुए इस ओर हमारा ध्यान दिलाया था कि उसी ने पुस्तकों के माध्यम से ज्ञान-विज्ञान को सर्व-सुलभ बनाकर समाज-सुधार, लोकतंत्र और वैज्ञानिक-औद्योगिक युग का द्वारा खोला है। उनका ध्यान बस इस ओर है कि मंडी की निगाहों में हर चीज का एक भाव जरूर होता है मगर मोल किसी चीज का नहीं होता। मुक्त-मंडी में पुस्तक भी एक पुण्य का दर्जा रखने के लिए अभिशप्त थी।

शीतयुद्ध की पराकाष्ठा के दौर में सोवियत संघ बुद्धिजीवी बिरादरी में अपनी पताका फहराने के लिए बार-बार यह दावा करता रहा था कि संसार के सभी देशों का श्रेष्ठ नया-पुराना साहित्य हमारे यहां बड़े पैमाने पर छप और बिक रहा है। पता नहीं उस दावे में कितना दम था लेकिन इतना जरूर पता है कि यहां मुक्त-मंडी स्थापित होते ही रूस के हमदर्द लेखकों को रूस जाकर तगड़ी रॉयल्टी वसूल करने का सुख अब मिल नहीं पा रहा है। मुक्त-मंडी ने प्रकाशक को एक बहुत बड़े व्यवसाय का दर्जा दे डाला है और बड़े-बड़े प्रकाशन समूह किसी-न-किसी बहुराष्ट्रीय कंपनी के अंग बन चुके हैं। रचनात्मक साहित्य के अंतर्गत भी पश्चिम के बड़े प्रकाशन-समूहों को ऐसी ही कृतियां चाहिए जिनके बैस्ट सेलर बन सकने की संभावना प्रबल हो और ‘रिमेंडर’ कर दिए जाने की आशंका नितान्त क्षीण। विदेशों में प्रकाशन व्यवसाय में पांडुलिपियों की परख करने वाले अनुभवी सलाहकार रखने और उनके द्वारा प्रकाशन के लिए चुनी गई पांडुलिपियों को नोक-पलक दुरुस्त करने की नीयत से अनुभवी संपादकों को

सौंपने की परंपरा शुरू से चली आ रही थी। इसी तरह वहां लेखक सीधे किसी प्रकाशक को पांडुलिपि भेजने से बेहतर यह समझते थे कि किसी ‘लिटरेरी एजेंट’ (बिचौलिया) की मदद लें। अब अंतर यह आ गया है कि एजेंट और प्रकाशक का संपादक दोनों ही, नवोदित और प्रतिष्ठित हर लेखक को, कृति का साहित्यिक पक्ष सुधारने के बारे में ही नहीं, ‘व्यावसायिक पक्ष’ भी सुधारने की नेक सलाह देने लगे हैं और बताने लगे हैं कि इस सिलसिले में क्या काट-छंट की जानी चाहिए। हर पुस्तक के प्रकाशन से पूर्व और तुरंत बाद लेखक की रॉयल्टी से अपना कमीशन काटने वाला एजेंट लेखक के व्यक्तित्व और कृतित्व के प्रचार-प्रसार के लिए अब जी-तोड़ कोशिश करता है। वह लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं और टीवी कार्यक्रमों में लेखक को जगह दिलाने के लिए पब्लिसिटी का हर हथकंडा अपनाता है। वह लेखक की धूम करवाता है ताकि कृति की धूम हो सके। वह लेखक को ‘सेलिब्रिटी’ बनवाता है।

लेखक अपनी पुस्तक के प्रचार-प्रसार के लिए पहले एजेंट के और फिर प्रकाशक के तय किए हुए दरों पर निकलते हैं। दुकानों पर खड़े होकर अपनी नई छपी किताब को हस्ताक्षर कर कर-करके बेचते हैं। समाचार बनने के लिए इससे या उससे झगड़ा मोल लेते हैं या इस या उस मुद्दे को लेकर क्रांतिकारी मुद्रा में सड़कों पर निकल आते हैं। संक्षेप में यह कि वे सहर्ष स्वयं अपने सेल्समैन बन जाते हैं। मुक्त-मंडी में नए लेखकों के लिए सबसे अच्छा एजेंट वही होता है जो पांडुलिपि पर तगड़ी अग्रिम रॉयल्टी दूसरों को दिलवा चुका हो। प्रतिष्ठित लेखक के लिए सबसे अच्छा प्रकाशक वही होता है जो नई पुस्तक का एक भी शब्द लिखने से पहले ही तमड़ी अग्रिम रॉयल्टी का चैक लेकर हाजिर हो जाता हो। सब सब को पटाने में लगे रहते हैं। एजेंट प्रकाशकों के सलाहकारो को। एजेंट, प्रकाशक, लेखक तीनों की अखबार और टी.वी. वालों को और उन समीक्षकों को भी जो ‘सेलिब्रेटी’ बन चुके हों और इसलिए महत्त्वपूर्ण पुरस्कार दिलवाने वाली निर्णायक समितियों में रहते हों। ऐसा माना जाता है कि पुरस्कार मिलने से पुस्तक की बिक्री बढ़ जाती है।

बहुधा प्रकाशक किसी लेखक की पहली रचना पर एजेंट द्वारा बोली लगवाए जाने पर बतौर अग्रिम रॉयल्टी एक बहुत बड़ी राशि देने को इसलिए तैयार हो जाते हैं कि यह बात खुद

अपने में एक खबर बनेगी और बहुत से लोग किताब इसीलिए खरीदेंगे कि जिसके लिए इतनी तगड़ी रॉयल्टी पेशगी दी गई, वह निश्चय ही कोई अद्भुत कृति होगी। मुक्त-मंडी में ऐसी हर कृति का कोई महत्त्व नहीं रह गया है जिसे ‘बैस्ट सेलर’ का दर्जा न मिल पाया हो, जिन कृतियों को यह सौभाग्य प्राप्त होता है उनका भी महत्त्व तभी तक रहता है जब तक कि ‘बैस्ट सेलर’ सूची की किसी-न-किसी पायदान पर वह विराजमान रह सकें। बल्कि शायद यों कहना चाहिए कि मुक्त-मंडी में ‘बैस्ट सेलर’ का ही मतलब होता है स्वयं ‘बैस्ट सेलिंग’ पुस्तक। अधिकतर ग्राहकों के लिए सबसे अलग कोई महत्त्व नहीं रखती।

जिस समय *न्यूयार्क टाइम्स* की ‘बैस्ट सेलर लिस्ट’ पर कथा-साहित्य के अंतर्गत सलमान रुश्दी की *द सैटेनिक वर्सेज* और इतर साहित्य के अंतर्गत स्टीफन हॉकिंग की *ए ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ टाइम* चोटी पर विराजमान थी तब एक साहित्यानुरागी पत्रकार के मन में यह प्रश्न उठा कि सामान्य पाठक की दृष्टि से लगभग अपठनीय होने की हद तक कठिन पुस्तकें इतनी बड़ी संख्या में बिक कैसे रही हैं? उसने प्रमुख पुस्तक विक्रेताओं से हजारों ऐसे लोगों के नाम और पते लिए जिन्होंने दोनों किताबें खरीदी थीं और फिर जाकर उनसे बातचीत की। इस बातचीत के नतीजे बहुत दिलचस्प रहे। जैसे यह पता चला कि तीन-चौथाई से अधिक ग्राहकों ने पुस्तक स्वयं पढ़ने के लिए नहीं, बल्कि किसी पुस्तक प्रेमी मित्र अथवा संबंधी को भेंट करने के लिए खरीदी थी और सो इसीलिए कि उन्होंने सुना था कि इसका नाम ‘बैस्ट सेलर लिस्ट’ में है।

जिन लोगों ने इस पुस्तक को ‘बैस्ट सेलर’ में आने से पहले खरीदा था अर्थात् पढ़ने के लिए ही खरीदा था, उनमें से भी ज्यादातर यही कहते पाए गए कि सलमान रुश्दी की पुस्तक की ओर हमें इस समाचार ने आकर्षित किया कि इसे लिखने पर लेखक को मार डालने का फतवा जारी किया गया है और हॉकिंग की पुस्तक की ओर हम इसलिए आकर्षित हुए कि हमने पढ़ा कि उसे जवानी में कदम रखते ही ऐसी बीमारी लग गई थी, जिससे धीरे-धीरे उसके शरीर के सभी अंगों को लकवा मार गया है और केवल उसका दिमाग चैतन्य है। वह बोलता तक कंप्यूटर की सहायता से है। अर्थात् दोनों ही मामलों में पाठक-ग्राहक यह मानकर चला कि जिस लेखक के बारे में दिलचस्प बातें छपी हैं उसका

लेखन भी दिलचस्प सिद्ध होगा। दूसरे शब्दों में मुक्त-मंडी ने साहित्यिक सफलता में एक शर्त यह जोड़ दी है कि रचनाकार या तो पैदाइशी दिलचस्प हो, नहीं तो कोशिश करके किसी भी तरह अपने को बना ले। विवादों में पड़ना और विवादास्पद बातें कहना, इसका एक बहुत अच्छा उपाय माना जा रहा है।

लेखक सीधा अंग्रेजी में ही लिखने लगेगा जैसे पंकज मिश्र और राजकमल झा आज लिख भी रहे हैं।

यह हिंदी लेखक का परम सौभाग्य या दुर्भाग्य है कि हिंदीभाषी क्षेत्र आधा आधुनिक-आधा सामंती उर्फ भयंकर रूप से अधकचर है। इसलिए आधुनिक साहित्य छापने वाले प्रकाशक के लिए भी बिक्री बढ़ाने के लिए जन-संपर्क के अंतर्गत पुस्तकों की सार्वजनिक खरीद से जुड़े लोगों को कैश और काइंड में घूस देने की कला ही सीखनी पड़ती है। पुस्तकें बेची नहीं जातीं, सरकारी खरीद में भिड़ाई जाती हैं। इसी के चलते मुझे सुरीनाम की राजधानी में हमारे सांस्कृतिक केंद्र के पुस्तकालय में हिंदी के लगभग अज्ञात लेखकों की कूड़ा किताबों की दो-दो तीन-तीन प्रतियां रखी हुई मिलीं। कूड़ा किताबें छप कैसे गई? इसलिए कि केवल सरकारी खरीद पर निर्भर हमारे प्रकाशकों को अनुभवी सलाहकार और संपादक नियुक्त करने की न कभी आवश्यकता पड़ी और न शायद इस लायक उनके पास पैसा ही हुआ। उधर हमारे आधा तीतर-आधा बटेर लेखकों को न पिछली पीढ़ी के किसी लेखक से अपनी रचनाओं के बारे में परामर्श लेने का सामंती उपाय रास आया और न अपनी रचनाओं का किसी व्यक्ति से संपादन करवाने का आधुनिक उपाय। जबकि पश्चिम में कई नोबेल पुरस्कार विजेताओं तक ने स्वीकार किया कि हमारी विख्यात प्रतियां जबरदस्त संपादन के बाद प्रकाशित हुईं।

सरकारी खरीद करने वाले कुछ लोगों को यह अपराध सताता है कि हिंदी प्रकाशक का कल्याण करते हुए हम हिंदी-लेखक की पर्याप्त चिंता नहीं कर रहे हैं। इसलिए वे प्रकाशक को बढ़ावा देने वाली कुछ संस्थाएं तो 'महत्त्वपूर्ण पांडुलिपि' छापने के लिए प्रकाशक को तगड़े पारिश्रमिक की शर्त के साथ पैसा देते समय पहले संस्करण के लिए लेखक का आधा पारिश्रमिक भी स्वयं ही दे देती हैं। ताकि प्रकाशक बेचारे पर कष्ट न पड़े! इस तरह घोटालों के लिए रास्ता

खुलता है। हिंदी किताब और हिंदी-लेखक के लिए सार्वजनिक चिंता की पराकाष्ठा एक हिंदीभाषी राज्य में तब हुई जब एक जबर्दस्त खाऊ-पीऊ अधिकारी को हिंदी से संबंध विभाग को भेज दिया कि वहां क्या कर लेगा? वहां भले आदमी ने यह किया कि हिंदी-लेखक और हिंदी पुस्तक को बढ़ावा देने के लिए तीन करोड़रूपए को किताबें खरीदने की योजना बनाई लेकिन शर्त यह रखी कि वही पुस्तकें खरीदी जाएंगी जिनके लेखकों को बीस प्रतिशत रॉयल्टी देने के अनुबंध की सत्यापित प्रतियां साथ भिजवाई जाएंगी। अंत में उस अधिकारी ने ऐसे हर प्रकाशक को अलग बुलाया जो 'और मेरे लायक कोई सेवा' वाले मूड में कुछ ज्यादा ही दिखाई दे रहा था। इन प्रकाशकों को वह अपना तीस प्रतिशत मेहनताना अग्रिम लेकर खरीद कर आर्डर थमाता चला गया। यह बात अलग है। बाद में उन्हें पता चला कि राज्य सरकार के पास उन्हें देने के लिए पैसे ही नहीं हैं।

चलिए मुक्त-मंडी का इतना असर तो हम पर पड़ा ही है कि किताब घूस से जुड़ गई है। भले ही लेखक को अभी इतना पारिश्रमिक न मिलता हो कि वह अपना एक साहित्यिक एजेंट नियुक्त कर सके। मुक्त मंडी उसे स्वयं ही अपना एजेंट बन जाने के लिए प्रेरित तो करने ही लगी है। जनसंपर्क में उसकी भी गहरी आस्था हो चली है। विवादास्पद बनने और चर्चा में आने के लिए वह भी हाथ-पांव मारने लगा है। पुरस्कार पाने के लिए प्रयत्नशील हो रहा है। एजेंट की जगह वह स्वयं ही साहित्यिक मठाधीशों और मीडिया से जुड़े महत्त्वपूर्ण लोगों के दरबार में हाजिरी लगा रहा है और बोटलें भी भेंट कर रहा है। कुछ प्रकाशक भी नए तौर-तरीके अपनाने की दिशा में थोड़े-बहुत कोशिश कर रहे हैं। लेकिन कुल मिलाकर हिंदी पुस्तक का कोई जलवा हो नहीं पा रहा है। आज संपन्न लोगों के घरों तक में उतनी भी हिंदी-पुस्तकें नहीं दिखती जितनी कि मेरे बचपन में मध्यगीय घरों में नजर आ जाती थीं।

भूमंडलीकरण के इस दौर में हिंदीभाषी समाज सबसे ज्यादा तेजी से इंग्लिश और वह नहीं तो 'हिंग्लिश' भाषी समाज बनता चला रहा है। उधर तमाम विश्व हिंदी सम्मेलनों के बादजूद हिंदी को कोई अंतरराष्ट्रीय स्वीकृति वैसे ही नहीं मिल पा रही है जैसे राजभाषा आयोग के बावजूद राष्ट्रीय स्वीकृति नहीं मिल पाई है। आज भारतमाता ग्रामवासिनी का गुणगान करने वाले हिंदी लेखक के मन में भी

स्वाभाविक रूप से यह ललक जागी है कि मेरी कृतियों की भी ग्लोबव्यापी गांव की चौपाल में चर्चा हो। लेकिन दिक्कत यह है कि ग्लोबव्यापी गांव में उन कृतियों को ही स्थान मिल पाता है जो ग्लोबव्यापी भाषा अंग्रेजी में उपलब्ध हों। हाल में मुझे हिंदी से सीधा योरोपीय भाषाओं में अनुवाद करने वाले कुछ लोगों से बात करने का अवसर मिला। उन्होंने बताया कि योरोपीय भाषाओं के प्रकाशक भी उसी भारतीय लेखक को छापना पसंद करते हैं जिसकी कृति अंग्रेजी में उपलब्ध हो, जिसका कोई साहित्यिक एजेंट हो और जिसकी कृति-विशेष का संबंध योरोप के समसामयिक सरोकारों से जोड़ा जा सकता हो। इस संदर्भ में उन्होंने बताया कि महाश्वेता जी का *हजार चौरासी की मां* सभी योरोपीय भाषाओं में इसलिए छप और बिक सकी है कि उसका अंग्रेजी अनुवाद आ चुका था और उसका विषय 'शहरी आतंकवाद' के अंतर्गत आता है। उन लोगों ने यह भी बताया कि समसामयिक भारतीय लेखकों में सबसे ज्यादा वही योरोप में लोकप्रिय हुए हैं जो अंग्रेजी में ही लिखते हैं।

इसका मतलब यह हुआ कि ग्लोबव्यापी गांव में जगह पाने के लिए हिंदी पुस्तक को ग्लोबव्यापी मंडी और उसके सरोकारों से जुड़ना होगा और उसका सबसे बढ़िया तरीका यही होगा कि हिंदी पुस्तक अपने को अंग्रेजी पुस्तक बना ले। हिंदीभाषी लेखक सीधे अंग्रेजी में ही लिखने लगे और अगर वैसा करने में स्वयं समर्थ न हो तो किसी को बगल में बैठा ले कि जो मैं हिंदी में लिख रहा हूँ उसका साथ-ही-साथ अंग्रेजी में उम्दा अनुवाद करते चले जाओ। मैं यह बात व्यंग्य में नहीं पूरी गंभीरता से कह रहा हूँ। योरोप की छोटी-छोटी भाषाओं के लेखक अपनी कृतियों के साथ-साथ अंग्रेजी में अनुवाद बहुत पहले से करवाने लगे हैं? मैंने सुना है हॉलैंड सरकार ने डच साहित्य का अंग्रेजी में अनुवाद और प्रकाशन कराने के लिए वित्तीय सहायता देना शुरू कर दिया है। भारत में सभी जगह और खासकर हिंदी भाषी क्षेत्र में अंग्रेजी का वर्चस्व है इसलिए यह मान कर चला जा सकता है कि कुछ ही दशकों में हिंदी किताब, अंग्रेजी किताब बन चुकी होगी और हिंदी लेखक अंग्रेजी लेखक।

हिंदी किताब के लिए एक और खतरा वह इंटरनेट प्रस्तुत करेगा जिसे एक अर्थ में किताबों का दुश्मन भी कहा जा सकता है। मुझसे बाद

# हिंदी क्षेत्र की संस्कृति और समाज

■ वीर भारत तलवार

वाली पीढ़ी के पुस्तक-प्रेमी तक इंटरनेट के चलने के बाद पुस्तकों से विमुख होते जा रहे हैं। मैं अमेरिका जाता हूँ तो पाता हूँ कि मेरे बेटे-बहू आदत से लाचार पुस्तकें कभी-कभार खरीद ही लेते हैं और पुस्तकालय से बड़े पैमाने पर लाते भी रहते हैं। लेकिन उन्हें पढ़ने का समय बिल्कुल नहीं निकाल पाते क्योंकि उनके पास जो भी समय फालतू होता है वह सारा इंटरनेट-विचरण में ही बीतता है। सारी पत्र-पत्रिकाएं ही नहीं कई किताबें भी वे इंटरनेट में ही पढ़ लेते हैं। अक्सर किताबें खरीदते भी इंटरनेट माध्यम से ही हैं। नई पीढ़ी के लिए इंटरनेट ज्ञान का वैसा ही विशाल भंडार है जैसा कि पिछली पीढ़ियों के लिए पुस्तकालय हुआ करता था। ऐसा दावा किया जा रहा है कि इंटरनेट सूचना को सर्वसुलभ बनाकर सच्चे लोकतंत्र और ग्लोबलव्यापी समानता की स्थापना करेगा। कभी ऐसे ही दावे छपाखाने को लेकर भी किए गए थे। मुक्त-मंडी के माहौल में इंटरनेट का एक ही समाज के विभिन्न वर्गों और समुदायों के बीच खाई बढ़ाने के लिए दुरुपयोग शुरू हो चुका है।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी नीति निरपेक्ष होते हैं। दुर्भाग्य कि मुक्त-मंडी की नीति भी ज्यादा-से-ज्यादा छूट और लूट की व्यवस्था कराने तक सीमित रहती है। ऐसे में हर नई प्रौद्योगिकी का दुरुपयोग होकर रहता है। इंटरनेट का उपयोग आज तस्कर कर रहे हैं। कट्टरपंथी कह रहे हैं। काली कमाई को सफेद बनाने वाले कर रहे हैं और बच्चों को संभोग का सुपात्र बनाने वाले कर रहे हैं। पुस्तक-प्रेमी होने के नाते मैं आशा करता हूँ कि किताब की जगह इंसान कि जिंदगी में हमेशा बनी रहेगी लेकिन साथ ही मैं अपने को यह भी मानने के लिए मजबूर पा रहा हूँ कि ज्यादातर लोग उसे महज मनोरंजन के लिए पढ़ेंगे और खत्म होते ही फेंक देंगे, जैसे आज भी अमेरिका में हवाई अड्डों और रेलवे स्टेशनों पर फेंकी जाती हैं। कुछ लोग अलबत्ता लेखक की प्रथम संस्करण की हस्ताक्षरित प्रति इस आशा में संभाल कर रखने लगेंगे कि कभी बतौर एंटीक हम किसी से इसके अच्छे दाम वसूल कर पाएंगे। जो हो, वह जमाना कभी नहीं लौटेगा जिसमें पुस्तक को सिर माथे लगाया जाता था। ■

(फरवरी, 2002)

अट्टारह सौ सत्तावन के संग्राम से क्या सचमुच बदलाव का कोई विमर्श शुरू हुआ था? अगर हां, तो वह कौन-सा और किस तरह का विमर्श था?

मौजूद परिस्थितियों में हिंदी की साहित्यिक दुनिया में 1857 से संबंधित किसी भी अध्ययन के सैद्धांतिक निष्कर्षों का वस्तुनिष्ठ होना मुश्किल है। इसका मुख्य कारण इस विषय का इतिहास के अनुशासन से संबंधित होना है। डॉ. रामविलास शर्मा की कृपा से हिंदी में इतिहास कुछ अपने ही ढंग का चलता है जिसे इतिहासकार मजाक में कभी-कभी “हिंदी साहित्य वाला इतिहास” कहा करते हैं। हिंदी के साहित्यिक हल्कों में 1857 के बारे में इतिहासकारों के बजाये रामविलास शर्मा की धारणाएं ही ज्यादा प्रचलित हैं। उन्होंने इतिहासकार न होते हुए भी सभी इतिहासकारों से दो-दो हाथ करते हुए 1857 को अपनी समझ की जनवादी क्रांति के चौखटे में जड़ा है और उससे तथाकथित हिंदी नवजागरण की धारा को निकलते हुए देखा है। कुछ एक अपवादों को छोड़कर ज्यादातर हिंदी लेखक 1857 के बारे में जो कुछ भी जानते या विश्वास करते हैं, वह मुख्यतः रामविलास जी के लेखन के जरिए ही हैं, (बावजूद इसके कि 1857 के बारे में कई देशी-विदेशी इतिहासकारों ने बहुत महत्वपूर्ण लेखन किया है, जिसकी विस्तृत जानकारी प्रदीप सक्सेना ने दी है।) यही वजह है कि 1857 से संबंधित वीरता, साहस और शौर्य के जाने-माने किस्सों को दोहराते रहने के अलावा हिंदी का औसत अध्यापक-आलोचक रामविलास शर्मा की तैयार की हुई जमीन पर खड़ा होकर 1857 के बारे में अक्सर हवाई बातें ही करता है। इसका एक ताजा उदाहरण इधर *लोकमत समाचार* (नागपुर) के दीपावली विशेषांक (खंड 1,

2006) में छपा शंभूनाथ का लेख ‘1857 और आज’ देखा जा सकता है। इस लेख में 19वीं सदी के ईस्ट इंडिया कंपनी राज की तुलना आज के भूमंडलीकरण से करते हुए (कि दोनों ही साम्राज्यवादी हमले हैं) कहा गया है कि ‘ये किसान ही थे (वर्दी में) जो 1857 में कंपनीराज के खिलाफ लड़े थे और आज भी किसान ही भूमंडलीकरण के खिलाफ लड़ रहे हैं (क्योंकि वे ही इसके असली शिकार हुए हैं) जबकि शहरी शिक्षित वर्ग पश्चिमी आधुनिकता के प्रभाव के कारण 1857 में भी विदेशी राज को लेकर दुविधाग्रस्त था (कि स्वतंत्रता चाहिए या आधुनिकीकरण?) और किसानों के प्रतिरोध को पिछड़ापन समझ रहा था। आज भी यही शिक्षित वर्ग किसानों के प्रतिरोध को पिछड़ापन समझते हुए भूमंडलीकरण को प्रगतिशील और आधुनिक समझ रहा है।’ ऊपरी तौर पर सही-से दिखने वाले इस सादृश्य में न सिर्फ गंभीर कमियां हैं बल्कि इतिहास के कुछ बुनियादी तथ्य इस सादृश्य के खिलाफ जाते हैं। सबसे पहली बात यह कि 1857 का संग्राम सिर्फ किसानों या वर्दीधारी किसानों का ही नहीं था। उसमें समाज के कई दूसरे तबके और वर्ग भी शामिल थे जिनमें देश के शासक वर्ग का एक हिस्सा भी था — धर्माचार्य (उलेमा), जमएदार, ताल्लुकेदार, नवाब, राजे-महाराजे, यहां तक कि भारत का मुगल सम्राट तक — चाहे अनिच्छापूर्वक ही सही। इसलिए 1857 की तस्वीर में शिक्षित वर्ग को सिर्फ किसान विरोधी स्थिति में दिखलाना तस्वीर को एकांगी और विकृत करना है। यह कहना भी निराधार है कि 1857 को लेकर तत्कालीन शिक्षित वर्ग इस दुविधा में था कि स्वतंत्रता चाहिए या आधुनिकीकरण? दो-एक व्यक्तिगत अपवादों को छोड़ दें तो एक समुदाय के रूप में

शहरी शिक्षित वर्ग को कोई दुविधा नहीं थी और उसने 1857 के संग्राम का स्पष्ट रूप से विरोध किया था। लेखक की बेहोशी का आलम यह है कि वह पहले शिक्षित वर्ग को दुविधाग्रस्त बतलाता है, फिर यह भी लिखता है कि “तब शिक्षित और जागरूक लोग साफ-साफ कह रहे थे, हमें दोनों चाहिए।” जब साफ-साफ कह रहे थे कि हमें दोनों चाहिए, तो फिर उसे दुविधाग्रस्त क्यों कहा? लेकिन यह दूसरा दावा पहले दावे से भी ज्यादा निराधार है। लेखक ने शिक्षित वर्ग द्वारा 1857 के संदर्भ में “स्वतंत्रता और आधुनिकीकरण”, दोनों को चाहने का एक भी प्रमाण क्यों नहीं दिया? क्या वह हिंदी-उर्दू प्रदेश के किसी एक भी शिक्षित व्यक्ति का ऐसा उदाहरण दे सकता है जिसने 1857 के संदर्भ में स्वतंत्रता और आधुनिकीकरण, दोनों की साफ-साफ मांग की हो? बनारस में एक शिक्षित व्यक्ति थे भारतेंदु हरिश्चंद्र, 1857 के संदर्भ में जिनकी तुलना शंभुनाथ ने मार्क्स से की है। 1857 के पच्चीस साल गुजरने के बाद 1882 में भी भारतेंदु हंटर कमीशन से यही कह रहे थे कि भारत में अंग्रेजी राज को कम से कम अगले पच्चीस सालों तक जरूर रहना चाहिए। किसलिए रहना चाहिए? ताकि भारतीयों में स्वतंत्रता की भावना, स्वतंत्रता की चाहत पैदा हो सके। यह भारतेंदु कह रहे थे।

लेखक ने लिखा है कि उस जमाने में सिर्फ दो व्यक्ति थे जिन्होंने 1857 के संग्राम को सबसे अच्छी तरह समझा था — एक मार्क्स थे जिन्होंने इस संग्राम को फौजी बगावत कहने के बजाये राष्ट्रीय विद्रोह कहा था। दूसरे भारतेंदु थे जिन्होंने 1857 को लक्ष्य कर दो पंक्तियां लिखी थी:

*कठिन सिपाही द्रोह अनल जा जनबल नासी*

*जिन भय सिर न उठाय सकत कहूँ भारतवासी*

सिर्फ इन दो पंक्तियों के आधार पर 1857 के बारे में भारतेंदु की समझ को मार्क्स की समझ के बराबर ठहराना यह सूचित करता है कि हिंदी के औसत आलोचक का लेखन न तो तथ्यों की परवाह करता है, न विवेक-बुद्धि की। वह सिर्फ कुछ व्यक्तियों के प्रति अपनी श्रद्धापूर्ण भावुकता और भक्ति-भावना से ही प्रेरित होता है। हिंदी का प्रोफेसर रह चुकने के बावजूद लेखक ने भारतेंदु की इन दो पंक्तियों

का यह अर्थ किया है कि सिपाहियों के भयंकर विद्रोह की आग बुझाने के लिए अंग्रेजों ने इतना भयंकर दमन किया था कि उनके भय से भारतवासी फिर विद्रोह करने का साहस नहीं कर पा रहे थे। कोई पूछे प्रोफेसर साहब से कि भय से सिर नहीं उठा पाना क्या भय से विद्रोह नहीं कर पाना होता है? क्या विद्रोही भय के मारे विद्रोह नहीं करता है?

1857 के बारे में लेखक का यह दावा अज्ञानमूलक है कि “इसने पहली बार धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद की जमीन तैयार की।” लगता है, 1857 हिंदी लेखकों के लिए ऐसा जादू का पिटारा है जिसमें हाथ डालकर कुछ भी निकाला जा सकता है। धर्मनिरपेक्षता किसे कहते हैं? हिंदू और मुसलमान, दोनों मिलकर लड़े थे, इसीलिए वह धर्मनिरपेक्ष भी हो गया? ऐसी धर्मनिरपेक्षता तो 14वीं सदी से चली आ रही थी! हकीकत यह है कि 1857 में हिंदू-मुसलमान धर्मनिरपेक्ष होकर नहीं बल्कि अपने-अपने धर्म के साथ और उसके अनुसार ही लड़े थे। 1857 में ऊंची जातियों के हिंदू-मुसलमानों का जो संयुक्त मोर्चा बना था, वह दोनों समुदायों के अपने-अपने धर्म की सुरक्षा और स्वतंत्रता के लिए भी बना था। उस संग्राम के सूरमा अपने-अपने धर्म से निरपेक्ष नहीं हो गए थे। वे उसी की रक्षा के लिए लड़ रहे थे। धर्म 1857 के संग्राम में एक बड़ा कारक था। संग्राम के नेताओं ने इशतेहार निकाले थे, उनमें शुरुआत ही हिंदुस्तान के हिंदुओं और मुसलमानों, के संबोधन से होती थी। यह धर्मनिरपेक्षता नहीं, दोनों धर्मों का सह-अस्तित्व था; दोनों का समान आदर था।

इस लेख में जितनी हवाई बातें 1857 के संदर्भ में हैं, उतनी ही आज के वैश्वीकरण के प्रतिरोध के संदर्भ में भी हैं। यह कहना सही नहीं है कि किसान तो वैश्वीकरण के खिलाफ लड़ रहे हैं (जैसे वे 1857 में अंग्रेजी राज के खिलाफ लड़े थे) लेकिन शिक्षित वर्ग वैश्वीकरण को आशा भरी नजरों से देख रहा है। (जैसे वह 1857 में अंग्रेजी राज को आशा भरी नजरों से देख रहा था) यह बिल्कुल स्थूल और सपाट बयानबाजी है जिसमें शिक्षित वर्ग को और इसी तरह किसानों को भी एक समान, समरूप वर्ग के रूप में देखा गया है। हम सभी जानते हैं कि शिक्षित वर्ग का एक हिस्सा वैश्वीकरण का समर्थक है तो दूसरा हिस्सा वैश्वीकरण के खिलाफ संघर्ष भी कर रहा है।

यह भी तथ्य है कि वैश्वीकरण के बुरे नतीजों से खुद को बचाने के लिए अपनी जमीन या फसल बचाने के लिए किसान स्थानीय स्तर पर जरूर लड़ते हैं लेकिन उनमें वैश्वीकरण के बारे में कोई राजनीतिक-सैद्धांतिक अवधारणा नहीं मिलती और न उन्होंने ऐसी किसी अवधारणा के तहत वैश्वीकरण के विरोध में कोई व्यापक मंच या अखिल भारतीय संगठन बनाया है। वैश्वीकरण के खिलाफ विचारधारात्मक संघर्ष और उस पर आधारित जन आंदोलन खड़ा करने के लिए मुंबई और दिल्ली में जो व्यापक सम्मेलन आयोजित किए गए और मंच बने, उन्हें किसानों ने नहीं, शिक्षित वर्ग के एक हिस्से ने ही बनाया। तथ्य यह भी है कि किसानों का, खासकर धनी किसानों का एक हिस्सा, शरद जोशी जैसे किसान नेताओं के नेतृत्व में वैश्वीकरण का समर्थन भी करता है।

### बदलाव की सीमाएं

बेशक 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत में बहुत सारे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक बदलाव हुए। लेकिन यह कहना मुश्किल है कि उन सभी बदलावों का 1857 से सीधा या कोई खास संबंध था। 1857 के बाद जो सबसे बड़ा बदलाव हुआ, वह ईस्ट इंडिया कंपनी की हुकूमत को खत्म कर भारत को ब्रिटिश साम्राज्य का अंग बनाकर यहां सीधे कायम हुआ ब्रिटिश शासन था। आगे होने वाले ज्यादातर बदलाव ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग और साम्राज्यवाद की जरूरतों को पूरा करने तथा भारत में ब्रिटिश शासन की नीतियों के परिणाम थे, न कि 1857 के सीधे परिणाम थे। हर एक शासक वर्ग शासितों के विद्रोह और आंदोलन से अपनी समझ के मुताबिक कुछ न कुछ सबक जरूर लेता है और उन्हें ध्यान में रखकर आगे की नीतियां बनाता है। 1857 के बाद कायम हुए ब्रिटिश शासन ने भी ऐसी बहुत-सी नीतियां बनाईं और कार्यक्रम किए जिनमें 1857 के सबक को ध्यान में रखा गया। इस दृष्टि से इन नीतियों और कार्यक्रमों में बड़ी सूक्ष्मता से 1857 के परिणाम समाए हुए माने जा सकते हैं। लेकिन उनमें भी ज्यादातर नीतियों-कार्यक्रमों को 1857 से सीधे नहीं जोड़ा जा सकता। एक तो इसलिए कि उनका संबंध और दूसरी जरूरतों से भी उतना ही था, इसलिए वे एक सामान्य चरित्र वाली आवश्यकताएं थीं। जैसे रेलवे का विकास।

इसका आरंभ 1857 से पहले हो चुका था और 1857 के बाद इसका विकास सिर्फ 1857 जैसे विद्रोहों को कुचलने की नजर से नहीं बल्कि ब्रिटिश पूंजीवाद द्वारा भारतीय संसाधनों के आम दोहन और चुस्त प्रशासन की नजर से भी हुआ। एक और उदाहरण देखें जो सांस्कृतिक क्षेत्र से संबंधित है। 1857 के घटने का एक बड़ा कारण अंग्रेजों की नजर में भारतीयों के रीति-रिवाजों, धर्म और संस्कृति को ठीक से न समझना था। संग्राम के बाद 1860 से 1877 तक ब्रिटिश शासन ने भारतीय सभ्यता-संस्कृति और इतिहास वगैरह को जानने-समझने और इन्हें परिभाषित करने का काम बड़े व्यवस्थित ढंग से चलाया। इसी सिलसिले में 1860 में भारत का पुरातत्व विभाग कायम किया गया जिसने ऐतिहासिक स्थलों की खुदाई और ऐतिहासिक धरोहरों की सुरक्षा का काम करना शुरू किया। इसके बाद जनगणना कार्यालय खोला गया जिसने भारत के लोगों और उनके विभिन्न धर्मों, समुदायों, संप्रदायों और जातियों का लेखा-जोखा तैयार करना शुरू किया। संस्कृत, पाली, प्राकृत, अरबी और फारसी के प्राचीन-मध्यकालीन ग्रंथों, हस्तलिखित प्रतियों और पांडुलिपियों की खोज और उनके संपादन का काम शुरू किया गया। आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन और इनके ग्रंथों के संपादन का काम भी योजनाबद्ध ढंग से होने लगा जिसमें भारतीय और योरोपीय दोनों तरह के विद्वान शामिल हुए। शिक्षण संस्थाओं के लिए भूगोल, इतिहास, पदार्थ विज्ञान, गणित, व्याकरण और साहित्य की पाठ्य-पुस्तकें तैयार की गईं। ग्रंथों के प्रामाणिक संस्मरण तैयार किए जाने लगे जिनसे भाषाओं के मानकीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई। इस प्रक्रिया का एक नतीजा यह निकला कि आधुनिक आर्य भाषाओं के गद्य पर से ब्रजभाषा का प्रभाव खत्म हुआ जो मध्यकाल से चला आ रहा था, ये सारे बदलाव कहीं न कहीं 1857 से भी जुड़े हुए थे, फिर भी इन बदलावों को सीधे 1857 का परिणाम नहीं माना जा सकता। क्योंकि भारतीय धर्म, परंपराओं, साहित्य और संस्कृति को समझने के प्रयास 1857 से काफी पहले से, 18वीं सदी के आखिरी दशकों से ही विलियम जॉस के नेतृत्व में शुरू हो चुके थे जिसमें 1794 में कायम एशियाटिक सोसायटी और 1800 ई. में कायम फोर्ट विलियम कॉलेज ने महत्वपूर्ण

भूमिका निभाई थी। फिर भी इन कामों को 1857 के बाद सरकार ने बड़े पैमाने पर जिस व्यवस्थित ढंग से विकसित किया, उसका एक बड़ा कारण 1857 का संग्राम ही था। औपनिवेशिक विद्वानों ने और भारतीयों ने भी 1857 के कारणों का जो विश्लेषण किया, उसमें धर्म के अलावा जातिप्रथा को भी विद्रोह का एक बड़ा कारण समझा गया। भारत से गहरी सहानुभूति रखने वाले मैक्समूलर ने भी औपनिवेशिक शासकों को यह समझाने का गंभीर प्रयास किया कि अगर वे 1857 जैसे विद्रोहों को रोकना चाहते हैं तो वे भारत की जातिप्रथा को समझने की कोशिश करें क्योंकि ब्रिटिश फौज के तौर-तरीकों और कानूनों के साथ भारतीय जातिप्रथा के नियमों का तालमेल नहीं बैठता है। (पृ. 76, 'द इथनोग्राफिक स्टेट', निकोलस बी. डिकर्स; सौरभ दुबे द्वारा संपादित *पोस्ट कोलोनियल पैसेजेज* में शामिल निबंध, ओ. यू. पी, 2004) इन विश्लेषणों के फलस्वरूप ब्रिटिश शासन ने भारतीय समाज और जातिप्रथा को समझने की जरूरत तीव्रता से महसूस की। इसी के तहत 1860 के दशक से भारत के विभिन्न समुदायों, कबीलों, जातियों के सामाजिक संगठन और उनकी प्रथाओं का बड़े पैमाने पर अध्ययन किया जाने लगा। बड़ी संख्या में डिस्ट्रिक्ट गजेटियर और मैनुएल तैयार किए गए जिनमें विभिन्न जातियों, समुदायों और धर्मों के प्रामाणिक विवरण दिए गए। अध्ययन के ये विषय अब सिर्फ निजी दिलचस्पी या स्वतंत्र शोध के विषय न रहकर सरकारी प्रशासन की सख्त जरूरत बन गए। जिनके आधार पर सरकार को अपनी नीतियां निर्धारित करनी थी। जो प्रशासनिक अधिकारी इन कार्यों में लगे उनमें सबसे महत्वपूर्ण नाम एस. एच. रिजले का था जो बंगाल में 1873 में सिविल सर्विस में आए थे। उन्होंने बंगाल प्रेसीडेंसी (वर्तमान बिहार, झारखंड और उड़ीसा समेत) की विभिन्न जातियों और कबीलों पर विस्तृत फील्ड वर्क करके चार खंडों में *ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ बंगाल* नामक ग्रंथ लिखा जो वास्तव में 1891 की बंगाल की जनगणना की विस्तृत रिपोर्ट के रूप में लिखा गया था। इस जनगणना के रिजले खुद सुपरवाइजर थे। जातियों और कबीलों की ही तरह पहली बार भारत की सैकड़ों भाषाओं का भी बड़े पैमाने पर सर्वेक्षण कराया गया (जॉर्ज ग्रियर्सन के नेतृत्व में)। 1857 के बाद

व्यवस्थित ढंग से बड़े पैमाने पर होने वाले इन सामाजिक नृतत्वशास्त्रीय और सांस्कृतिक अध्ययनों ने, जिनकी परंपरा 18वीं सदी के अंत में शुरू हुए प्राच्यवादी अध्ययनों की परंपरा से भी जुड़ी थी, पश्चिमोत्तर और अवध प्रांत में दो तरह के प्रभाव स्पष्ट रूप से डाले। एक तो इसने हिंदी के साहित्यिक लेखन और पत्रकारिता को बहुत प्रभावित किया। इनके प्रभाव से भारतेंदु युग के लगभग सभी बड़े लेखकों ने पुरातत्व, इतिहास, धर्म, समाज, जाति, जनगणना और रीति-रिवाज इत्यादि से संबंधित मुद्दों को अपने लेखन का विषय बनाया। इससे हिंदी साहित्य ब्रजभाषा की धार्मिक-श्रृंगारिक काव्य परंपरा से बाहर निकल कर समाज के सभी क्षेत्रों से जुड़ सका। समाज पर पड़ा दूसरा प्रभाव ज्यादा गंभीर और दूरगामी था। उपरोक्त सामाजिक, नृतत्व शास्त्रीय और सांस्कृतिक अध्ययनों के आधार पर सरकार ने शिक्षा और नौकरियों में प्राथमिकता देने की जो नीतियां तैयार कए और सामाजिक संरचना के जिन पक्षों का राजनीतिक महत्व उसकी दृष्टि में बढ़ गया, उन सबका नतीजा यह निकला कि शिक्षित लोग अब अपने धर्म, संप्रदाय और जाति के प्रति ज्यादा जागरूक होने लगे। यह एक महत्वपूर्ण बदलाव था कि 1857 के बाद औपनिवेशिक भारत में धार्मिक गोलबंदी, जातिगत संगठनों और भाषाई प्रश्नों को एक नया राजनीतिक महत्व प्राप्त हुआ।

### बदलाव के रूप

अगर 1857 के द्वारा लाए गए सीधे बदलावों पर विचार करें, खासकर हिंदी-उर्दू क्षेत्र में, तो हमें इसके छह महत्वपूर्ण बदलाव दिखाई देते हैं:

**1. फौज में सुधार :** 1857 का सबसे पहला सीधा असर फौज के संगठन और उसमें भर्ती के नियम-कायदों पर पड़ा। 1859 और 1879 में बैठाए गए सैन्य आयोगों ने अपने इस सुझाव पर जोर दिया कि भारत की फौज में एक-तिहाई संख्या गोरों की होनी चाहिए, जबकि 1857 से पहले भारतीय फौज में गोरे सिर्फ 14 प्रतिशत होते थे। आयोग ने यह सुझाव भी दिया कि तोपखाने पर सिर्फ योरोपीय सैनिकों का एकाधिकार रखा जाना चाहिए। इसी तरह फौज में विभिन्न रेजीमेंटों के बीच अलगाव रखने और उन्हें एक-दूसरे का

प्रतिस्पर्धी बनाने पर भी जोर दिया गया ताकि उनमें कोई सामूहिक अस्मिता की भावना न पनपने पाए। (पृ.35, आधुनिक भारत, सुमित सरकार, राजकमल, 1993) अंत में फौज में द्विज हिंदू जातियों खासकर ब्राह्मणों की जगह अब दलित जातियों की भर्ती पर भी जोर दिया गया।

**2. भूमि व्यवस्था में परिवर्तन :** अवध को हड़पने के बाद (लेकिन 1857 से पहले) ईस्ट इंडिया कंपनी ने वहां जमीन का एक आरजी बंदोबस्त किया था। इस बंदोबस्त में ताल्लुकेदारों को एक किनारे कर कंपनी ने लगान सीधे किसानों से लेना तय किया था। इसके पीछे मालगुजार किसान से सीधा संपर्क कायम करने की इच्छा के अलावा कर्नल स्लीमन की वह विवादास्पद रिपोर्ट (ए जर्नी थ्रू किंगडम ऑफ अवध) भी थी जिसमें उसमें अवध के ताल्लुकेदारों द्वारा होने वाली लूट-खसोट और ज्यादतियों के कई सबूत इकट्ठे किए थे। लेकिन जब 1857 का संग्राम छिड़ा तो कंपनी को यह देखकर हैरानी हुई कि जिन किसानों से उसने आरजी बंदोबस्त में जमीन का एक तरह से मालिक बनाया था, उन्होंने ही कंपनी के खिलाफ असंतुष्ट ताल्लुकेदारों का साथ दिया। किसानों के ऐसा करने के पीछे कई मिले-जुले कारण थे जिनकी तफसील में जाने का यहां मौका नहीं है। लेकिन इस घटना से कंपनी के अधिकारियों ने यह नतीजा निकाला कि ताल्लुकेदार अपनी प्रजा के स्वाभाविक नेता हैं, इसीलिए विद्रोह के दौरान किसान उनके पीछे चले। लिहाजा अंग्रेजों ने अब ताल्लुकेदारों के प्रति अपना नजरिया बदला। कर्नल स्लीमन की रिपोर्ट को एक किनारे करते हुए अंग्रेजों ने ताल्लुकेदारों को ही जमीन का मालिक मानते हुए अब एक नया बंदोबस्त किया। इस नए बंदोबस्त में उन्होंने किसानों को अब गैर-दखीलकार असामी (टेनेंट एट विल) मानते हुए ताल्लुकेदारों को अपने असामियों और गांवों पर ऐसे-ऐसे निरंकुष अधिकार सौंप दिए जो उन्हें पहले कभी हासिल नहीं थे। जैसे किसान को बेदखल करने का अधिकार जो 1857 से पहले उन्हें नहीं था। 1857 के बाद आए इस बदलाव की वजह यह थी कि अपने शासन को सुरक्षित रखने के लिए अंग्रेज ताल्लुकेदारों के रूप में अपना एक शक्तिशाली समर्थक वर्ग खड़ा करना चाहते थे। इस मकसद में वे कामयाब

भी हुए। जिन ताल्लुकेदारों ने 1857 के दौरान अपनी खोई हुई सत्ता को फिर से हासिल करने के लिए किसानों से मदद ली थी उन्होंने अब किसानों की वफादारी को भुलाकर औपनिवेशिक शासन के साथ हाथ मिला लिया जैसाकि संपत्तिशाली वर्गों का चरित्र होता है। भूमि-व्यवस्था में हुए इन बदलावों के बड़े दूरगामी नतीजे निकले। उनकी तफसील में न जाकर यहां उनका सिर्फ जिक्र किया जा रहा है:

क. किसानों का शोषण-उत्पीड़न बढ़ गया। आगे चलकर उनका असंतोष किसान आंदोलनों में फूटने लगा।

ख. बेदखली के फलस्वरूप भूमिहीन खेत मजदूरों की संख्या में भारी बढ़ोत्तरी हुई।

ग. कृषि उत्पादन का विकास ठहर गया और खेती किसान के लिए लाभकर नहीं रह गई।

घ. ताल्लुकेदारों—जमाएदारों के रूप में ब्रिटिश शासन को खैर-ख्वाहों का एक नया वर्ग मिला जिसने आगे चलकर देहाती इलाकों में कांग्रेस के स्वाधीनता-आंदोलन को कुचलने में शासन की मदद की।

**3. मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति :** 1857 से आए बदलावों में, खासकर पश्चिमोत्तर और अवध प्रांत के संदर्भ में, एक महत्वपूर्ण बदलाव शासन की मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति के रूप में सामने आया। अंग्रेजों ने भारत की सत्ता मुख्यतः मुस्लिम शासकों से छीनी थी। इसलिए उस दौर में सत्ता के मुख्य प्रतिद्वंद्वी वही दोनों थे। अंग्रेजों से सत्ता वापस हासिल करने के प्रयत्न कई रूपों में हुए। इनमें से एक शाह अहमद बरेलवी के नेतृत्व में चला वहाबी आंदोलन था जिसमें पश्चिमोत्तर प्रांत और बिहार के कई अभिजातवर्गीय मुसलमान शामिल हुए। इसी के बाद 1857 का संग्राम छिड़ा जिसमें हिंदुओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। इसके बावजूद नेतृत्व में बड़ी संख्या मुसलमानों की थी, खासकर दिल्ली और दूसरे बड़े शहरों में। इन सशस्त्र संघर्षों को बुरी तरह कुचलने के बाद कुछ समय तक मुसलमानों को संदेह और अविश्वास की नजरों से देखने के बाद आखिरकार सरकार ने मुसलमानों को संतुष्ट रखने की नीति चलाई। बंगाल में 1850 से लेकर 1870 तक चले फरायजी, तय्युनी, रफीयाथाइन और तारीखी मुहम्मदिया आंदोलनों (जिनके साथ बंगाल के बहुसंख्यक गरीब मुसलमान किसानों का सामंत विरोधी वर्ग संघर्ष भी मिल गया था) से मजबूर होकर

ब्रिटिश शासन ने वहां हंटर की अध्यक्षता में जांच-पड़ताल कराई जिसकी रिपोर्ट इंडियन मुसलमान के रूप में सामने आई। हंटर ने इसमें आम मुसलमानों को गरीब, अशिक्षित, पिछड़ा हुआ और उन्मादी बताते हुए उनके विकास के लिए खासकर उनकी शिक्षा और आर्थिक उन्नति के लिए विशेष ध्यान देने की जरूरत पर जोर दिया था।

लेकिन इन तर्कों और सिफारिशों का इस्तेमाल अवध और पश्चिमोत्तर प्रांत के संदर्भ में भी किया जाने लगा जबकि यहां बाहर से आए ऊंची जातियों वाले मुसलमान (सैयद, शेख, मुगल और पठान) हमेशा सत्ता के ऊंचे पदों पर काबिज रहे थे। बंगाल के बहुसंख्यक मुसलमानों के विपरीत संयुक्त प्रांत में मुसलमान कुल आबादी में सिर्फ 14 प्रतिशत थे। इसके बावजूद अपनी बेहतर परंपरागत राजनीतिक हैसियत के कारण 1857 के बाद भी प्रांत के ज्यादातर ऊंचे ओहदों पर वे ही काबिज रहे। उनके मुकाबले में हिंदू (मुसलमानों की तुलना में ज्यादा शिक्षित हिंदू भी) सत्ता के महत्वपूर्ण पदों पर बहुत कम थे। इस हालत को बनाए रखने में 1837 से प्रांत की राजभाषा बना दी गई अरबी-फारसीनिष्ठ उर्दू का भी बड़ा हाथ था जो लिखी भी फारसी लिपि में जाती थी। इसे मुसलमान बचपन से सीखते थे जबकि कायस्थों और बाहर से आकर बसे कुछ कश्मीरियों को छोड़कर बाकी हिंदुओं को इसे सीखने में काफी मुश्किल होती थी। बहुसंख्यक और आम लोग अरबी-फारसीनिष्ठ उर्दू न तो बोलते-समझते थे और न इसकी लिपि जानते थे। इसके बावजूद ब्रिटिश शासन ने इस भाषा और लिपि को राज-काज में बनाए रखा ताकि प्रांत के भद्रवर्गीय मुसलमान शासन से संतुष्ट रहें। इसके खिलाफ हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि का आंदोलन चला जिसे सरकार ने लंबे समय तक मान्यता नहीं दी। और भी कई तरह के ऐसे प्रावधान किए जाते रहे जिनका फायदा मुख्यतः शिक्षित मुसलमानों को मिलता रहा। इसके खिलाफ हिंदू भद्रवर्ग ने धर्म के आधार पर गोलबंदी शुरू की।

इससे हिंदू-मुस्लिम भद्रवर्ग के बीच एक होड़ की स्थिति बन गई जिससे इस प्रांत में सांप्रदायिक विचारधारा के पनपने के खासा हालात बने। सांस्कृतिक संदर्भों में मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति का एक खास उदाहरण

1870 के दशक में स्कूली पाठ्य-पुस्तकों की भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों को ज्यादा महत्व देने के रूप में मिलता है। इंपेक्टर ऑफ स्कूल्स राजा शिवप्रसाद ने, जिन्होंने पश्चिमोत्तर प्रांत में स्कूली शिक्षा का ढांचा खड़ा करने में अहम भूमिका निभाई थी, 1850 से लेकर 1870 तक स्कूली पाठ्यपुस्तकों की भाषा का स्वरूप ऐसा रखने का प्रयास किया था जो हिंदू-मुसलमान, दोनों बच्चों के लिए एक जैसा हो और जिसमें हिंदी-उर्दू के सभी आम प्रचलित शब्दों को समान रूप से महत्व दिया गया हो। उनके इन इन प्रयासों को आखिरकार सरकार ने मान्यता देते हुए एक कानून भी पास कर दिया। इसके बावजूद जब प्रांत के मुस्लिम नेताओं ने पाठ्य-पुस्तकों में हिंदी के बहुधा, विद्यार्थी, वर्णन, शीतलता, दृष्टि, अर्खंडित और प्रत्यक्ष जैसे शब्दों पर भी एतराज किया तो सरकारी हाकिमों के दबाव से शिवप्रसाद को बरसों से स्कूली पाठ्यक्रम में लगी हुई अपनी चार किताबों में से इन हिंदी शब्दों को हटाकर इनकी जगह अरबी-फारसी के शब्द रखने पड़े। सरकार की मुस्लिम तुष्टीकरण की इस नीति में बदलाव 1890 के बाद तब आया जब मैकडोनाल्ड इस प्रांत में लेफ्टिनेंट गवर्नर बनकर आए और उन्होंने अल्पसंख्यक मुसलमानों के बजाये बहुसंख्यक हिंदुओं को साथ लेकर चलने में अंग्रेजी राज का ज्यादा फायदा देखा। सरकार की इस बदली हुई नीति से मुस्लिम भद्रवर्ग नाराज हुआ तो उन्हें खुश करने के लिए सरकार ने धर्म पर आधारित उनकी पृथक निर्वाचन प्रणाली की मांग को मंजूरी दे दी।

लम्बे लुवाब यह है कि 1857 से सबक लेते हुए ब्रिटिश शासन ने अपनी समझ से मुस्लिम तुष्टीकरण की जो नीति अपनाई, उसने अगले 35-40 सालों तक इस प्रांत की बहुसंख्यक जन की भाषा और लिपि को और इसी के साथ जुड़ी दूसरी सांस्कृतिक आकांक्षाओं को पूरा होने नहीं दिया। उस वक्त अगर ये आकांक्षाएं सहज ढंग से पूरी हुई होती तो शायद इस प्रांत का इतिहास कुछ दूसरा होता।

**4. नवजागरण में रुकावट :** बौद्धिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में 1857 का एक महत्वपूर्ण असर नवजागरण के आंदोलन पर पड़ा। 19वीं सदी के आरंभिक दशकों में पश्चिमी शिक्षा और विचारधाराओं के संपर्क से

और उनसे पैदा होने वाले द्वंद्वों से भारत में अपने धर्म और समाज को जांचने और बदलने की जो नई विवेकवादी कसौटी उभरी, जिसने भारत में नवजागरण के आंदोलन को जन्म दिया, 1857 के संग्राम से उसमें रुकावट आई। रामविलास शर्मा की कृपा से हिंदी के साहित्य जगत में एक आम धारणा फैली हुई है कि हिंदी क्षेत्र में नवजागरण 1857 के संग्राम से शुरू हुआ। इतिहास के तथ्य इसके ठीक उल्टे हैं। अगर नवजागरण से तात्पर्य बुद्धि-विवेकशीलता की कसौटी पर अपने धर्म और समाज को सुधारने के सांस्कृतिक आंदोलन से है, तो 1857 के संग्राम से इस आंदोलन में रुकावट पैदा हुई थी। इस तथ्य से इतिहास का हर गंभीर विद्यार्थी वाकिफ है। वाकिफ नहीं है तो सिर्फ हिंदी का साहित्य वर्ग, जो वास्तविक इतिहास के बजाये तथाकथित हिंदी नवजागरण के गढ़े हुए इतिहास की दुनिया में ज्यादा जीता है।

1857 के संग्राम ने बंगाल का बंबई प्रांत के नवजागरण पर इतना असर नहीं डाला, क्योंकि ये संग्राम की मुख्य भूमि से ज्यादा दूर थे। इसका खास असर हिंदी-उर्दू क्षेत्र में शुरू हो रहे नवजागरण पर पड़ा। पंजाब में आर्य समाज आंदोलन का विवेचन करने वाली अपनी मशहूर किताब *आर्यधर्म* में केनेथ डब्ल्यू. जोन्स ने इसका एक स्पष्ट प्रमाण दिया है। हिंदी-उर्दू क्षेत्र में दिल्ली शहर 1827 से ही नवजागरण की चेतना का एक केंद्र बनना शुरू हो गया था। यहां का 'देहली कॉलेज' नई शिक्षा, नए ज्ञान और नई विचारधाराओं के अध्ययन का केंद्र बनकर उभर रहा था। दिल्ली के आस-पास के इलाकों से विद्यार्थी नए ज्ञान की खोज में यहां आने लगे थे। 1830 तक यहां नई शिक्षा और नई चेतना से लैस विद्यार्थियों का एक छोटा-सा ग्रुप तैयार हो गया था। वैसे तो उस दौर में देहली कॉलेज ने नई धारा के कई महत्वपूर्ण विद्यार्थियों को आगे बढ़ाया था जो आगे चलकर अपने-अपने क्षेत्रों में नए ज्ञान के प्रवर्तक बने और उनमें से कुछ एक सैयद अहमद की नई रोशनी के आंदोलन में शरीक हुए, जैसे अलताफ हुसैन हाली और जकाउल्लाखां। लेकिन देहली कॉलेज के नई चेतना वाले ग्रुप में सबसे महत्वपूर्ण नाम मास्टर रामचंद्र का था जो 1833 में ही अपने शहर पानीपत से पढ़ने के लिए देहली कॉलेज में आ गए थे। रामचंद्र ने अपने विद्यार्थी जीवन में ही अपनी प्रतिभा का सिक्का जमा लिया था

और आगे चलकर वह गणित और विज्ञान के असाधारण मौलिक विद्वान और प्रवर्तक बन कर उभरे और इसी कॉलेज में प्रोफेसर भी नियुक्त हुए। इस कॉलेज में 'द सोसायटी फॉर दी प्रोमोशन ऑफ नॉलेज इन इंडिया थू दी मीडियम ऑफ वर्नाकुलर्स' नामक संस्था बनी जो आगे चलकर देहली कॉलेज वर्नाकुलर ट्रांसलेशन सोसायटी के नाम से मशहूर हुई। सोसायटी ने महज बीस सालों के अंदर ग्रीक और फारसी भाषा से करीब 125 महत्वपूर्ण ग्रंथों का उर्दू में अनुवाद किया, जिनमें से कई ग्रंथ वैज्ञानिक विषयों के थे। सोसायटी के इन प्रयत्नों से महज षेरो-पायरी की भाषा समझी जाने वाली उर्दू जल्द ही ज्ञान-विज्ञान की भाषा में बदलने लगी। औपनिवेशिक भारत में विज्ञान की स्थिति और मास्टर रामचंद्र के बारे में महत्वपूर्ण शोध करने वाले इरफान हबीब ने अपने एक लेख में बतलाया कि 'देहली कॉलेज से जो नवजागरण शुरू हुआ उसका कलकत्ते के नवजागरण से एक महत्वपूर्ण फर्क था। जहां कलकत्ते के नवजागरण में विज्ञान के बजाये साहित्यिक विषयों पर जोर था और बुद्धिजीवियों का झुकाव अंग्रेजी भाषा और योरोपीय साहित्य की ओर था, वहीं देहली कॉलेज से शुरू हुए नवजागरण में ज्यादा जोर विज्ञान और देशी भाषाओं पर था। यही वजह थी कि देहली कॉलेज के विद्वानों जैसे हाली और जकाउल्लाखां आदि ने, अंग्रेजी भाषा के अध्ययन के बावजूद शिक्षा के माध्यम के रूप में देशी भाषा के इस्तेमाल पर ज्यादा जोर दिया। इस तरह देहली कॉलेज देशी भाषा के माध्यम से विज्ञान के प्रसार की शुरुआत करने वाला पहला कॉलेज बना।' (पृ. 140-41, एस. इरफान हबीब, 'प्रोमोटिंग साइंस एंड इट्स वर्ल्डव्यू इन द मिड नाइनटहन सेंचुरी', दीपक कुमार द्वारा संपादित किताब साइंस एंड इम्पैयर: एस्सेज इन इंडिया कंटेक्स्ट, 1700-1947 में शामिल निबंध, अनामिका प्रकाशन, दिल्ली, 1991)

गणितज्ञ और वैज्ञानिक रामचंद्र की सामाजिक चेतना भी बहुत प्रखर थी। उन्होंने भारतीय समाज की पारंपरिक रूढ़ियों का खंडन किया और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान तथा विवेकवाद की सराहना की, उसका प्रचार किया, जिसके कारण स्थानीय हिंदू उनकी निंदा करने लगे। रामचंद्र ने हिंदू धर्म छोड़कर ईसाई धर्म अपना लिया। उनके साथियों में से

एक डॉ. चमनलाल ने भी ईसाई धर्म अपना लिया था। रामचंद्र ने अपने साथियों के साथ मिलकर एक मासिक पत्रिका भी निकाली जिसमें आधुनिक वैज्ञानिक चेतना के प्रसार के साथ-साथ रूढ़िवादी दार्शनिक धाराओं और अंधविश्वासों का खंडन भी रहता था। जाहिर है कि ऐसे प्रयासों के कारण पारंपरिक समाज का रामचंद्र से विरोधभाव बढ़ता गया। इसी बीच 1857 का संग्राम छिड़ा। स्थानीय विद्रोहियों ने अंग्रेजों के साथ-साथ भारतीय ईसाइयों पर भी हमले किए। इन्होंने हमलों में डॉ. चमनलाल मारे गए। रामचंद्र किसी तरह बचकर भाग निकले। दिल्ली में हिंदू हो या मुसलमान, जो भी पारंपरिक धर्म और रूढ़ियों की आलोचना करता था, 1857 के दौरान उसे संदेह और शत्रुता की नजर से देखा गया। उस माहौल में अपनी जान बचाने के लिए देहली कॉलेज से जुड़े हुए बहुतेरे प्रतिभाषाली युवक और विद्वान, जो नई चेतना और नए ज्ञान के प्रचारक थे, दिल्ली छोड़कर भागने के लिए मजबूर हुए। इस तरह नवजागरण के आंदोलन का अंत हो गया। 1857 के संग्राम के बाद दिल्ली छोड़कर भागने वालों में एक कन्हैयालाल अलखधारी भी थे जो 1853 से दिल्ली में नई चेतना के आंदोलन में सक्रिय थे और प्रखर चेतना वाले सबसे उग्र सुधारक थे। 1857 के बाद वे दिल्ली से पंजाब चले आए। यहां लुधियाने को केंद्र बनाकर उन्होंने एक समाज सुधार संगठन 'नीतिप्रकाश सभा' कायम की और एक पत्रिका भी निकाली। पंजाब में ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज के आंदोलन को फैलाने में उन्होंने महत्वपूर्ण सहयोग दिया। उन्होंने ही नई स्त्री-चेतना की सबसे महत्वपूर्ण किताब सीमंतनी उपदेश (अज्ञात हिंदू औरत की लिखी) का 1882 में अपने पैसों से प्रकाशन किया।

19वीं सदी में धार्मिक-सामाजिक रूढ़ियों के खिलाफ सुधार के कानून बनवाने की जो प्रवृत्ति शिक्षित समाज में शुरू हुई थी, उसको सबसे बड़ा धक्का 1857 के संग्राम से ही लगा। 1857 के संग्राम से ब्रिटिश शासन ने एक सबक यह लिया कि उसे इस देश के हिंदू-मुसलमानों के धार्मिक-सामाजिक मामलों में दखल नहीं देना चाहिए। इस नीति के बाद न सिर्फ ईसाई मिशनरियों के कार्यकलापों को सीमित और नियंत्रित किया गया और उन्हें सरकारी संस्थाओं से दूर रखा जाने लगा, बल्कि खुद ब्रिटिश प्रशासन भी कुछ

इलाकों में अपनी पहल से स्थानीय कुरीतियों के खिलाफ जागृति लाने के जो प्रयास कर रहा था (जैसे राजस्थान और पंजाब में कन्यावध के खिलाफ) उससे भी उसने हाथ खींच लिए। लेकिन धर्म और समाज के मामलों में हाथ नहीं डालने की नई सरकारी नीति से, सबसे ज्यादा धक्का नए शिक्षित भद्रवर्ग को लगा, जो अपने धर्म और समाज की कुरीतियों के खिलाफ लड़ रहा था और इस लड़ाई में राज्य से सहायता चाहता था। नई नीति के तहत अब सरकार ने उनकी मदद करनी बंद कर दी। यही वजह है कि जब पारसी सुधारक बेहराम जी मालाबारी ने 1884 में विधवा विवाह की रुकावटों को दूर करने और बाल विवाह को रोकने के मकसद से एक प्रस्ताव तैयार किया और सरकार को उस पर कानून बनाने के लिए कहा, तो इस प्रस्ताव को इंग्लैंड की मिस कारपेंटर, लॉर्ड टेनीसन, हर्बट स्पेंसर और मैक्समूलर जैसे विद्वानों से मिले समर्थन के बावजूद सरकार इस मसले पर कानून बनाने के लिए राजी नहीं हुई। तब मालाबारी के सहयोगी सिंधी सुधारक दयाराम गिडमुल ने विद्यासागर की पहल पर 1856 में बने कानून में ही एक संशोधन पेश कर विवाह के बाद सहवास के लिए लड़कियों की न्यूनतम उम्र 10 से बढ़ाकर 12 कर देने का सुझाव रखा। किसी तरह सरकार ने इसे मान लिया। इस पर भी काफी हो-हल्ला मचा और तिलक के नेतृत्व में राष्ट्रवादियों ने इस सुधार को भारतीयों और हिंदुओं की स्वायत्तता पर हमला बताकर ब्रिटिश विरोधी भावनाओं को उभारने का प्रयास किया। इस राष्ट्रवाद के आगे सुधारकों की हिम्मत पस्त हो गई, वे अकेले पड़ गए। फिर सरकार ने भी अगले 38 सालों तक किसी सुधार बिल को कानूनी दर्जा नहीं दिया।

**5. शिक्षित वर्ग में परिवर्तन :** पश्चिमोत्तर और अवध प्रांत में 1857 के बाद शिक्षित भद्रवर्ग को राजनीतिक रूप से यह जरूरी लगा कि वह ब्रिटिश शासन के प्रति अपने समर्थन को साफ-साफ अभिव्यक्त करे। हालांकि निकोलस बी. डिक ने हाल ही में प्रकाशित अपनी किताब *द स्कैंडल ऑफ इम्पायर* में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की तीखी आलोचना करते हुए लिखा है कि ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन को भ्रष्ट और बेलगाम बताते हुए भारत में महारानी विक्टोरिया के जिस शासन को सभ्य कानून का शासन कहकर लागू किया गया था वह भी दरअसल उतना ही भ्रष्ट और

लुटेरा शासन था। लेकिन 1857 के बाद भारत के खासकर पश्चिमोत्तर और अवध के शिक्षित वर्ग ने विक्टोरिया के शासन को इस तरह बिल्कुल नहीं देखा। उसने विक्टोरिया शासन के घोषणापत्र में दिए गए बड़े-बड़े आश्वासनों पर पूरा भरोसा और उत्साह जताया और 1857 के विद्रोह की निंदा करते हुए नए ब्रिटिश शासन का खुलकर स्वागत किया। लेकिन मुसलमान अभिजात्य वर्ग को ब्रिटिश समर्थक बनाने की राह में अभी भी कई अड़चनें थीं। लिहाजा उनके बीच सैयद अहमद ने आधुनिक शिक्षा और सुधार का आंदोलन चलाया। 1857 के संग्राम में मुस्लिम अभिजात्य वर्ग का जैसा क्रूर और भयंकर दमन किया गया, और उनके धार्मिक स्थलों को ध्वंस किया गया, खासकर दिल्ली शहर में वह भारत के आधुनिक इतिहास के सबसे काले पृष्ठों में एक है। ज्यादातर आम शिक्षितों को आज भी उस दमन-उत्पीड़न की भयंकरता का सही अंदाजा नहीं है। गालिब के पत्रों में आए दिल को सहमा देने वाले कुछ एक विवरणों के अलावा उस दमन और ध्वंस की असली भयावह तस्वीर फ्रांसिस रोबिन्सन के कुछ एक निबंधों में मिलती है। ('*द मुस्लिम ऑफ अपर इंडिया एंड द शॉक ऑफ द म्यूटिनी*'); मुशीरूल हसन और नारायणी गुप्ता द्वारा संपादित ग्रंथ — *इंडियाज कोलोनियल एनकाउंटर* में शामिल निबंध, मनोहर दिल्ली 1993)

दुश्मनी की इस हालत को उलटने के लिए अंग्रेजों का विश्वास फिर से जीतने और उनके सहयोग से मुस्लिम अभिजात्य वर्ग की मर्यादा और विशेषाधिकारों को आगे भी बहाल रखने के लिए सैयद अहमद ने उनके बीच नई शिक्षा का आंदोलन चलाया और उनमें ऐसी सुधार चेतना लाने की कोशिश की जिससे वे ब्रिटिश शासन की नई परिस्थितियों के साथ अपना तालमेल बैठा सकें। इससे एक ओर जहां मुस्लिम भद्रवर्ग के एक हिस्से का आधुनिकीकरण हुआ और वह अंग्रेजी हुकूमत के महत्वपूर्ण पदों पर काबिज हुआ, वहीं दूसरी ओर वह वर्ग न सिर्फ अपने धार्मिक समाज से कुछ भिन्न और विशिष्ट हुआ, बल्कि बाकी पूरे समाज से भी उसके अंतर्विरोध तेज हुए और दूरी बढ़ी। इसके दूरगामी राजनीतिक परिणाम निकले।

इस प्रांत के हिंदू भद्रवर्ग में इस तरह के आंदोलन की जरूरत किसी ने महसूस नहीं



की। ऐसे किसी आंदोलन के बिना ही हिंदू भद्रवर्ग में ब्रिटिश शासन के प्रति अपनी वफादारी दिखाते रहने की प्रवृत्ति, खासकर हिंदी के लेखकों- पत्रकारों में इतनी बढ़ गई थी कि इसने चाटुकारिता का रूप ले लिया इसके पर्याप्त प्रमाण हैं। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के रमेश रावत ने परिश्रम से लिखे गए अपने एक लेख ( *सोशल साइंटिस्ट*, खंड-26, 1998 ) में उदाहरणों के साथ दिखलाया भी है कि कैसे 19वीं सदी में हिंदी के लगभग सभी बड़े लेखकों ने 1857 के संग्राम की निंदा की और उसके दमन का समर्थन किया।

यहां हम यह अंदाजा लगा सकते हैं कि हिंदी-उर्दू क्षेत्र के शिक्षित भद्रवर्ग ने 1857 की निंदा भले की हो, लेकिन उसे लेकर उसके मन में शायद एक दबी-सी सहानुभूति भी रही होगी और उस संग्राम के बर्बर दमन को देखते हुए एक अवरुद्ध बेबसी रही होगी। यह अंदाजा बिल्कुल बेबुनियाद नहीं कहा जा सकता। इसका पहला संकेत 1857 पर सैयद अहमद की किताब *असबाबे बगावते हिंद* से मिलता है, जो संग्राम खत्म होने के चंद महीनों बाद लिखी गई थी और किसी भारतीय के द्वारा 1857 पर लिखी गई पहली किताब थी। उसमें सैयद अहमद ने एक और विद्रोह भड़काने के कारणों को हमदर्दी से देखा है, दूसरी ओर विद्रोह की निंदा की है। इन दोनों के बीच जो दूरी है, एक हद तक असंगति है, उसी से उपरोक्त अनुमान को आधार मिलता है। निकोलस बी. डिक ने सैयद अहमद द्वारा 1857 संबंधी अपने लेखन में बहुत सावधानी बरते जाने को लक्ष्य करके लिखा है कि 1857 के महासंग्राम पर लिखते हुए भी सैयद की मुख्य चिंता अंग्रेजों और मुसलमानों के बीच सुलह कराने और अंग्रेजों की मदद से मुसलमानों की स्थिति मजबूत करने की थी। इसीलिए इस मुख्य चिंता के प्रतिकूल पड़नेवाले पक्षों पर उन्होंने ज्यादा जोर नहीं दिया। (वहीं) मेरा विचार है कि 1857 के दमन के बारे में भारतेंदु के पद्य की जिन दो पंक्तियों को अक्सर उद्धृत किया जाता है, उनमें भी उस अवरुद्ध सहानुभूति और दबी हुई बेबसी की झलक देखी जा सकती है हालांकि अन्यत्र भारतेंदु ने भी इस विद्रोह के दमन का स्वागत किया है और इसके लिए सर लारेंस को बधाई दी है। लेकिन इससे अधिक उन पंक्तियों में कुछ भी पढ़ना निराधार कल्पनाशीलता होगी। ऐसे अंदाजे के बावजूद 1857 के बाद हिंदी के लेखकों में अंग्रेजों की

चापलूसी करने और उनके प्रति अपनी निष्ठा दिखाने की प्रवृत्ति जितनी नग्न होकर उभरी, वह हैरान और शर्मिदा करने वाली है। अंग्रेज हाकिमों पर पद्य बनाकर उन्हें भेंट करना, उनका जन्मदिन मनाना, उनकी मृत्यु पर शोकसभाएं करना, अपनी कविता में उनकी अतिरंजित प्रशंसा करना, उन्हें अपने पौराणिक देवी-देवताओं और ईश्वर के अवतारों के बराबर बतलाना, उन्हें सदी-जुकाम होने पर भी उनकी चिंता में जनसभाएं कर उनके स्वास्थ्य लाभ के लिए प्रस्ताव पास करना, उनकी नजरों में चढ़ने और बने रहने के लिए उन्हें तरह-तरह के भेंट-उपहार देना और उनके पसंदीदा काम करते रहना — इस तरह की प्रवृत्तियां हिंदी के बड़े लेखकों में भी 1860-70-80 के दशक में अपने उत्कर्ष पर दिखाई देती हैं। जबकि बंगाल के शिक्षित बौद्धिक वर्ग में इस तरह की प्रवृत्तियां बहुत कम मिलती हैं और इतने भौंडे या नग्न रूप में तो बिल्कुल नहीं। 1857 से पहले और बाद में अंग्रेजों के साथ बंगाली लेखकों और बुद्धिजीवियों के संबंध मित्रतापूर्ण ढंग के भी मिलते हैं। जैसे राजा राममोहनराय और द्वारिकानाथ ठाकुर के संबंध अंग्रेजों से मित्रतापूर्ण थे। ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने अंग्रेज हाकिमों से अपनी योजनाओं के लिए सहयोग हासिल किया, लेकिन उनकी झूठी प्रशंसा नहीं की। इसके उल्टे, संस्कृत कॉलेज में पाठ्यक्रम क्या हो, इसे लेकर वह बनारस संस्कृत कॉलेज के प्रिंसीपल वैंलेंटाइन से भिड़ गए। केशवचंद्र सेन का प्रभाव ऐसा था कि अंग्रेज हाकिम उनका व्याख्यान सुनने के लिए उपस्थित रहते थे। ये सभी लोग उस समय बंगाली बौद्धिक वर्ग के सिरमौर थे। लेकिन यही बात 1857 के बाद हिंदी लेखकों के सिरमौरों के बारे में नहीं की जा सकती। अंग्रेजी राज से कुछ शिकायतें करने और एक हद तक उसकी आलोचना भी करने के बावजूद वे उनकी इतनी चापलूसी क्यों करते थे?

**6. सबसे महत्वपूर्ण बदलाव :** 1857 से पहले हमारे पास अपने राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम का कोई स्थाई प्रेरणा स्रोत नहीं था और न कोई प्रतीक था। 1857 ने जो खुद भारत का पहला स्वाधीनता संग्राम था हमारे राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन को एक मूल्यवान प्रेरणा स्रोत और प्रतीक दिया और यह प्रेरणा स्रोत और प्रतीक वह खुद बना। हमारी ऐतिहासिक चेतना में वह भारत राष्ट्र की स्वतंत्रता के संघर्ष की महान स्मृति बनकर अमर हो गया। लेकिन ऐसा अपने-आप और तुरंत नहीं हुआ।

देहाती किसानों की चेतना में वह भले ही शुरू से विद्रोही नायकों के वीरतापूर्ण कारनामों का वर्णन करने वाले किस्सों और लोकगीतों के रूप में अमिट रहा, लेकिन शहरों के शिक्षित भद्र वर्ग के बीच वह दशकों तक निंदा का ही विषय बना रहा। तथ्य यह है कि उसके घटित होने के तीस साल गुजर जाने के बाद भी हिंदी के एक बड़े लेखक प्रतापनारायण मिश्र ने, जिन्हें दूसरा भारतेंदु भी कहा जाता है, अपने एक लेख में उसे एक 'अपराध' और थोड़े से 'नमकहरामों' द्वारा भारतीय नेशन पर लगाया गया 'कलंक' बतलाया। ( *ब्राह्मण*, 15 सितंबर, 1888 ) लेकिन जैसे-जैसे अंग्रेजी राज के अंतर्विरोध खुलकर सामने आते गए, शिक्षित भद्रवर्ग का उससे मोह टूटता गया। 19वीं सदी के अंत तक समाज के सभी वर्गों का असंतोष अंग्रेजीराज के खिलाफ फूटने लगा। जब कांग्रेस के नेतृत्व में और कांग्रेस से बाहर भी, नए सिरे से अंग्रेजी राज के खिलाफ जन आंदोलन भड़क उठे और इस बार ये आंदोलन खुद शिक्षित भद्रवर्ग के नेतृत्व में उठ चले, सिर्फ तभी 1857 का संग्राम शिक्षित वर्गों के लिए गौरव और प्रेरणा का विषय बन सका। वीर सावरकर पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 1857 को शिक्षित वर्गों के लिए गौरव और प्रेरणा का विषय बनाया। सावरकर आगे चलकर अपने रास्ते से भटक गए, हिंदू राष्ट्रवादी होने के अलावा वे अंग्रेजी शासन के आगे झुक भी गए। लेकिन अपने क्रांतिकारी दौर में 1907 में उन्होंने पहली बार 1857 के संग्राम का विवेचन करते हुए उसे भारत की स्वतंत्रता का पहला महान संग्राम घोषित किया था। भारत के स्वाधीनता आंदोलन में उनकी इस घोषणा का प्रभाव बरसों पहले की गई मार्क्स की ऐसी ही घोषणा की तुलना में कहीं ज्यादा व्यापक और क्रांतिकारी रूप में पड़ा। शिक्षित भद्रवर्ग के बीच सावरकर ने 1857 को निंदा के विषय की जगह एक राष्ट्र के रूप में भारत के इतिहास के प्रस्थान बिंदु में बदल दिया। उन्होंने इसे अंग्रेजों के अन्याय के खिलाफ भारतीयों के प्रतिरोध के रूप में पेश किया। इस तरह 1857 भारतीय जनता की स्वतंत्रता की आकांक्षा, उसकी वीरता और उसके प्रतिरोध का एक गौरवपूर्ण प्रतीक बन गया। वह हमारे नए राष्ट्रीय इतिहासबोध का एक मूल्यवान तत्व बनकर विकसित हुआ। लेकिन 1857 की यह छवि आधी सदी बीत जाने पर स्वतंत्रता संघर्ष का एक नया दौर उभरने और शिक्षित वर्गों द्वारा 1857 को अपना लेने के बाद ही बन सकी। ■

( फरवरी, 2007 )

# देरिदा और अनुत्तरित आधुनिकता

■ आनंद प्रकाश

विखंडनवाद के सिद्धांतकार और उत्तर आधुनिक चिंतकों में से एक जॉक देरिदा का 8 अक्टूबर, 2004 को 74 वर्ष की अवस्था में पेरिस में निधन हो गया। इसके साथ समकालीन पश्चिमी चिंतन का एक महत्वपूर्ण दौर समाप्त हुआ। देरिदा विखंडनवादी सोच के व्याख्याकार तो थे ही, उसके प्रतीक भी थे, और इस सोच का ताल्लुक बीसवीं सदी की मूलतः आधुनिकतावादी विचारधारा के अनेक क्षेत्रों – मसलन, राजनीति, दर्शन, साहित्य, इतिहास, भाषाशास्त्र, आदि से था। पिछली सदी में शायद ही किसी अन्य चिंतक ने अध्ययन के इतने क्षेत्रों को प्रभावित किया हो, जितना देरिदा ने। कहा जा सकता है कि हिंदी के भी गतिशील एवं चंचल लोगों का एक पूरा समूह देरिदा की मृत्यु के साथ अरक्षित महसूस कर रहा है, जो निश्चय ही दुःखद है। चूंकि उत्तर आधुनिक सोच द्वारा लगभग दो दशकों तक इस तबके में गरिमा और गुणवत्ता का संचार देरिदा के ही कारण होते देखा गया। कहां जाएंगे आज ये सब के सब, और क्या करेंगे? पश्चिम की विश्वविद्यालयी दुनिया को भी अब देरिदा जैसे व्यक्तित्व का लंबे समय तक इंतजार करना होगा – ऐसा व्यक्तित्व जो इतिहास-विरोध का 'मनुष्यधर्म' स्तंभ बन सके और तार्किकता को तर्क से काटने में समर्थ हो। वहां सहसा एक अंतराल पैदा हुआ है। जीवनपर्यंत देरिदा ने बदलती स्थितियों में बदलते ढंग से तार्किकता को तर्क से काटा, और इस तरह कि वह निरंतर चर्चा में बने रहे। निश्चय ही, इसे असाधारण बौद्धिक उपलब्धि कहा जा सकता है। देरिदा में कुछ ऐसा था जो इतिहास में उठे मुश्किल सवालों का उतना ही मुश्किल समाधान प्रस्तुत करने में सक्षम था, और प्रशंसक मानते थे कि देरिदा का तर्क स्वयं इतिहास के द्वंद्वात्मक तर्क की मिसाल है।

देरिदा के विखंडनवाद में निर्मित पर गहरा

प्रहार मिलता है। देरिदा के लिए निर्मित का अर्थ ही जड़ता है। कोई चीज बनी नहीं कि वह जड़ हो जाती है। बनने का अर्थ ही यह है कि इतिहास की किन्हीं ताकतों ने एक स्थिति में अपने ढंग से तथा अपनी जरूरतों के अनुरूप शिरकत की है। इस प्रकार, शिरकत निरर्थक नहीं होती, बल्कि वह हमेशा स्थिति के भीतर मौजूद निश्चित उद्देश्य से जुड़ी रहती है। देरिदा की राय में ये उद्देश्य व्यापक तथा सामान्य व्यवहार के विकास में बाधक होते हैं, तभी वे सामान्य व्यवहार को निश्चित दिशा में मोड़कर उसे विशिष्ट निर्मित का रूप प्रदान करते हैं। किसी भी अध्येता और चिंतक का काम यह है कि वह निर्मित को संदेह से देखे और उसे तोड़े। तोड़ने के दौरान जब चीजें बिखरेंगी तो मालूम होगा कि उक्त निर्मित में क्या-कुछ दबा है, जिसे एक काल की किन्हीं ताकतों ने बेरहमी से कुचला और उसके बरक्स किसी अन्य को विकास के लिए प्रोत्साहित किया। तभी निर्मित संभव हुई। इस कारण हर उपलब्धि निर्मित को तोड़ना आवश्यक है। यह तोड़ना असल में इतिहास में उभरी जड़ता पर होने वाला सार्थक 'मानवीय' प्रहार होता है।

कुछ लोगों की राय में देरिदा के निर्मित-विरोध का आधार भौगोलिक था – भूगोल ने देरिदा को सक्षम बनाया था कि वह घटना को वास्तविक या प्रदत्त न मान कर उसे निर्मित मानें। देरिदा अल्जेरियाई-फ्रांसीसी थे, यानी वह ऐसे फ्रांसीसी परिवार से संबंध रखते थे जो पहले कभी फ्रांस के उपनिवेश अल्जीरिया में बस गया था। उनका जन्म 1930 में अल्जीरिया में हुआ था। शुरू से ही देरिदा अस्मिता-संकट का शिकार रहे – उनका स्वयं से सवाल था कि वह अल्जीरियाई है या फ्रांसीसी? अल्जीरियाई होने की शर्त यह थी कि वह फ्रांस-विरोधी हों, चूंकि फ्रांस एक औपनिवेशिक शक्ति के तौर पर अल्जीरिया का दमन-शोषण करता था। लेकिन इतिहास ने

उन्हें ऐसी पहचान बखशी थी कि वह प्रबुद्ध फ्रांसीसी संस्कृति के वाहक थे, और योरोपीय नवजागरण उनकी धमनियों में प्रवाहित था। ऊपर से उनकी चमड़ी गोरी थी। इसका सामाजिक लाभ भी उनके परिवार को अल्जीरिया में मिलता ही था। साथ ही, अलगाव भी बना रहता था, जिसका कारण यह था कि अल्जीरिया में फ्रांसीसी परिवारों की दुनिया बेहद संकुचित-सीमित थी और जो देरिदा के जीवन काल में द्वितीय विश्व युद्धजनित बदलावों के चलते अतिरिक्त तेजी से सिकुड़ रही थी। क्या करते देरिदा? फ्रांस को पिता मान कर अपना भी कठिन था – वहां का समाज उन्हें उपनिवेश की असंगति से जोड़कर देखता था, उन्हें अस्वाभाविक, कुंठाग्रस्त तथा हीन मानता था। देरिदा से पूर्व कामू ने भी यह पीड़ा झेली थी, लेकिन तब स्थितियां भिन्न थी। कामू के पास विकसित वर्ग से जुड़ी विचारधारा थी। इस विचारधारा का मूल राजनीतिक सक्रियता में था। देरिदा के पास राजनीतिक सक्रियता का अवसर कम और सीमित था। उनके लिए मुख्यतः दर्शन बचा था, जिसके सहारे वह शीत युद्ध की वैतरणी पार करने को विवश थे। अपनी स्थितियों में कामू एक राजनीतिक-साहित्यिक 'निर्मित' बने। उधर, देरिदा अपनी स्थितियों में एक दार्शनिक-बौद्धिक-अध्यापकीय 'निर्मित' बने। निश्चय ही, इन निर्मितियों में निजता की भागीदारी काफी उत्कट रही होगी। कामू ने अपने अल्जीरियाई-फ्रांसीसी व्यक्तित्व को साहित्यिक जमीन पर पूरी तल्लीन से परखा तथा मुक्ति की ईमानदार तलाश जारी रखी, जबकि देरिदा ने अपने व्यक्तित्व में नया अमेरीकी अध्याय जोड़ कर उसे पूरी तरह विखंडित किए रखा – मुक्ति-विरोध की वास्तविक चूंकि अमेरीकी विचारधारा से प्रचलित भूमिका में रखते हुए उसे सत्ता विखंडन का आधार बनाया। कामू के लेखन में गहरी पीड़ा और आस्था का सम्मिश्रण था, जबकि देरिदा में तर्क के खेल की जादूगरी थी, जो रोशनीयों की जगमग में कुछ-का-कुछ दिखलाती थी।

क्या देरिदा पर यहूदी होने का दबाव भी था? क्या देरिदा द्वितीय विश्व युद्ध में यहूदियों द्वारा झेली गई पीड़ा के वाहक भी थे? इन सवालों का सीधा जवाब संभव नहीं। वैचारिकता और तर्क प्रायः धार्मिक अस्मिता

को अपने पर हावी नहीं होने देते। इसके विपरीत वे व्यक्ति के लिए ताकत का बायस बनते हैं। जर्मन फासीवाद की तर्कविहीनता और आक्रामकता का लक्ष्य यहूदी धर्म उताना था जितना इतिहास-केंद्रित प्रगतिशील चिंतन था। बल्कि यूं कहें कि तीस के दशक में फासीवादी आक्रमण का लक्ष्य जानबूझ कर नस्ल को रखा गया था ताकि विध्वंस का दायरा सीमित-सामाजिक सीमा से बढ़ कर समूची मनुष्यता तक फैल जाए। आज यदि निजीकरण की भूमंडली शक्तियां विश्व के पूरे मानवीय समुदाय को अपने तिरस्कार का लक्ष्य बना रही हैं तो क्या उसे तीस के दशक की तर्कविहीनता से, यद्यपि भिन्न लेकिन कुछ अर्थों में आगे जाने की विनाशकारी सोच नहीं माना जा सकता? देरिदा को यहूदी कहना उन्हें मनोविज्ञान के दायरे में ले जाकर प्रयोगशाला का पात्र बनाना है, न कि चिंतन के स्तर पर उनके समस्यामूल अथवा योगदान को देखना।

दूसरे, इस प्रश्न के जवाब में हमारा ध्यान उत्तर आधुनिकता के एक अन्य चिंतक पाल द'मान की तरफ जाता है। ये महाशय बाद में देरिदा के चिंतन से प्रभावित हुए, यद्यपि जीवन के शुरुआती दौर में इनका नाता जर्मन नात्सी राजनीति से था। पश्चिम के बुर्जुआ संस्थान से संबंधित लोगों ने पाल द'मान की इस महत्त्वपूर्ण 'रिश्तेदारी' को गोपनीय रखा था। अस्सी के दशक में एक विद्वान ने जब यह खोज निकाला तो कुछ बौद्धिक तूफान जैसा मचा। देरिदा ने उस समय पाल द'मान को समर्थन दिया। बात पूरी तरह उलझी थी। क्या देरिदा को अपने शिष्य का साथ देना चाहिए था? क्या पाल द'मान का नात्सी समर्थन देरिदा के यहूदी होने को नकारता था? धर्म और विश्वासमूल से संबंधित यह पूरा प्रकरण जटिल और समझने के लिए अलग किस्म के श्रम की मांग करता है। फिर भी देरिदा के यहूदी होने ने उनके बौद्धिक रूपाकार को कठिन बनाया होगा, और कुछ मार्मिक क्षणों में उनकी निज-निर्मिति को विखंडित-विचलित किया होगा, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है। इस तरह हम फिर देरिदा के विखंडनधर्मी चिंतन और उनके विशिष्ट तर्क की ओर लौटें।

यह नहीं कि देरिदा में सब कुछ गतिशील तथा चंचल था, या केवल विखंडन ही विखंडन था। जीवन भर देरिदा की ठोस तथा अपरिवर्तनीय प्रतिबद्धताएं जगजाहिर रहीं।

उनमें सबसे बड़ी प्रतिबद्धता मानव स्वतंत्रता की थी। देरिदा मानव स्वतंत्रता के मसीहा थे। वह मानते थे कि मनुष्य के अस्तित्व का एक ही लक्ष्य है और वह है समायोजन तथा अनुशासन से मुक्ति। समायोजन हुआ नहीं कि आप किसी बाहरी शक्ति की गिरफ्त में आ जाते हैं। लगता है कि अंततः अमेरिका ने देरिदा को अल्जीरियाई-फ्रांसीसी संरचनाओं से 'मुक्त' कर दिया और उन्हें सच्चा वैश्विक चरित्र प्रदान किया - तरल, स्वतंत्र और इस नाते किसी भी दिशा में जाने को मुक्त। देरिदा को इस नजरिये में बेहद आकर्षक आयाम दिखलाई पड़े। वह माध्यम बने उस पद्धति के जो वस्तु अथवा निर्मित को परत-दर-परत बेपर्दा करती है और अंत में मात्र खालीपन को पाकर संतोष का अनुभव करती है। यह संतोष जितना इस बात का रहा कि निर्मित की पहचान असल में अर्थ-विहीनता के इर्दगिर्द विकसित हुई, उतना ही इस बात का भी कि देरिदा की पद्धति उक्त अर्थविहीनता का उद्घाटन करने में सफल हुई। व्यापक अर्थविहीनता में निजता के प्रतिफलन को बीसवीं सदी उत्तरार्द्ध की 'सार्थक' बौद्धिक घटना कहा जा सकता है। याद रखना जरूरी है कि देरिदा का माध्यम होना उक्त निजता को परम अमूर्तन से आविष्ट करता था - तब देरिदा एक व्यक्ति न रह कर पूरे मानव व्यवहार का सामान्य माध्यम बनते थे। इसे देरिदा को मिली अमेरिकी वैश्विक व्यवहार की भेंट कहा जा सकता है। अमेरिका के विश्वविद्यालयी परिवेश ने देरिदा की समर्थ सोच और प्रतिभा को हाथों-हाथ लिया और उसे अपनी विशालता के बल पर सार्वभौम बनाया।

देरिदा के बौद्धिक व्यवहार में उस वस्तु या 'जिन्स' का प्रतीक भी चरितार्थ होता है जिस पर कार्ल मार्क्स ने उन्नीसवीं सदी में विस्तृत विचार किया था और अध्ययन से सिद्ध किया था कि पूंजी के मध्य निर्मित वस्तु का दैशिक चरित्र नहीं रहता - वस्तु अंततः तरल और बेहद गतिशील बन कर कुछ का कुछ दिखने लगती है। बीसवीं सदी के सार्वभौम बाजार अथवा क्रय-विक्रय के बेलगाम तंत्र ने 'वस्तु' को पूरी तरह सामाजिक अर्थवत्ता से खारिज करते हुए उसे सर्वसत्ता-संपन्न बनाया, ऐसी इकाई जो स्वयं निरर्थक रहते हुए शेष दुनिया को अर्थवत्ता से मंडित करती है। क्या देरिदा ने अपने व्यवहार से कुछ ऐसा ही कर दिखाने की कामयाब या नाकामयाब

कोशिश नहीं की? देरिदा से यह सवाल पूछा जाता तो वह कहते कि कामयाब या नाकामयाब में कोई फर्क नहीं, चूंकि प्रयत्न की नाकामयाबी असल में वस्तु की असंभव अर्थवत्ता को ही प्रतिष्ठित करती है। असंभव अर्थवत्ता? इस तरह की शब्द-निर्मितियां देरिदा के चिंतन की धुरी बनी रहीं, लेकिन हम यह न भूलें कि यह देरिदा की अनर्गल शब्द-क्रीड़ा न होकर उनके द्वारा हुई बेहद तर्कवान अर्थ-प्रतिष्ठा की कोशिश थी। देरिदा मानते भी थे कि अर्थ-प्रतिष्ठा मूलतः तर्काधारित होती है। इस कोशिश ने देरिदा को बीसवीं सदी के युरोपीय बौद्धिक परिवेश के लिए महत्त्वपूर्ण बनाया।

देरिदा-चिंतन के दो चर्चित आयाम थे - पहला साहित्य का था और दूसरा भाषा का। साहित्य में देरिदा को रचनाकार की सोद्देश्यता और निजता दिखलाई पड़ती थी, जिससे 'यथार्थ' का रूप 'विकृत' चूंकि निर्मित होता था। यह 'विकृति' रचनाकार की पहचान बनती थी, इसी के कारण कुछ चीजें रेखांकित होती थी और कुछ अन्य फोकस से बाहर चली जाती थी। चीजों का फोकस से बाहर जाना रचनाकारजन्य चुनाव तथा 'अहंकार' के कारण होता था। अपनी तरफ से रचनाकार अपनी कृति के लिए जवाबदेह न था। देरिदा की राय में रचनाकार यह मानते प्रतीत होते हैं कि चीजें हूबहू वैसी हैं जैसी वे कृति में प्रस्तुत हैं। देरिदा इस यथार्थवाद के कायल न थे और कहते थे कि हाशिये पर डाले गए तत्व रचनाकार का अहंकार और मनमानापन दर्शाते हैं। देरिदा के अनुसार रचना में यथार्थ जैसी कोई चीज नहीं होती, बल्कि यथार्थों की ऐसी शृंखला होती है, जो कितनी ही अन्य शृंखलाओं को अर्थवत्त के बाहरी कोने की तरफ, सीमित अर्थवत्ता अथवा निरर्थकता की तरफ धकेलती है। रचना के भीतर एकल नहीं, बहुल यथार्थ होता है। यह संकेत अध्येता को मुश्किल से मिलता है। संकेत की कमजोर उपस्थिति चिंता का विषय होती है। उधर अर्थ का सचेत चुनाव रचना को अस्वाभाविक बनाता है। इस तरह सचेत चुनाव के बल पर प्रतिष्ठित किए गए अर्थ ने देरिदा के अध्ययन में साहित्यिक कृति को संदेह का विषय बनाया। देरिदा ने कहा कि रचना के हाशियों को शिद्दत से टटोलना जरूरी है, ताकि लेखक का मनमानापन पकड़ में आ सके। साथ ही देरिदा ने यह भी कहा कि यह पूरी

चिंतन अथवा आलोचना-क्रिया तभी संभव है जब हम पहले से उपस्थित एक कृति की निजता, उसकी स्थापित चारित्रिकता स्वीकार करें। चूंकि एक कृति है, इसीलिए उसकी विकृति और असंगति है। कृति नहीं तो विकृति भी नहीं - दोनों का जुड़ाव अनिवार्य और अटूट है।

जहां तक भाषा का संबंध है, देरिदा ने शब्दों के भीतर और उनके इर्दगिर्द मौजूद अर्थान्विति को भी निरंतर प्रश्न के घेरे में रखा। देरिदा के लिए भाषा का सवाल भी हमेशा मनुष्य की आजादी से जुड़ा रहा। भाषा की मनुष्य को जरूरत भी रहती है और भाषा मनुष्य को जकड़ती भी है। भाषा का होना यह अहसास पैदा करता है कि मनुष्य अपनी स्थिति में आजाद नहीं है - वह अपनी बात, अपना मंतव्य इसलिए व्यक्त करने में असमर्थ है कि भाषा की अपनी दुनिया और उसके अपने नियम है, जो विकट और दुर्लभ है। व्यक्ति के मंतव्य और भाषा के बीच हमेशा तनाव की स्थिति रहती है। लेकिन इसी भाषा के अंततम में प्रवेश कीजिए तो वहां दमन और विकृति की अनेकानेक कहानियां मिलेंगी। ये कहानियां दमन की तो हैं ही, उस जिजीविषा और चुनौतीपूर्ण मानवीय ऊर्जा की भी हैं जिनके कारण तकालीन 'दमन' आवश्यक हुआ। फिर, सवाल यह भी है कि क्या उक्त 'दमन' ने वास्तव में मनुष्य की आजादी को समाप्त कर दिया, या केवल उसे कुछ समय के लिए, अर्थात् तात्कालिकता के दौरान, दबा दिया। दमन की कहानी एक ही साथ विरोध की कहानी भी होती है, और मानव इतिहास में भाषा इस प्रक्रिया की साक्षी बनती है। तभी देरिदा ने अपने विश्लेषण में शब्दों और मुहावरों को निरंतर उलटा-पलटा और उनके सामने अप्रत्याशित तथा सामान्यतः अविचारणीय समस्याएं रखीं। देरिदा ने शब्दों के भीतर संभावित इस खेल को गंभीर विश्लेषण का विषय बनाया और पूरी शिद्दत से इस खेल को राजसत्ता, नियंत्रण, अन्याय, विचार, दैहिकता, दंड, हिंसा, शांति और निर्भीक विरोध से जोड़ा। भाषा ने देरिदा को यह अवसर दिया कि ऐतिहासिक स्थिति में कैद अर्थात् परिवेश में सक्रिय लोगों के शब्द-प्रयोग तथा साथ ही संरचना में मौजूद हिंसा को परखा जा सके। देरिदा के लिए भाषा वह

औजार बनी जिसकी मदद से अध्ययन के हर क्षेत्र का, और विशेष रूप से साहित्यिक कृति का, सार्थक विखंडन किया जा सकता था। देरिदा ने बौद्धिक ईमानदारी का वहन करते हुए यह भी कहा कि उक्त सिद्धांत उनकी अपनी सक्रियता पर भी लागू होता है, जहां जाहिर है अन्य लोगों और संरचनाओं के व्यवहार जैसी हिंसा मौजूद है। देरिदा ने कहा कि उनकी अपनी विचार-रचना और अर्थान्विति का भी निरंतर विखंडन एक साथ जरूरी है।

यानी निरंतर विखंडन और विखंडन का विखंडन - भाषा में, साहित्य में, दर्शन में, राजनीतिक टिप्पणी और वक्तव्य में और सत्ता के विभिन्न रूपों में, जिनके भीतर मानव स्वतंत्रता का बंदीपन तथा उसकी मुक्ति दर्ज रहते हैं।

जिस चीज को देरिदा जीवन-भर नहीं समझ पाए वह थी एक काल खंड के जीवन की वास्तविकता। न उन्होंने काल खंड को स्वीकारा, न जीवन की वास्तविकता को। इनको देरिदा ने निर्मितियां कहा, काल खंड या वास्तविकता नहीं। कारण, कि इनको देरिदा ने भाषा के, अवधारण के भीतर रखा, उस संज्ञानी दुनिया के भीतर जो देखने और अंदर-ही-अंदर महसूस करने की चीज है। तभी सक्रियता, हस्तक्षेप, परिवर्तन और संघर्ष भी देरिदा की नजर में शब्द इकाई या अर्थान्विति की परिधि में मौजूद रहे। देरिदा यह न देख पाए कि जो संस्थान सुविधाएं दे रहा है, प्रचार-प्रसार और धन दे रहा है, सेमिनारों में बुला रहा है, पुस्तक-प्रकाशन के बल पर व्यक्ति को, चिंतक को 'बेच' रहा है वह देरिदा के ऊपर है। वह न केवल देरिदा से बाहर है, बल्कि देरिदा के पहले और बाद भी है। देरिदा यह न पहचान पाए कि इस संस्थान, व्यवस्था और नियोजन-तंत्र के अपने नियम हैं और इस संस्थान में नई चीजें पैदा भी हो रही हैं और मर भी रही हैं। वह यह भी न देख पाए, या केवल एक सीमा तक देख पाए कि संस्थान की भाषा के भीतर शकलें इतिहासगत नियमों के अधीन ही बनती हैं।

अंततः देरिदा विखंडन को जीवन का एकमात्र परम सत्य मानते हुए उसे भाषा और निर्मित से जोड़ते रहे, मानो भाषा और निर्मितियां काल तथा इतिहास के आर-पार हों। देरिदा की क्षुद्र चालाकी भी देखिए कि उनकी सब अवधारणाएं पूंजीवाद और

समाजवाद से बाहर तथा ऊपर है - देरिदा सत्ता, हिंसा, स्वतंत्रता, मानवता, निर्मित, दमन, अन्याय, नियंत्रण, नियोजन आदि की बात तो करते हैं लेकिन पूंजीवाद और समाजवाद की नहीं। इसी तरह वह इतिहास और काल को भी समान रूप से मान्य-अमान्य की श्रेणी में रखते हैं। क्यों? क्या सत्ता के विभिन्न रूप नहीं होते, क्या सत्ता के आनुपातिक रूपों में अर्थ और मूल्य की भिन्नता नहीं होती? और क्या सत्ताएं परस्पर नहीं लड़ती - जीवन और मरण का प्रश्न बना कर? क्या वे केवल समूची मनुष्यता के विरुद्ध एक-साथ, मिलजुल कर लड़ती हैं? यदि ऐसा है तो आज का पूंजीवाद इतिहास और काल को नकार कर उत्तर आधुनिकता की बात क्यों करता है, जबकि समाजवाद इतिहास और काल को स्वीकारता है? क्यों अमेरीकी-यूरोपीय साम्राज्यवाद पूरी दुनिया के अवाम को घेर रहा है, उसके नियंत्रण-दमन के लिए नाभिकीय युद्ध का आयोजन कर रहा है, जबकि दुनिया का अवाम युद्ध के विरोध में धीरे-धीरे उठ खड़ा हो रहा है तथा युद्धविरोधी तर्कपूर्ण आयोजन के तहत संगठित हो रहा है? जब संरचनागत अन्याय को रोकने के लिए अवाम एक नियोजन और सामूहिकता के अधीन नई सत्ता का बीजारोपण करता है तो क्योंकर नई सत्ता उस मनुष्यता के लिए आवश्यक नहीं है जिसकी बात देरिदा अपने पूरे विमर्श में करते हैं? देरिदा की यह पूंजीवादी विवशता है कि वह सत्ता को काल-देश और नियोजनधर्मी वैचारिकता से बाहर निकाल कर उसे मात्र मनुष्यता के विरोध में खड़ा करते हैं और उस पूरी शब्दावली को विमर्श से हटा देते हैं जो असल में मनुष्य के इतिहासगत संघर्ष का प्रतीक है। देरिदा यह नहीं जानते कि सत्ताएं वास्तविक भी होती हैं और क मो बेश न्यायपूर्ण, स्वीकार्य और परिवर्तनीय भी, और कि मनुष्यता स्वयं को विशिष्ट काल खंडों में इस सत्ता-संघर्ष के माध्यम से व्यक्त करती है। यह देरिदा की त्रासदी है और उनके आका आधुनिक पूंजीवाद की विवशता। निश्चय ही, देरिदा-सर्वे उत्तर आधुनिकता को समर्पित हमारा मध्यवर्ग पूंजीवाद की इस खास वैचारिकता और भूमिका को समझेगा। ■

(नवंबर, 2004)

# ‘बिना उम्मीद के हमारा कोई भविष्य नहीं है’

महमूद दरवीश से दालिया कारपेल की बातचीत

जुलाई, 2007 के मध्य में महमूद दरवीश हैफा आए थे और वहां उन्होंने माउंट कारमेल के एक ऑडिटोरियम में कविताएं पढ़ीं। 1950 के दशक में उन्होंने यहीं से अपने रचनात्मक जीवन की शुरुआत की थी। उनका किस तरह स्वागत हुआ यह इस बात का प्रमाण है कि उनके काव्यपाठ के 1450 में से 1200 टिकट एक ही दिन में बिक गए। अंततः इस गोष्ठी में दो हजार श्रोताओं ने दरवीश को सुना। इस काव्य संध्या का आयोजन मशरेफ की संपादक और कवि सिमाह दाउद ने अरब-यहूदी राजनीतिक दल हदाश के सहयोग से किया था। पिछले कुछ वर्ष से दरवीश अम्मान और कभी-कभी रमल्ला में रह रहे थे। उनसे यह साक्षात्कार रमल्ला के खलील साकाकिनी सांस्कृतिक केंद्र में 13 जुलाई को, काव्य संध्या से एक सप्ताह पहले, लिया गया था। यहीं से दरवीश अपनी कविता की पत्रिका *अल-कारमेल* का संपादन करते थे।

**प्रश्न:** क्या इस देश को लेकर कोई उम्मीद है? (मेरे इस प्रश्न के उत्तर में महान निराशावादी दरवीश ने यह पूछने की जहमत भी नहीं की कि मैं किस देश की बात कर रही हूँ।)

उत्तर: “अगर कोई उम्मीद नहीं भी है, तो भी उम्मीद तलाशने के लिए हम बाध्य हैं। बिना उम्मीद के हमारा कोई भविष्य नहीं है। उम्मीद को बहुत ही सामान्य चीजों से पैदा होना चाहिए। प्रकृति की भव्यता, जीवन का सौंदर्य, उनकी क्षण भंगुरता से। मन-मस्तिष्क को स्वस्थ रखने के लिए हमें कभी-कभी जरूरी चीजों को भूल जाना चाहिए। ऐसे समय में उम्मीद की बात करना बहुत कठिन है। इससे ऐसा लगना मानों हम इतिहास और वर्तमान की अनदेखी कर रहे हैं।

मानो हम भविष्य को जो इस समय घट रहा है उससे काट कर देख रहे हैं। लेकिन जीने के लिए जरूरी है कि हम सप्रयास उम्मीद को तलाशें।

**आप यह कैसे करते हैं?**

मैं रूपकों का कारीगर हूँ; प्रतीकों का नहीं। मैं कविता की ताकत पर विश्वास करता हूँ, जो मुझे आगे की ओर देखने और रोशनी की एक चमक को पहचानने के कारण प्रदान करती है। कविता कुत्ती चीज साबित हो सकती है। इसमें अवास्तविक को वास्तविक में बदल देने की और वास्तविक को काल्पनिक में बदल देने की शक्ति है। इसमें एक ऐसे संसार की रचना करने की ताकत है, जो कि उस संसार से टकरा रही होती है जिसमें कि हम रहते हैं। मैं कविता को आध्यात्मिक दवा की तरह देखता हूँ। जो मैं यथार्थ में नहीं पाता उसे मैं शब्दों में रच सकता हूँ। यह एक जबरदस्त माया (इल्यूजन) है, पर है सकारात्मक। मेरे पास अपने जीवन के लिए या अपने देश की जिंदगी के लिए अर्थ खोजने का कोई और उपकरण नहीं है। यह मेरी सामर्थ्य में है कि मैं शब्दों के माध्यम से उनमें सौंदर्य प्रदान करूँ और उनकी स्थिति को अभिव्यक्त करूँ। मैंने एक बार कहा था कि मैं शब्दों से अपने राष्ट्र के लिए और अपने लिए एक होमलैंड (गृह-क्षेत्र) बनाता हूँ।

*आपने एक बार लिखा था, ‘इस जमीन ने हमारी घेराबंदी की हुई है,’ पर आज तो निराशा और हताशा की भावना पहले से कई गुना ज्यादा होगी।*

आज स्थिति कल्पनातीत खराब है। विश्व में फिलिस्तीनी राज्य ही ऐसा है, जो इस बात को लेकर निश्चित है कि आज की स्थिति आने वाले समय से निश्चित ही

बेहतर है। आने वाला समय सदा से ही और खराब साबित हुआ है। यह कोई अस्तित्ववादी सवाल नहीं है। मैं इजराइल में क्या स्थिति है उसके बारे में कुछ नहीं कह सकता; क्यों कि उस पर मेरी विशेषज्ञता नहीं है। मैं सिर्फ फिलिस्तीनी पक्ष पर ही बोल सकता हूँ। 1993 में ही ओस्लो संधि से पहले ही मैं जानता था कि इस संधि में कुछ नहीं है कि हम स्वतंत्रता फिलिस्तीन के रूप में शांति पा सकेंगे और इजराइल का कब्जा खत्म हो जाएगा। इसके बावजूद, मैंने देखा की लोगों में आशा है। संभवतः उन्होंने सोचा कि एक सफल लड़ाई से बेहतर खराब शांति साबित हो। वे सपने छल थे। आज स्थिति बहुत खराब है। ओस्लो से पहले चैक पाइंट नहीं थे, बस्तियां (यहूदी) इस तरह नहीं फैली थीं और फिलिस्तीनी इजराइल में काम कर सकते थे।

**क्या आपको लगता है कि दोनों पक्ष शांति चाहते थे?**

इजराइलियों की शिकायत है कि फिलिस्तीनी उन्हें नहीं चाहते। यह वास्तव में हास्यास्पद है। शांति राज्यों के बीच होती है न कि चाहत पर आधारित होती है। एक शांति संधि कोई शादी की दावत नहीं होती। इजराइलियों के प्रति घृणा क्यों है मैं समझ सकता हूँ। हर सामान्य आदमी आधिपत्य में रहने से घृणा करता है। पहले शांति स्थापित की जाती है और तब कोई चाहत या न चाहत की भावनाओं को टटोलता है। कई बार शांति के बावजूद प्रेम नहीं हो पाता। प्रेम एक निजी मसला है, जो दूसरों पर थोपा नहीं जा सकता।

**आप किस उम्मीद की बात कर रहे हैं?**

मेरा इजराइली पक्ष पर यह आरोप है कि वे गाजा पट्टी और वैस्ट बैंक (पश्चिमी तट) पर अधिपत्य छोड़ने की मंशा नहीं जताते। फिलिस्तीनी जनता फिलिस्तीन को आजाद करवाने की मांग नहीं कर रही है। फिलिस्तीनी उस 22 प्रतिशत हिस्से पर जिसे वह अपनी मातृभूमि मानते हैं, सामान्य जिंदगी जीना चाहते हैं। फिलिस्तीनियों ने यह सुझाया था कि मातृभूमि और राज्य के बीच अंतर किया जाए और वे उन ऐतिहासिक स्थितियों को समझते हैं जिनके

# फिलिस्तीनी जनता के संघर्ष की अभिव्यक्तियां

दरवीश की कविताएं फिलिस्तीनी जनता के संघर्ष, निष्कासन, विस्थापन, हताशा, स्मृति और आशा की सबसे प्रामाणिक अभिव्यक्तियां हैं। उनकी कविता ऐसे बिंबों और प्रतीकों – बगीचे, जैतून के बाग, तुलसी, थाइम, पहाड़, पौधे – से भरी हैं जो फिलिस्तीनी गांवों और जीवन से तत्काल जोड़ देती हैं। अरब दुनिया में उनकी लोकप्रियता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि उन्हें सुनने हजारों लोग आते थे, इतने ज्यादा कि फुटबाल के मैदान छोटे पड़ जाएं। उनकी कविताएं फिलिस्तीन का राष्ट्रगान बन गई हैं और उन्हें लेबनानी संगीतकार मार्शल खलीफे ने अपने संगीत से अमर कर दिया है। एक कवि के रूप में समकालीन दौर में उन्हें जो पद हासिल है वह पाब्लो नेरूदा और फैज अहमद फैज के बाद शायद ही किसी को मिला हो।

गो कि उन्हें अरब दुनिया का राजकवि कहा जाता है पर जैसा कि बड़े रचनाकारों के साथ होता है ये कविताएं स्थानीयता से निकल संपूर्ण शोषित मानव जाति की पीड़ा और उनके संघर्षों के दस्तावेज में बदल जाती हैं। उनकी कविताएं गहरी विडंबना और मानवीय सरोकार से लबरेज हैं। इस मामले में महमूद तीसरी दुनिया के प्रतिनिधि कवियों में गिने जाएंगे।

दरवीश का जन्म 13 मार्च 1942 के बसंत में अल बिरवा नाम के गांव में गलीली में हुआ था। उनका परिवार औसत किसान परिवार था। 1948 में इजराइली अर्द्ध सैनिक बलों ने इस जमीन पर आक्रमण किया और उनका परिवार जान बचाने के लिए भाग कर लेबनान पहुंचा। अगले साल जब वह लौटे उनका गांव गायब हो चुका था और वहां यहूदी बस्ती बस चुकी थी। उनके गांव के अलावा इजराइलियों ने फिलिस्तीनियों के 400 गांव मिटा दिए थे। यही नहीं कि उनके गांव मिटा दिए गए थे बल्कि इजराइल नाम के नए राज्य के लिए उनका कोई अस्तित्व ही नहीं था। इजराइल के लिए ये लोग 'उपस्थित- अनुपस्थित परदेसी' हो गए। इजराइल ने किस तरह से फिलिस्तीनियों के अस्तित्व को नकारा उसका सबसे बड़ा प्रमाण वहां की पूर्व प्रधान मंत्री गोलडा मेयर का यह वक्तव्य है कि "फिलिस्तीन जैसी कोई चीज नहीं है।" इस तरह उनका परिवार लाखों फिलिस्तीनियों की तरह शाश्वत शरणार्थियों में बदल गया। तब उनका परिवार देयर अल-असद में रहने लगा।

जैसा कि दरवीश ने एक जगह कहा है वह "लाइलाज बीमारी उम्मीद से पीड़ित हैं" और उन्होंने कभी लिखना नहीं छोड़ा। जब वह 12 वर्ष के छात्रा थे उन्होंने इजराइल के स्थापना दिवस पर एक कविता लिखी जो एक यहूदी लड़के को संबोधित थी। गोकि उनको वह कविता याद नहीं पर उसका उनमान था कि तुम धूप में जब चाहो खेल सकते हो, और तुम्हारे पास खिलौने हैं, लेकिन मेरे पास नहीं हैं। तुम्हारा घर है हमारे पास कुछ नहीं है। तुम्हारा यह उत्सव है, हमारा नहीं। हम दोनों साथ क्यों नहीं खेल सकते? इस पर उन्हें सैनिक गर्वनर ने तलब किया और

धमकाया कि अगर वह ऐसी कविता भविष्य में लिखेंगे तो उनके पिता को पत्थर की खदान में काम करने से निकाल दिया जाएगा।

दरवीश ने शुरुआत में हिब्रू के माध्यम से ही दुनिया के बड़े कवियों की कविताएं पढ़ीं और इसी के माध्यम से वह लोर्का और नेरूदा को जान पाए। उनके शुरुआती संग्रह *जैतून के पेड़ की पत्तियां* (1964), *फिलिस्तीन से आया प्रेमी* (1966) तथा *निशांत* (1967) इजराइल में ही प्रकाशित हुईं। इस दौरान वह इजराइली कम्युनिस्ट पार्टी राका के सदस्य थे और पार्टी के अरबी अखबार अल-इत्हाद का संपादन करते थे। राष्ट्रवादी अभिव्यक्तियों के लिए दरवीश को पांच बार जेल जाना पड़ा। उनकी कविताओं के 30 से कुछ ज्यादा ही संग्रह प्रकाशित हैं और उनका विश्व की 35 भाषाओं में अनुवाद हुआ है। लोट्स पुरस्कार (1969), लेनिन शांति पुरस्कार (1983) और सांस्कृतिक स्वतंत्रता के लिए लेन्नन फाउंडेशन पुरस्कार (2001) के अलावा अनगिनत पुरस्कार मिले हैं। उनकी काव्यात्मक गद्य रचनाओं का एक संग्रह जो उनके लेबनान पर 1982 के आक्रमण और बमबारी के दौरान के बेरुत के जीवन के अनुभवों पर आधारित है, का 1995 में अंग्रेजी में मेमरी ऑफ फॉरगेटफुलनेस नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें उन्होंने इजराइलियों की शहर की घेरे बंदी और फिलिस्तीनियों के नर संहार के बारे में बहुत ही प्रभावशाली ढंग से लिखा है।

दरवेश 1971 में इजराइल छोड़कर मास्को पढ़ने चले गए। उसके बाद वह काहिरा, बेरुत, ट्यूनिंस, साइप्रेस और पेरिस में रहे। उनका फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन (पीएलओ) और यासर अराफात से भी निकट का संबंध रहा। वह पीएलओ की कार्यकारिणी में भी रहे। पर 1993 में ओस्लो संधि पर अराफात से अपने मित्र एडवर्ड सईद की तरह ही असहमत और निराश होने के कारण उन्होंने पीएलओ छोड़ दिया। गत वर्ष दरवीश ने खेद प्रकट करते हुए कहा था, "फिलिस्तीनी होना कितना कठिन है और किसी फिलिस्तीनी के लिए लेखक या कवि होना तो और भी मुश्किल है...। इस तरह की गुलामी की स्थितियों में वह किस तरह से रचनात्मक स्वतंत्रता हासिल कर सकता है? और इस तरह के नृशंस दौर में वह किस तरह साहित्य की साहित्यिकता को बरकरार रख सकता है।"

दरवीश जिन स्थितियों की बात कर रहे थे वे यथावत हैं। आज भी गाजा की घेरे बंदी जारी है और इजराइल द्वारा कदम-कदम पर लगाए हुए बैरिकेडों में फिलिस्तीनियों को हर मिनट अपमानित होना पड़ता है और गाली खानी पड़ती है। वेस्ट बैंक में अनधिकृत यहूदी बस्तियां फैलती जा रही हैं और इजराइल की पूरी कोशिश है कि एक पूरी कौम को उसी तरह मिटा दिया जाए जिस तरह कभी योरोपियों ने लातिन अमेरिका में नरसंहार किया था। फिलिस्तीनियों के इस विनाश को सारी दुनिया देख रही है पर इसे रोका नहीं जा रहा है। यह बतलाने की जरूरत नहीं है कि यह क्यों हो रहा है। इजराइल नवसांप्रान्तवाद की पश्चिम एशिया में ऐसी चौकी है जिसके माध्यम से वह तेल के स्रोतों पर नियंत्रण रखता है।

सन् 2007 में दरवीश इजराइल लौटे थे। यहां दिया गया साक्षात्कार उसी समय का है।

कारण वर्तमान स्थिति पैदा हुई है जिसमें की दो कौमों एक ही जमीन पर और एक ही देश में रह रही हैं। इस इच्छा के बावजूद कोई बात नहीं बन पाई।

*आपने गाजा पट्टी की बात की। आप वहां के नए यथार्थ के बारे में क्या सोचते हैं?*

स्थिति दुखद है। गृहयुद्ध का माहौल है। फतह पक्ष और हमास पक्ष के बीच जो हुआ वह दृष्टिहीनता को प्रतिबिंबित करता है। कोई फिलिस्तीनी राज्य नहीं है और न ही उसकी कोई सत्ता है और वहां लोग एक दूसरे से छलावों (इल्यूजन्स) के लिए लड़ रहे हैं। हर पक्ष सरकार पर नियंत्रण चाहता है। यह सब कुछ इसलिए है मानो वहां कोई राज्य हो, मानो कोई सरकार हो, मानो इस उस (विभाग) के लिए कोई मंत्री हो, मानो वहां कोई झंडा हो कोई राष्ट्रगान हो। कई तरह के अगर-मगर हैं, पर तत्व कुछ नहीं है। जब कभी भी आप लोगों को जेल में रखेंगे - और गाजा पट्टी एक बड़ा कारागार है - और बंदी गरीब होंगे और वहां हर चीज की कमी होगी, बेरोजगार और आधारभूत चिकित्सा सुविधाओं से वंचित होंगे, आप ऐसे लोगों को पाएंगे जिनमें कोई उम्मीद नहीं बची है। वह स्वाभाविक-सी आंतरिक हिंसा की भावना पैदा करती है। वे नहीं जानते किससे लड़ना है, इसलिए वे आपस में लड़ते हैं। इसी का नाम गृहयुद्ध है। यह मानसिक, आर्थिक और राजनीतिक दबावों के बीच का विस्फोट है।

*क्या आप हमास के कट्टरतावाद के उत्थान से डरे हुए हैं?*

गैरसांप्रदायिक पक्ष जो सांस्कृतिक बहुलता और एक राष्ट्रीय मातृभूमि पर विश्वास करते हैं और उन लोगों के बीच जो फिलिस्तीन को सिर्फ इस्लामिक विरासत के नजरिये से देखते हैं टकराव है। मैं इससे राजनीतिक रूप में नहीं डरता। यह सांस्कृतिक स्तर पर डरावना है। उनकी अपने सिद्धांत हर व्यक्ति पर थोपने की मंशा बेचैन करने वाली है। वे सिर्फ एक बार के लोकतंत्र पर विश्वास करते हैं और वह है मतदान केंद्र पर पहुंच कर सत्ता हथियाने की। इसलिए वे लोकतंत्र के लिए विनाशकारी हैं। यह लोकतंत्र विरोधी लोकतंत्र है। लेकिन दोनों पक्ष फतह और हमास एक दूसरे से कटे हुए नहीं रह सकते।

अभी जबकि घाव ताजे हैं और खून बह रहा है किसी तरह के संवाद की बात करना मुश्किल है लेकिन अगर अंततः हमास उसने जो गाजा में किया है उसके लिए माफी मांगता है और गाजा के परिणामों को सुधारता है तो संवाद की बात करना संभव हो पाएगा। हमास को बतौर एक राजनीतिक ताकत, जिसके फिलिस्तीनी समाज में समर्थक हैं, दरकिनार करना असंभव है।

*यानी आप फिर से इजराइल के हाथों में खेल रहे हैं जिसे इस स्थिति से फायदा पहुंचता है।*

इजराइल सदा यह दावा करता रहा है कि कोई ऐसा है ही नहीं जिससे बात की जा सके, तब भी वह यही कह रहा था जबकि बात करने को पक्ष था। अब वे कहते हैं कि महमूद अब्बास से बात करना संभव है, लेकिन अब्बास तो हमास के चुनाव जीतने से पहले भी था। जब एक भी चेक पॉइंट नहीं हटाया गया है तो अब्बास क्या कर सकता है? यह इजराइली नीति है, जो कि फिलिस्तीनी अतिवाद और हिंसा को बढ़ाती रहती है। इजराइली शांति के बदले में कुछ नहीं देना चाहते। वे 1967 की सीमाओं तक वापसी नहीं करना चाहते, वे लौटने के अधिकार या बस्तियों के खाली किए जाने और निश्चय ही जेरुसेलम के बारे में बात नहीं करना चाहते - इसलिए बात करने को है ही क्या? हमारे पास कोई रास्ता नहीं है। मुझे तब तक इस अंधेरी सुरंग का कोई अंत नजर नहीं आता है जब तक कि इजराइल इतिहास और दंतकथा के बीच अंतर करने को तैयार नहीं है।

आज अरब राज्य इजराइल को मान्यता देने को तैयार हैं और इजराइल से विनती कर रहे हैं कि अरबों के शांति प्रस्ताव को स्वीकार कर ले, जिसके तहत 1967 की सीमाओं पर लौटना और फिलिस्तीनी राज्य की स्थापना के बदले में न केवल इजराइल को संपूर्ण मान्यता प्रदान करना शामिल है बल्कि पूरी तरह से सामान्य संबंधों की स्थापना भी है। अब आप बतलाइए कौन मौका गंवा रहा है। यह सदा कहा जाता है कि फिलिस्तीनी मौका गंवाने का कोई मौका नहीं छोड़ते। इजराइल क्यों अरबों के अस्वीकारवाद की नकल कर रहा है?

*आपको लगता है कि आपके जीवन काल में*

*दोनों देशों के बीच किसी तरह का कोई समझौता हो पाएगा?*

मैं निराश नहीं होता। मैं धैर्यवान हूँ और इजराइलियों की चेतना में एक गंभीर क्रांति की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। अरब एक सशक्त परमाणु शक्ति संपन्न इजराइल को स्वीकार करने को तैयार हैं - सिर्फ उसे अपने किले के दरवाजे खोलने हैं शांति स्थापित करनी है। नबियों और रेचेल के मजार के बारे में बात करना बंद कीजिए। यह 21वीं सदी है - देखिए दुनिया में क्या हो रहा है। हर चीज बदल गई है सिवा इजराइल की स्थिति के, जो कि जैसा कि मैं कह चुका हूँ इतिहास को दंतकथा से जोड़ती है।

*जमीन और मौत का भयावह संबंध अब लगभग दोनों पक्षों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है।*

मैं कह चुका हूँ कि इजराइल में यह समझने के लिए कि अब वहां युवाओं से यह कहना कि वे अगले युद्ध की प्रतीक्षा करें अब असंभव है, राजनीतिको के द्वारा एक सांस्कृतिक क्रांति की जरूरत है। वैश्वीकरण युवाओं को प्रभावित कर रहा है; वे घूमना चाहते हैं और सेना से बाहर जीवन जीना चाहते हैं। मुझे यह उम्मीद न करें कि मैं दोनों पक्षों के बीच इस टकराव को लेकर पैदा हताशा की तुलना करूंगा। अगर इजराइलियों में हताशा है तो यह एक अच्छा संकेत है। संभव है हताशा नेतृत्व पर नई स्थिति के निर्माण के लिए जनता का दबाव बनाएगी।

आप जानती हैं एक जनरल और एक कवि के बीच क्या अंतर होता है? जनरल युद्ध स्थल पर दुश्मनों के मृतकों की संख्या गिनता है जबकि कवि इस बात का हिसाब लगाता है कि युद्ध में कितने जीवित लोग मारे गए। मरे हुए लोगों के बीच कोई वैर नहीं रहता। उनका एक ही दुश्मन होता है: मृत्यु। रूपक स्पष्ट है। दोनों ओर के मृतक अब दुश्मन नहीं रहे हैं।

*क्या ऐसी स्थिति आ सकती है कि आप भी उदाहरण के लिए वेकलाव हेवल की तरह राजनीति में जाएंगे?*

हेवल संभव है एक अच्छे राष्ट्रपति हों पर वह एक असाधारण लेखक के रूप में नहीं

जाने जाते। मैं जो राजनीति करता हूँ उससे बेहतर कविताएं लिखता हूँ।

*आप कविता गोष्ठी में जो कहने जा रहे हैं उसके बारे में कुछ बतलाना चाहेंगे ?*

मैं इस पर बात करना चाहूंगा कि मैं कारमेल से किस तरह नीचे गया और अब कैसे ऊपर जा रहा हूँ और मैं अपने आपसे पूछता हूँ कि मैं क्यों नीचे गया।

मैं हैफा बिना किसी अपेक्षा के जा रहा हूँ। मैं अपने हृदय में एक अवरोध महसूस करता हूँ। संभव है जब श्रोताओं से मेरा सामना होगा मेरे हृदय में कुछ आंसू टपकेंगे। मैं एक गर्मजोश मुलाकात की उम्मीद कर रहा हूँ। लेकिन मुझे यह भी शंका है कि श्रोताओं को निराशा होगी क्योंकि मैं कई पुरानी कविताएं नहीं पढ़ने जा रहा हूँ। मैं एक देशभक्त या एक हीरो या एक प्रतीक के तौर पर नजर नहीं आना चाहूंगा। मैं एक सामान्य कवि ही दिखना चाहता हूँ।

*फिलिस्तीनी राष्ट्रीय भावनाओं का प्रतिनिधि कवि से एक सामान्य कवि होने के बदलाव को किस तरह समझा जाए ?*

यह प्रतीक न तो मेरी चेतना में है और न ही मेरी कल्पना में। मैं प्रतीक होने की मांग को तोड़ने की कोशिश कर रहा हूँ और इस छवि को खत्म कर देना चाहता हूँ; लोगों में ऐसी आदत डालना चाहता हूँ कि वे मुझे ऐसे व्यक्ति के रूप में जानें जो अपनी कविता और पाठकों के रुचि का विकास करना चाहता है। हैफा में मैं अपने वास्तविक रूप में हूंगा। जो मैं हूँ। और मैं ऊंचे स्तर की कविताएं पढ़ूंगा।

*आप अपनी पुरानी कविताओं को क्यों नापसंद करते हैं ?*

अगर कोई लेखक यह घोषणा करता है कि मेरी पहली किताब मेरी सबसे अच्छी किताब है, तो यह अच्छी बात नहीं है। मैं हर किताब के साथ आगे बढ़ता हूँ। मैंने अभी यह तय नहीं किया है कि मैं श्रोताओं के सामने क्या पढ़ूंगा। मैं बेवकूफ नहीं हूँ। उन्हें मैं निराश नहीं करूंगा। मैं जानता हूँ कई लोग पुरानी रचनाएं चाहते हैं।

*क्या आप में इस बात का पछतावा है कि 1970 में आप एक कम्युनिस्ट युवा*

*प्रतिनिधि मंडल के सदस्य के रूप में मिस्र गए और वहां से कभी नहीं लौटे ?*

कई बार समय समझदारी पैदा करता है। इतिहास ने मुझे विडंबना का अर्थ समझाया है। मैं सदा अपने से पूछता हूँ: क्या मुझे 1970 में चले जाने का पछतावा है? मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूँ कि उत्तर महत्वपूर्ण नहीं है। संभवतः यह प्रश्न कि मैं क्यों माउंट कारमेल से नीचे गया यह महत्वपूर्ण है। *आप नीचे उतरे क्यों ?*

इसलिए कि 37 वर्ष बाद लौट सकूँ। यानी मैं न तो 1970 में माउंट कारमेल से नीचे उतरा और न ही 2007 में लौटा। यह सब रूपक है। अगर मैं इस क्षण रमल्ला में हूँ और अगले सप्ताह कारमेल में हूंगा और याद रखें कि पिछले लगभग 40 वर्ष से मैं वहां नहीं था तो चक्र पूरा हो जाता है और यह वर्षों लंबी यात्रा एक रूपक में बदल जाएगी। फिलहाल हम पाठकों को डराएँ नहीं। मैं लौटने के अधिकार को नहीं हासिल करना चाहता।

*अगर ऐसा योग बने कि आपका गैलीली और हैफा तथा परिवार में आज लौटना हो जाए तो ?*

पिछली बार 1996 में मैं जब पहली बार 26 वर्ष बाद लौटा तो आपने भावनाओं के उस उबाल को देखा था। तब बहाना यह था कि वहां मुझे एमीले हबीबी ( हैफा के स्वर्गीय लेखक ) से उनकी जीवनी पर बननेवाली फिल्म के सिलसिले में मिलना है। मैं भावुक हो गया था, रोया भी था और इजराइल में ही रहना चाहता था। पर अगर आप आज मुझसे पूछें तो मैं अपने फिलिस्तीनी पहचान-पत्र के बदले में इजराइली को नहीं लेना चाहता हूँ। वह मेरे लिए शर्मिंदगी ही पैदा करेगा। आज का जो मानदंड प्रासंगिक है वह यह है कि मैंने उन वर्षों में किया क्या। मैंने बेहतर लिखा, मैंने उन्नति की, मेरा विकास हुआ और मैंने अपने देश को साहित्यिक नजरिये से लाभ पहुंचाया।

*कुछ लोग, आपने इस माह कविता पढ़ने का जो समय चुना, उसकी राजनीतिक स्थिति और अजमी बिशारा मामले के संदर्भ में आलोचना कर रहे हैं।*

हम जिंदा हैं और मैं नहीं जानता क्या सही है और क्या नहीं है। हमारा सारा समय और समय-निर्धारण गड़बड़ा चुका है। वहां मेरा पहली बार जाना नहीं हो रहा है। मैं वहां

1996 में भी गया था और मैंने हबीबी के अंतिम संस्कार में उनकी प्रशस्ति पढ़ी थी। फिर मैं वहां 2000 में था जब मैंने नजारथ में कविताएं पढ़ी थीं और मैं कफ़ यासिफ के उस स्कूल के समारोह में भी शामिल हुआ था जहां मैंने शिक्षा पाई थी। मैं इस या उस राजनीतिक दल के विवाद का हिस्सेदार नहीं हो सकता। मैं इजराइल की पूरी अरब जनता का मेहमान हूँ और मैं इस्लामिक आंदोलन तथा हदाश और बलाद के बीच अंतर नहीं करता। मैं उन सभी का कवि हूँ। न ही मैं यह भूल सकता हूँ कि कई कवि ऐसे हैं जो मुझे पसंद नहीं करते हैं और यह नापसंदगी उन लोगों के बीच भी है, जो अपने को कवि मानते हैं। ईर्ष्या एक मानवीय गुण है लेकिन जब यह घृणा में बदल जाती है तब बात अलग है। ऐसे भी लोग हैं जो मुझे साहित्यिक सरदर्द मानते हैं लेकिन मैं उन्हें बच्चों के रूप में देखता हूँ जिन्हें निश्चय ही अपने आध्यात्मिक पिता के खिलाफ विद्रोह करना चाहिए। उन्हें मेरी हत्या करने का अधिकार है लेकिन उन्हें मेरी हत्या एक ऊंचे स्तर पर करनी चाहिए – एक पाठ में।

*क्या आप का यहूदी इजराइली बुद्धिजीवियों से भी संबंध है ?*

मैं कवि यितजाक लाओर और इतिहासकार एमनान राज-क्राकोत्जकिन के संपर्क में हूँ। पिछले 20 वर्षों में मैंने बहुत कम हिब्रू पढ़ी है लेकिन मुझे कई इजराइली लेखक पसंद हैं।

*क्या आप इस तथ्य से गौरवावित महसूस करते हैं कि सात वर्ष पहले तत्कालीन शिक्षामंत्री योसी सारिद ने आपकी कविताओं को साहित्यिक पाठ्यक्रम में लगाने की कोशिश की थी और इसका नतीजा यह हुआ था कि दक्षिण पंथी एमकेयों ने गठबंधन को ही खत्म कर देने की धमकी दे डाली थी ?*

मुझे अपनी कविताओं के पाठ्यक्रम में लगाए जाने में कोई रुचि नहीं है। जब सरकार के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव था तो मैंने मजाक में पूछा था कि इजराइल के आत्मसम्मान का क्या हुआ – आप सरकार को एक फिलिस्तीनी कवि के कारण कैसे गिरा सकते हैं जबकि इसके लिए आपके पास दूसरे कई कारण हैं? न ही इसमें मेरी कोई रुचि है कि



मेरी कविताएं अरब स्कूलों में पढ़ाई जाती हैं। मैं वास्तव में पाठ्यक्रम में रखे जाने को पसंद नहीं करता क्योंकि छात्र सामान्यतः उन पर थोपे गए साहित्य से घृणा करते हैं।

*आपका घर... ?*

मेरा कोई घर नहीं है। मैं घूमता रहा हूँ और इतनी तेजी से घर बदलता रहा हूँ कि इस शब्द के वास्तविक अर्थ में मेरा कोई घर नहीं रहा है। घर वही है जहाँ मैं सोता हूँ, पढ़ता हूँ और लिखता हूँ और वह कहीं भी हो सकता है। मैं 20 से ज्यादा घरों में अब तक रह चुका हूँ और मैं सदा अपने पीछे दवाएँ, किताबें और कपड़े छोड़ जाता हूँ। मैं भाग जाता हूँ।

*सिंहाम दाउद के अभिलेखागार में वे पत्र, पांडुलिपियाँ और कविताएँ हैं जो आप 1970 में छोड़ गए थे।*

मुझे पता नहीं था कि मैं लौटूँगा नहीं। मैंने सोचा था मैं न लौटने की कोशिश करूँगा। ऐसा नहीं है कि मैंने प्रवास को स्वतः चुना हो। दस वर्ष तक मुझे हैफा न छोड़ने का आदेश था और उनमें से तीन वर्ष मैं नजरबंदी में था। किसी एक विशेष घर के प्रति मेरा कोई लगाव नहीं है। कुल मिला कर घर कोई ऐसी चीज नहीं है, जो लोग जमा करते हैं। एक घर के साथ स्थान और समाज जुड़ा होता है। मेरा कोई घर नहीं है।

हर चीज एक-सी लगती है: रमल्ला अम्मान और पेरिस की तरह है। संभवतः क्योंकि मैं चाहनाओं पर पला-बढ़ा हूँ, मेरे लिए और चाहनाओं में जीना ठीक नहीं है और यह भी संभव है कि मेरी भावनाएँ बासी हो गई हों; संभव है तर्क ने भावनाओं पर विजय पा ली हो और विडंबना सघन हो गई हो। मैं वही आदमी नहीं रहा हूँ।

*क्या इसी कारण आपने परिवार नहीं जोड़ा ?*

मेरे मित्र मुझे अक्सर याद दिलाते हैं कि मैंने दो बार विवाह किया था, पर मैं उसे गहरे याद नहीं करता। मुझे बच्चे न होने का अफसोस नहीं है। बहुत संभव है वह ठीक-ठाक न बढ़ पाता, हो सकता है वह उजड़ु होता। न जाने मुझे यह शंका क्यों रहती है कि वह ठीक-ठाक बड़ा नहीं हो पाता, लेकिन मैं यह जरूर मानता हूँ कि मुझे इसका कोई अफसोस नहीं है।

*फिर आपको अफसोस किस बात का है ?*

कि मैंने कम उम्र में कविताएँ छपवाई और खराब कविताएँ। मुझे इस बात का अफसोस रहता है कि मैंने एक मित्र को शब्दों से आहत किया या रूखे और तीखे शब्दों का इस्तेमाल किया। हो सकता है मैं कई स्मृतियों के प्रति ईमानदार नहीं रहा, लेकिन मैंने कोई अपराध नहीं किया।

*क्या अपने अकेलेपन को पसंद करते हैं ?*

बहुत ज्यादा। जब मुझे किसी दावत में जाना होता है तो मुझे लगता है कि मुझे दंडित किया जा रहा है। इधर के वर्षों में मैं अकेला रहना पसंद करने लगा हूँ। मुझे लोगों की तभी जरूरत पड़ती है जब कोई काम हो। क्या यह स्वार्थपरता है, लेकिन मेरे पांच-छह मित्र हैं। यह काफी है। मेरे हजारों परिचित हैं पर उस का कोई अर्थ नहीं है।

*अपने बचपन की उन कविताओं में जिन की ओर लौटना आप आज कठिन पाते हैं, क्या उनमें आप उसे कविता को भी शामिल करते हैं जिसमें माँ का काफी जिक्र है ?*

मैंने उस कविता को 1963-64 में मासियाहु जेल में लिखा था। मुझे जेरूसलेम के हिब्रू विश्वविद्यालय में कविता पाठ को आमंत्रित किया गया था और मैं उन दिनों हैफा में रहता था। मैंने प्रार्थना पत्र दिया (यात्रा करने के लिए; उन दिनों इजराइल का अरब जनता पर मार्शल लॉ लागू था) पर कोई उत्तर नहीं आया। मैं रेल से गया - क्या वह रेल अभी चल रही है ? नेजारथ में अगले दिन मुझे पुलिस स्टेशन बुलाया गया और चार महीने की जेल की सजा सुनाई गई जिसमें से दो माह मासियाहु जेल में कटे। वहीं एक एसकाट सिगरेट के पीले डिब्बे पर जिसमें कि एक ऊंट बना हुआ था मैंने वह कविता लिखी जिसे लेबनानी संगीतकार मार्शल खलीफे ने गीत में बदल दिया है। यह मेरी सबसे सुंदर कविताओं में गिनी जाती है और इसे मैं हैफा में सुनाऊँगा।

*आप बिरवा, वह गाँव जहाँ आप पैदा हुए, भी जाएंगे ?*

नहीं। आज यह (एक किबबुत्ज) यासुर कहलाता है। मैं उन स्मृतियों को संजोये रखना पसंद करता हूँ जो खुली जगहों, मैदानों

और खरबूजों, जैतून व बादाम के पेड़ों की हैं। मुझे वह घोड़ा याद है, जो शहतूत के पेड़ से आंगन में बंधा था और मैं कैसे उस पर चढ़ा था और उसने पटक दिया था। इस पर माँ ने मेरी पिटाई की थी। वह मुझे सदा पीटती थी क्यों कि उसे लगता था कि मैं काफी उत्पाती हूँ। पर मुझे याद नहीं पड़ता कि मैं इतना नटखट था।

मुझे तितलियों की याद है और यह स्पष्ट आभास है कि सब कुछ खुला हुआ था। गाँव एक पहाड़ी पर था और सब कुछ नीचे फैला हुआ था। एक दिन मुझे सोते से उठाया गया और कहा गया कि हमें भागना है। किसी ने युद्ध या खतरे के बारे में कुछ नहीं कहा। हम पैदल ही लेबनान गए, मैं और मेरे तीन भाई-बहन। छोटा गोद का ही था और वह सारे रास्ते रोता ही रहा।

*क्या आप लेखन नियम पूर्वक करते हैं या फिर समय के साथ अधिक लचीलापन आ गया है ?*

ऐसी कोई शर्तें नहीं हैं, लेकिन आदतें हैं। मैं सुबह 10 बजे से 12 तक लिखने का आदी हूँ। मैं हाथ से लिखता हूँ। मेरे पास कंप्यूटर नहीं है और मैं सिर्फ घर में लिखता हूँ और जब अपार्टमेंट में अकेला होता हूँ तब भी दरवाजे पर ताला लगा लेता हूँ। फोन को काटता नहीं हूँ। मैं हर दिन नहीं लिखता लेकिन मेज पर हर दिन जबर्दस्ती बैठता हूँ। संभव है प्रेरणा होती हो, न भी होती हो, मैं कह नहीं जानता। मैं प्रेरणा पर ज्यादा विश्वास नहीं करता। कई बार बेहतरीन आइडिया ऐसी जगहों पर आते हैं जो खास अच्छी नहीं होतीं। जैसे कि गुसलखाने में, जहाज में भी संभव है, कभी रेल में। अरबी में हम कहते हैं “...फलाने की कलम से” लेकिन मैं सोचता हूँ कि लेखन मात्र हाथ से नहीं होता। प्रतिभा अंदर कहीं होती है। आपको बैठना आना चाहिए। अगर आप नहीं जानते कि बैठा कैसे जाता है तो आप नहीं लिख पाते। अनुशासन जरूरी है।

*मुझे ऐसा आभास क्यों है कि आप ठीक से सोते नहीं हैं ?*

मैं हर रात नौ घंटे सोता हूँ और कभी भी अनिद्रा का शिकार नहीं रहा हूँ। मैं जब चाहूँ सो सकता हूँ। लोग कहते हैं मैं बिगड़ा हुआ

हूँ। मेरे बारे में यह उन्होंने कहा कहा? हिब्रू अखबारों में। आप कहती हैं कि सी राजकुमार-सा माना जाता हूँ। राजकुमार को लोगों से ऊपर माना जाता है। यह गलत है। न ही यह सही है कि चेले बनाता हूँ। मैं शर्मिला हूँ और इसे कुछ लोग गलत समझते हैं।

*यह तथ्य कि अपने जीवन काल में कम से कम एक बार तो आपने मौत को छू ही लिया था बुढ़ापा और शारीरिक कमजोरी को लेकर इससे क्या डर पैदा होता है?*

मैं दो बार मौत के रूबरू हो चुका हूँ, एक बार 1984 में और दूसरी बार 1998 में जब मुझे क्लीनिकली मृत घोषित कर दिया गया था और मेरे अंतिम संस्कार की तैयारियाँ की जाने लगी थीं। वियना में मुझे हार्ट अटैक हुआ। वह सफेद बादल पर स्पष्ट रोशनी के साथ गहरी आरामदायक नींद थी। मैं नहीं मानता कि वह मौत थी। मैं तब तक जब तक कि मुझे तेज दर्द का आभास नहीं हुआ तिरता हुआ यात्रा करता रहा और वह दर्द इस बात का संकेत था कि मैं जीवन में लौट गया हूँ। मुझे बतलाया गया कि मैं दो मिनट तक मृत रहा था।

सन् 1998 में मृत्यु आक्रामक और हिंसक थी। वह आरामदायक नींद नहीं थी। वह जबर्दस्त दुःस्वप्न था। यह मौत नहीं थी, यह कष्टकर लड़ाई थी। मौत अपने आप में पीड़ा नहीं पहुंचाती।

*मृत्यु के प्रति अब आपका क्या नजरिया है?*

मैं इसके लिए तैयार हूँ। मैं इसकी प्रतीक्षा नहीं कर रहा हूँ। मैं इंतजार पसंद नहीं करता। मैंने प्रतीक्षा की पीड़ा पर एक प्रेम कविता लिखी है। उसे, प्रेमिका को देर हो गई है और वह आती नहीं है। मैंने लिखा है शायद वह वहां कहीं चली गई है जहां सूर्य है। संभवतः वह खरीदारी करने चली गई हो। संभव है उसने आड़ने में अपने को देखा हो और उसे अपने से ही प्यार हो गया हो और सोचा हो, कोई मुझे छुए यह तो अनुकंपा है, मैं अपनी हूँ। संभव है उसके साथ कोई दुर्घटना हो गई हो और अब वह अस्पताल में हो। हो सकता है वह सुबह आई हो जब मैं यहां नहीं था क्योंकि मैं फूल और शराब की बोटल लेने चला गया था। हो सकता है वह मर गई हो क्योंकि मौत

मेरी तरह है, जो इंतजार पसंद नहीं करती। मैं इंतजार पसंद नहीं करता। मौत भी इंतजार करना पसंद नहीं करती।

मैंने मौत के साथ एक करार किया है और यह स्पष्ट किया है कि मैं अभी उसके लिए उपलब्ध नहीं हूँ। मुझे अभी भी कई चीजें लिखनी हैं, बहुत कुछ करना है। अभी काफी काम बाकी है और हर जगह लड़ाइयां हो रही हैं और मृत्यु तुम्हें मैं जो कविता लिखता हूँ उससे कोई लेना-देना नहीं है। उससे तुम्हारा कोई सरोकार नहीं है। पर हम मिलना तय कर लेते हैं। मुझे समय से पहले बता देना। मैं इंतजार करूंगा, कपड़े पहनूंगा और हम समुद्र के किनारे एक कैफे में मिलेंगे, एक ग्लास वाइन पिएंगे और फिर तुम मुझे ले जा सकती हो।

*और जीवन में?*

मैं डरा हुआ नहीं हूँ न ही मृत्यु मुझ पर हावी है। यह जब भी आए मैं इसे स्वीकार करने को तैयार हूँ लेकिन इसे बहादुर और शाही अंदाज में आना चाहिए और हम इसे एक ही झटके में खत्म कर दें, कैसर या हृदय या एड्स जैसी किसी बीमारी जैसे तरीकों से नहीं। यह चोर की तरह न आए। मुझे एक ही झपटे में ले जाए।

*कौन-सी चीज है, जो आपको आनंद देती है?*

फ्रांसीसी में एक कहावत है कि अगर 50 की उम्र के बाद आप कहीं भी कोई दर्द के बिना उठते हैं तो आप अपने को मरा समझो। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि मैं हर सुबह उठ पाता हूँ। वृहत्तर अर्थों में प्रसन्नता कोई ऐसी यथार्थवादी खोज नहीं है। प्रसन्नता एक क्षण है। प्रसन्नता एक तितली है। मैं जब कोई रचना पूरी कर लेता हूँ तो मुझे प्रसन्नता महसूस होती है।

*ऐसा लगता है आप पहले से ज्यादा समझौतावादी हो गए हैं।*

यह सपाट लग सकता है पर यह है हताशा का सौंदर्यशास्त्र। मुझे कोई भ्रम नहीं रहा है। मैं बहुत सारी चीजों की उम्मीद नहीं करता। इसलिए अगर कोई चीज काम कर जाती है तो वह महान प्रसन्नता की बात है। हताशा के साथ हास्य भी चलता है। मैं 'निःआशावादी'

(ऑपसीमिस्ट) हूँ। (इसका संदर्भ इमिली हबीबी के इसी नाम के नाटक से है।)

*क्या आपको हबीबी की याद आती है?*

अगर हबीबी होते तो यह स्थान ज्यादा भरा-पूरा महसूस होता। उनमें प्रकृति की शक्ति थी। वह हंसते थे और उनका हास्य अपनी ही तरह का था और मुझे लगता है कि वह हताशा से हास्य के माध्यम से लड़ते थे। अंत में वह परास्त हो गए। हम सब यहां तक कि विजेता भी परास्त हो जाएंगे। हमें आना चाहिए कि विजय के समय किस तरह का व्यवहार करना चाहिए और हार के समय किस तरह का। वह समाज जो नहीं जानता कि हार क्या चीज होती है कभी भी वयस्क नहीं होता।

*बहुत पुरानी बात नहीं है, आपने एक किताब, एक निजी वृत्तांत, पूरी की है जिसमें कविता और गद्य का फ्यूजन है। क्या आप वास्तव में स्वयं को प्यार करते हैं?*

कतई नहीं। जब युवा कवि मेरे पास आते हैं और जब भी मैं उन्हें सलाह देने की स्थिति में होता हूँ तो कहता हूँ, 'जो कवि लिखने बैठता है और यह नहीं महसूस करता कि वह पूरी तरह शून्य है उसका विकास नहीं होगा और उसकी पहचान नहीं बनेगी। मैं महसूस करता हूँ कि मैं कुछ नहीं कर पाया हूँ। यही वह बात है, जो मुझे अपने लेखन, शैली और प्रतीकों में सुधार के लिए मजबूर करती है। मैं महसूस करता हूँ कि मैं शून्य हूँ और इसका मतलब है मैं अपने आपको निश्चय ही प्यार करता हूँ। मेरे एक मित्र हैं वह जानते हैं कि मैं अपने को टेलीविजन पर देख नहीं सकता। उसका कहना है कि यह आत्ममुग्धता का उलट है। यह उस उल्लू के पट्टे ने मुझसे कहा। ■

अनु.: पं.बि.

साभार: हारेत्ज, अंग्रेजी संस्करण। इजराइल का यह अखबार मूलतः हिब्रू में प्रकाशित होता है।

(अरब दुनिया के महान कवि महमूद दरवीश का नौ अगस्त को ह्यूस्टन, टेक्सास के एक अस्पताल में देहांत हो गया।)

(सितंबर, 2008)

# महाकाव्य में नया आयाम

## ■ इंतजार हुसैन

आखिर ऐसा क्यों है कि महाकाव्यों में प्रायः मानवीय संबंध जंग के शोर में गुम नजर आते हैं जबकि उर्दू मर्सियों में उन पर बल है। उर्दू मर्सियों के महत्त्व पर प्रस्तुत है यह लेख।

हजरत जैनब, शहर बानो, बाली सकीना, कुबरा, सुगरा, फिज्जा। यह और इनके साथ कितनी और पत्नियां हैं। कोई पहले ही से बेवा है। किसी को करबला में आकर वैधव्य देखना है। ये इतने नारी चरित्र मर्सियों में क्या कर रहे हैं और अनीस ने अपनी पूरी रचनात्मक संवेदनशीलता के साथ उनको इतना महत्त्व क्यों दिया है कि उनके मर्सियों में एक भरी-पूरी नारी तहजीब फलती-फूलती नजर आती है ?

आलोचकों ने अनीस के मर्सियों को महाकाव्यात्मक कविता की किस्म में गिना है। महाकाव्यात्मक काव्य तो वह है, मगर एक अंतर के साथ। उन मर्सियों का नारी माहौल। महाकाव्य की काव्य शैली तो मर्दाना रंग में रची-बसी है। जो बड़े काव्य हमारे लिए कसौटी का दर्जा रखते हैं उनकी अधिकतर सूत्र यही है। औरत की आवाज उन महाकाव्यों में मुश्किल से ही सुनाई देती है। और सुनाई देती भी है तो शीघ्र ही जंगी नारों, ललकारों और हथियारों के शोर में गुम हो जाती है। एक-आध उदाहरण पेश करने में कोई हानि नहीं है। मगर इससे यह मत समझिए कि मैं उन महाकाव्यात्मक रचनाओं का महत्त्व घटा कर अनीस के मर्सियों को उनसे बेहतर साबित करने की कोशिश कर रहा हूँ।

मैं केवल महाकाव्य के इस अंतर को, जो अनीस के यहां नजर आता है, समझने का प्रयत्न करूंगा। यहां मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि यह लेख एक पिछले लेख के क्रम में लिख रहा हूँ जहां मैंने यह समझने का प्रयत्न किया था कि आखिर ऐसा क्यों है कि महाकाव्यों में प्रायः मानवीय संबंध जंग के शोर में गुम नजर आते हैं जबकि उर्दू मर्सियों में उन पर बल है ? इसलिए जहां जरूरी है वहां कुछ बातों को मुझे यहां दोहराना पड़ेगा। अब मैं इस समस्या पर सोचता हूँ तो यह नजर आता है

कि जो मानवीय रिश्ते स्पष्ट तौर पर महाकाव्य में गुम हो गए हैं वे सभी संबंध ही हैं। दूसरे शब्दों में स्त्री महाकाव्यों में प्रायः गुम हैं और पुरुष छाया हुआ नजर आता है। मगर उर्दू मर्सियों में स्त्री की भूमिका बहुत नुमायां है और अनीस के यहां वह एक नए अर्थों के साथ उभर कर सामने आई है। उन स्त्री चरित्रों को थोड़ा और स्पष्ट किया जाए तो जो चंद्र नारी चरित्र पारिवारिक रिश्तों में प्रतिनिधि चरित्रों की हैसियत से उभरते हैं और इस रिश्ते से मानवीय रिश्तों की रंगा-रंगी में सबसे बढ़कर उष्मा और अर्थ पैदा करते नजर आते हैं, वे हैं—मां, बहन और बेटी। यह बात बहुत नजर आती है कि प्राचीन भारत के दो बड़े महाकाव्यों में पुरुष परंपराओं पर इतना जोर है कि भाई और बेटे यहां छापे हुए हैं, बहन और बेटी के चरित्र कमोबेश गायब हैं। अगर हैं भी तो कहीं पृष्ठभूमि में है। कितनी अजीब-सी बात लगती है यह। *रामायण* में ठीक केंद्र में तीन भाई हैं राम, लक्ष्मण और भरत। *महाभारत* में सौ भाई एक तरफ हैं, पांच भाई दूसरी तरफ। बहन कोई नहीं है, न बेटी है। भतीजी, भांजी, मौसी, बुआ, ऐसे रिश्ते जो एक रची-बसी पारिवारिक जिंदगी का प्रतिनिधित्व करते हैं, उनको तो भूल ही जाइए। इतने महत्त्वपूर्ण मानवीय रिश्ते अगर गायब हैं तो फिर औरत की आवाज कहां सुनाई देगी ? तुलसी के *रामचरितमानस* की एक महाकाव्य की हैसियत से महानता अपनी जगह है, मगर अनीस को पढ़ने के बाद *रामचरितमानस* को पढ़ा जाए तो अजब अहसास होता है कि बहन और बेटी इन दो चरित्रों के न होने से भावनाओं व संवेदनाओं का कितना रंगारंग क्षेत्र इस महाकवि की पकड़ से छूट गया और मानवीय संबंध के कितने नाजुक गोशे इस महाकाव्य के दायरे से बाहर हो गए।

वैसे मुझे *महाभारत* का उदाहरण ज्यादा

अधिक दिलचस्प और अर्थवान नजर आता है। संपूर्ण युद्ध में केवल एक स्थान पर स्त्री की आवाज सुनाई देती है। यह आवाज एक दुखी मां का विलाप है। उस समय हमें पता चलता है कि योद्धाओं की इस भीड़ में किसी कोने में एक दुखियारी मां भी बैठी थी। और वह मां किसी भाई की बहन भी है। यह वह स्थान है जब अभिमुन्य मारा जाता है और उसकी मां विलाप (बैन) करती है हुई युद्धभूमि में पहुंचती है और विलाप क्या है कि ए मेरे लाल, मेरे चंदा, तू नाजों का पला है। इस डरावने सूने जंगल में तू रात कैसे गुजारेगा, तू नर्म बिस्तर में सोने वाला, तुझे इस सख्त कांटों भरी धरती पर नींद कैसे आएगी ?

यह वह बिंदु है जहां *महाभारत* का महाकाव्य उर्दू मर्सियों की परंपरा के करीब आ जाता है। मगर यह बिंदु जल्दी ही गुजर जाता है। वैसे तो कई और दुखी मांएं भी बाद में प्रकट होती हैं। द्रौपदी पर भी गम का पहाड़ टूटा है क्योंकि उसके बेटे सोते में कत्ल कर दिए गए और गांधारी सौ बेटों के शोक में है। मगर इन मांओं के तरीके और हैं। द्रौपदी तो क्रोध से भरी मां है, प्रतिशोध की आग में जल रही है। सुभद्रा की समस्या प्रतिशोध नहीं है। वह अर्जुन की समस्या होगी। बेटे का गम उसे कुछ और सोचने का मौका ही नहीं देता।

और हां! होमर के *इलियड* में योद्धाओं के नारों और हथियारों की झंकार में कोई नर्म मीठा स्वर मुश्किल से ही सुनाई देता है। जब हैक्टर मारा जाता है तब पता चलता है कि यहां कोई मां भी है और कोई पत्नी भी है, जिसका सुहाग उजड़ गया है।

वैसे तो अनीस ने भी युद्धभूमि का नक्शा खूब बांधा है। कैसी-कैसी रज्ज (युद्धक्षेत्र में अपने कुल की शूरता और श्रेष्ठता का वर्णन) है और क्या-क्या ललकार है। और फिर घोड़े और तलवार की तारीफ में कैसा-कैसा समां बांधा गया है। मगर होता यह है कि जंग और कत्लो-खून के बीच हर नाजुक मोड़ पर कोई दुख भरी नारी आवाज उभरती है। कभी बहन की, कभी बेटी की, कभी भतीजी की और फिजां जो अभी तक तलवारों की झंझनाहट से गूंज रही थी, दर्दों-सोज से भर जाती है। बस यूँ समझिए कि यह आवाज हमें युद्ध व नरसंहार से इंसानियत की तरफ वापस ले आती है। इस मकाम को देखिए जहां हुए (शत्रु सेना का

मध्यवर्ती अधिकारी जो युद्ध आरंभ होने से ठीक पहले अकेला इमाम हुसैन से आ मिला था) की सेना ने इमाम के काफिले का रास्ता रोक रखा है। हजरत अब्बास (इमाम हुसैन के 32 वर्षीय सूरमा भाई) क्रोध में हैं, खतरा है कि कहीं लड़ाई न छिड़ जाए। हजरत जैनब (इमाम हुसैन की बहन) परेशान होकर पूछती है कि यह शोर कैसा है:

महमिल से मुंह निकाल के फिज्जा ने यह कहा

*बलवाँ किनारे नहर है ऐ बिंते मुरतजाँ  
क्या जाने किसने टोक दिया है दिलेर को  
सब दशतँ गूँजता है ये गुस्सा है शेर को  
अब हजरत जैनब की प्रतिक्रिया देखिए;  
जैनब पुकारों पीट के जानूँ, बसदँ मलाल  
हैं है गजब हुआ अगर आया उन्हें जलाल  
कह दे कोई कि ऐ असदे किब्रियाँ के लाल  
गुरबतँ पे इब्ने फातमाँ की तुम करो  
खयाल*

*कुर्बान हो गई, न लड़ाई का नाम लो  
में हाथ जोड़ती हूँ कि गुस्से को थाम लो  
और फिर यह धमकी—  
लड़ने को तेग म्यान से खेंचोगे तुम अगर  
महमिल से गिर पड़ूंगी जमीं पर मैं नंगे  
सर।*

यह कलबला में जंग के खिलाफ सबसे प्रखर आवाज है। समझ लीजिए कि युद्ध के विरुद्ध पूरे स्त्री जगत की आवाज। जंग एक ऐसी भयानक प्रक्रिया है जिसमें आदमी ही नहीं मारे जाते, मनुष्यता भी कल्ल होती है। इमाम हुसैन अपने ध्येय पर कामय रहते हुए जंग से बचने की हर तदबीर करते हैं और वैकल्पिक रास्ते तलाश करते हैं। मगर यह मामलात इमाम हुसैन के साथ है। हजरत जैनब सिर्फ इतना जानती और चाहती हैं कि युद्ध नहीं होना चाहिए और उनकी यह आवाज लश्करे हुर के प्रतिरोध के समय से प्रारंभ होकर युद्ध के शुरू होने तक हमें सुनाई देती रहती है। इस बात को शायद सबसे बेहतर अनीस ने समझा है और स्थान-स्थान पर पूरी कलात्मक परंपरा के साथ उसे बयान किया है। इस मकाम को देखिए जहां हजरत अब्बास युद्ध क्षेत्र में जाने के लिए तैयार हैं। ठीक उसी समय एक बच्ची, जो उनकी प्यारी भतीजी है अपनी प्यास की बात बीच में ले आती है। अब अनीस के यहां हजरत अब्बास की

प्रतिक्रिया देखिए—

*सूखे हुए होंठो को न दिखलाओ सकीना  
होवे जो कोई मश्क तो ले आओ सकीना।  
लीजिए इसके साथ युद्ध का सारा अर्थ ही  
बदल गया। अब हजरत अब्बास एक योद्धा  
की हैसियत में मैदान में नहीं जाते। अब उनकी  
भूमिका भिन्न है। एक तरह से युद्ध के नकार  
वाली:*

*जब कस्द किया नहर<sup>10</sup> का सक्काए<sup>11</sup> हरम  
ने*

*मशकीजा<sup>12</sup> धरा दोष पे उस बहरे करम<sup>13</sup> ने  
और उसके साथ युद्ध की प्रकृति ही बदल  
गई:*

*क्या-क्या न लड़े, मश्क को क्या-क्या न  
बचाया*

*गह छाती तले, जेरे सिपरगह<sup>14</sup> छुपाया  
झुककर कभी दामाने जिरह उस पे उड़ाया  
वो तीर लगा सीने पे जो मश्क पे आया*

*पानी के लिए खून में तर हो गए अब्बास  
तलवार जब आई तो सिपर हो गए अब्बास।  
इस तरह हम अनीस के मर्सियों को पढ़ें तो  
यहां महाकाव्यात्मक काव्य में एक नया  
आयाम जुड़ता दिखाई देगा— स्त्री जन्य  
करुणा का आयाम। ये स्त्री चरित्र जिस तरह  
अनीस के मर्सियां में बयान हुए हैं इसी  
आयाम का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रायः यही  
होता है कि रणभूमि में आकर सारे मानवीय  
रिश्ते कट जाते हैं। फिर रिश्ता तीर-तलवार  
से होता है और शत्रु के सिर से। महाकाव्यों में  
युद्ध क्षेत्र उन्हीं जाने-पहचाने रिश्तों के साथ  
उभर कर सामने आता है। मगर यहां युद्ध क्षेत्र  
में सारे मानवीय संबंध बरकरार हैं। तलवारों  
की झंकार और घोड़ों की टापों की पृष्ठभूमि  
में महिलाओं और बालकों की आवाजें  
सुनाई देती रहती हैं और कभी-कभी एक  
महिला का विलाप कि सी एक नन्हीं  
बालिका की पुकार इस दर्द के साथ उभरती  
है कि पूरे मंजर पर छा जाती है और थोड़ी देर  
के लिए तलवारों की झंकारें घोड़ों की टापें  
पृष्ठभूमि में चली जाती हैं।*

*यहां मानवीय संबंधों की एक विविधता है।  
और हर रिश्ते की अपनी एक विशिष्टता।  
कवि ने अपनी पूरी कलात्मक महारत से इस  
नजाकत का बयान किया है। पारिवारिक और  
गैरपारिवारिक संबंधों की विविधता यहां  
अपनी पूरी ऊष्मा के साथ इस तौर पर पेश हुई*

है कि लगता है कि हम एक पूरी संस्कृति से मुलाकात कर रहे हैं। पूरी संस्कृति तो उसे होना ही चाहिए। आखिर ये लोग खानदाने रिसालत (पैगंबर का परिवार) से संबंध रखते हैं। उनके साथ कुछ वे लोग हैं जिन्होंने अपनी कथनी-करनी को इस खानदान की कथनी-करनी के सांचे में ढालने की कोशिश की है। उनके परस्पर संबंधों में उनकी कथनी-करनी, उनके अदब-आदाब और उनकी बोलचाल में भी ऐसी खूबी तो होनी चाहिए कि उसके एक संपूर्ण आदर्श संस्कृति का नक्शा उभरता नजर आए। मगर उसे पकड़ में लाने के लिए भी तो किसी बड़ी काव्यात्मक प्रतिभा की जरूरत थी। अनीस की काव्यात्मक प्रतिभा का सिंचन एक ऐसी सभ्यता में भी हुआ था जहां मानवीय संबंधों की संवेदनशीलता का पास लिहाज इस हिसाब से था कि:

अनीस ठेस न लग जाए आबगीनों को। ऐसी ही कल्पना आले रसूल की सभ्यता को किसी हद तक पकड़ में ला सकती थी। और अनीस ने इस सभ्यता का जो नक्शा पेश किया है वह इतना जिंदा और वास्तविक हैं कि हमें इस पर एतबार आता चला जाता है। मसलन जब हजरत जैनब झंडाबरदार की समस्या पर ओन व मोहम्मद (हजरत जैनब के 14 वर्ष से कम के दो पुत्र) सरजनिश (डांट) करती है कि:

*देखो न कीजो वे अदबाना कोई कलाम  
बिगडूंगी मैं जो लोग जबां से अलम का  
नाम*

*लो जाओ बस खड़े हो अलग हाथ जोड़ के  
क्यों आए हो यहां अली अकबर को छोड़ के  
उम्रे कलील<sup>15</sup> और हवसे मनसबे<sup>16</sup> जलील  
अच्छा निकालो कद के भी बढ़ने की कुछ  
सबील<sup>17</sup>*

*मां सदके जाय गरचे यह हिम्मत की है  
दलील*

*हां अपने हमसिनो<sup>18</sup> में तुम्हारा नहीं  
अदील<sup>19</sup>*

*लाजिम है सोचे, गौर करे, पेशो पस करे  
जा हो सके न क्यों बशर<sup>20</sup> उसकी हवस  
करे।*

तो हमें महसूस होता है कि उन्होंने इन्हीं शब्दों और इसी लहजे में बेटों को संबोधित किया होगा। या जब वह यह दुआ करती हैं कि:

*बानूए<sup>21</sup> नेक नाम की खेती हरी रहे  
संदल से मांग बच्चों से गोदी भरी रहे*

तो हमें विश्वास आ जाता है कि उस महिला ने अपने प्रिय भाई और भावज के लिए विशेष इन्हीं शब्दों में और इतना ही डूबकर दुआ की होगी।

यहां से मुझे एक ख्याल और आ रहा है कि उर्दू संस्कृति ने जो नारी स्वर बनाए और संवारे हैं, वो अनीस ने कितने कलात्मक महारथ के साथ अपने मर्सिये में बरते हैं। मैं आलोचक ... नहीं हूँ कि कोई महाकामां करूँ मगर एक सवाल करने को जरूर जी चाहता है कि अगर हम थोड़ी देर के लिए अनीस के मर्सियों को उर्दू काव्य के दफ्तर से अलग कर लें तो ये लहजे स्वर इतनी नजशकत (संवेदना) और विशिष्टता के साथ और इतने जीवंत रंगों में पूरी उर्दू शायरी में कहीं और प्राप्त होंगे ?

अब मैं इससे एक कदम और बढ़कर एक बात कहूँगा। मगर इस बात से पहले एक बार और कह लेने दीजिए। उर्दू में अनीस की सूत्र में एक बड़ा नाटककार पैदा हुआ था मगर साहित्यिक (तहजोबी) मजबूरियों की वजह से वह नाटक की विधा से हटकर मर्सिया निगार बन गया। जो विषय और जो अनुभव उसके पास थे हिंद-इस्लामी तहजीब, उसे नाटक की शकल में अभिव्यक्ति की इजाजत नहीं दे सकती थी। उस सभ्यता के चमत्कार को देखिए कि उसी शहर लखनऊ में उसने नाटक को अनीस से उचका कर अमानत लखनवी की गोद में डाल दिया। फिर क्या हुआ। वही जो ऐसी सूत्रों में होता आया है:

*पाते नहीं जब रात तो चढ़ जाते हैं नाले  
रुकती है मेरी तबा<sup>2</sup> तो होती है रवां और।*

फिर अनीस ने मर्सिये ही को ड्रामा बना दिया। लिखित और प्रस्तुत दोनों एतबारों से इस विधा में इस शायर ने उर्दू जबान की मूल तक पहुंच हासिल कर ली। बात यह है कि जबान तो असल बोल-चाल का मामला है। किसी भाषा की अस्ल तक पहुंचना चाहो तो उसके लहजों को पकड़ में लाओ। और नाटक की भूमिका यही है। ड्रामा अपने अमल में यही काम अंजाम देता है। मगर उर्दू में अनीस के हाथों में आकर मर्सिये ने नाटक से बढ़कर यह काम अंजाम दिया तो जो बात मैं कहना चाह रहा था, वह यह है कि केवल स्त्री-स्वर ही अपनी नजशकत व नफासत के साथ पकड़ में नहीं आया है बल्कि उर्दू जबान की अस्ल

अपने नारी और पुरुष लहजों के साथ यहां अपनी सारी संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्त हुई है।

हां तो जिक्र यह है कि अनीस ने इमाम हुसैन के साथियों-सहयोगियों का और अहले खानदान का जिक्र इस विस्तार से किया है और उनके रहन-सहन, उनकी जीवनचर्या, उनकी बोल-चाल, उनकी चाल-ढाल को इतने जीवित और प्रभावी रंग में पेश किया है कि पूरी एक सभ्यता का जीता-जागता नक्शा हमारी आंखों के सामने आ जाता है। कायदे से उस सभ्यता को इस्लामी मूल्यों के यथावत अनुरूप होना चाहिए कि यह रसूल के घराने की सभ्यता है। यह सभ्यता हम से क्या कहती है। जब हुर की सेना का उस मरुस्थल में पानी के अकाल का सामना होता है और वह प्यास से बेहार हो जाती है तो इमाम हुसैन इससे आंखें मोड़कर कि यह शत्रु की सेना है, मित्रों को निर्देश देते हैं:

*अब्बास से फरमाया कि सक्को को  
बुलाओ*

*नाकों पे जो सेराब<sup>3</sup> है शरबे उन्हें लाओ  
कासिम से कहा छागलें तुम लेने को जाओ  
अकबर से कहा जल्दी परवालों को मंगाओ*  
सोचने की बात है कि यह युद्ध की कौन-सी मर्यादा है।

हां, और यह जो जिक्र था कि इस काफले में महिलाएं अच्छी-खासी तादात में हैं और महत्त्वपूर्ण हैसियत में नजर आती हैं। आखिर इस सभ्यता में औरत का क्या स्थान है ? साहिबो मुंसिफी (न्याय) करो कि हजरत जैनब ने शाम के बाजारों में और दरबारे यजीद में जो गवाही दी थी वो क्याआधी गवाही थी ? और जरा इस पर भी गौर कीजिए कि जब युद्ध सर पर आ गया और अलमदार (सेनापतियों) की नियुक्ति की समस्या पेश आई और हुसैनी सेना में यह उत्सुकता थी कि यह सम्मान किसे मिलेगा तो इमाम हुसैन ने यह अधिकार अपने पास नहीं रखा, हजरत जैनब को यह अधिकार दे दिया गया:

*मालिक हो तुम, बुजुर्ग कोई हो कि खुर्द हो  
जिसको कहो उसी को यद ओहदा सुपुर्द हो।*

और हजरत जैनब अपना फैसला सनाती हैं—

*अब्बासे नामदार से बेहतर कोई नहीं  
और हां हजरत शहर बानो (इमाम हुसैन*

की पत्नी)। वो तो गैर अरब थीं और माले गनीमत (लूट) में आई थीं। उन विशिष्ट लोगों के बीच क्या उनकी हैसियत किसी से कम है।

इसलिए इस सभ्यता को देखिए फिर समझ में आएगा कि कट्टरतावादियों, मौलवियों, मुल्लाओं ने इस्लाम की मानवता की अवधारणा को कितना बिगाड़ दिया है और इस्लामी सभ्यता को कितना बिगाड़ा है।

तो इस सभ्यता की सूत्र यह है कि बूढ़े और जवान, बच्चे और बड़े, स्त्री और पुरुष, अपने और गैर, हम कौम और गैर कौम सब एक भाईचारे के रिश्ते में बंधे हैं और अपनी-अपनी जगह सम्मानिय हैं—

*जो जरा जिस जगह है वहीं आफताब है।*

यह हुसैनी काफले की सभ्यता थी। उस से उलट वह सभ्यता थी जो यजीदी (अरब का खलीफा या बादशाह जिसने इमाम हुसैन के विरुद्ध 10 से 40 हजार सेना भेजी थी) सेना पेश कर रही थी। मगर उसे सभ्यता क्यों कहिए ? उनके तौर-तरीके उन सुसंस्कृत अदब-आदाब के उलट बल्कि उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। तो उसे नकारात्मक सभ्यता क्यों न कहा जाए ? सही है कि वे भी मुसलमान ही थे मगर इससे क्या अंतर पड़ता है ? एक ही धर्म और एक ही जीवन दृष्टि के दायरे में रहते हुए यह संभव है कि एक व्यक्ति उत्कृष्ट मानवीय गुणों से संपन्न हो और दूसरा आतंकवादी बन जाए।

तो करबला में जो युद्ध हुआ उसे एक स्तर पर संस्कृति और संस्कृति के नकार के टकराव के तौर पर भी समझा जा सकता है और अनीस के मर्सियों को इस टकराव के सर्वाधिक प्रभावशाली अभिव्यक्ति के तौर पर। ■

उर्दू से अनुवाद: अनवार रिजवी

साभार: शबखून  
(अप्रैल, 2004)

1. झगड़ा, 2. मुरतजा की बेटी, 3. जंगल, 4. घुटना, 5. सौ बार, 6. गुस्सा, 7. खुदा का शेर, 8. परदेश, 9. फात्मा का बेटा, 10. नदी (फरहात), 11. किशती, 12. मशकीजा, 13. मेहरबानी कामसुद, 14. ढाल के नीचे, 15. छोटी, 16. पद का लालच, 17. तरीका, 18. छोटी आयुवाओं, 19. बराबर, 20. आदमी, 21. इमाम हुसैन की पत्नी।

## इस रँग अंधेरी में...

### ■ अनवार रिज़वी

गुजरात के दंगों की सबसे खतरनाक बात यह रही कि इसके अंतर्गत उन सभी चिन्हों का, जो हमारी संश्लिष्ट और साझी धरोहर की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं, योजनाबद्ध तरीके से ध्वंस किया गया। मुंबई के स्वयं सेवी संगठन 'कम्युनल कॉम्बैट' के अनुसार गोधरा कांड के 72 घंटों के अंदर गुजरात के विभिन्न स्थानों पर 230 मकबरों और मस्जिदों को नेस्तनाबूद कर दिया गया। अहमदाबाद में मलिक आसिन (असास, इम्दादुल मुल्क) की पत्थरों की बनीं पुरातात्विक महत्त्व की मस्जिद को, जिसे कि मोहम्मद बेगदा (1458-1511) के समय बनाया गया था, "भारतीय इतिहास कांग्रेस के अनुसार, इस सुरक्षित इमारत को बुलडोजरों का इस्तेमाल करके कुछ ही घंटों के बाद बराबर कर दिया गया था।" ध्वस्त किए गए स्मारकों में उर्दू कविता के जनक वली दकनी या वली गुजराती तथा गायक फैय्याज अमहद खां (वडोदरा में) की मजारें भी शामिल थीं। वली की मजार को दंगों के शुरू होने के दूसरे दिन 28 फरवरी को ध्वस्त कर दिया गया था। यह मजार अहमदाबाद पुलिस मुख्यालय के ठीक बाहर थी। गजल ने किस तरह उर्दू के अलावा अन्य भारतीय कवियों को आकर्षित किया है, इसका प्रमाण, इस विधा में विभिन्न भाषाओं में लिखी गई रचनाएं हैं। विशेषकर गुजराती और हिंदी में तो गजल के प्रति जबरदस्त आकर्षण है। सत्य यह है कि लेखक और कवि अपने मजारों और स्मारकों के बूते जीवित नहीं रहते। उनकी रचनाएं उनका सबसे बड़ा स्मारक होती हैं। पर हां, इस तरह के विध्वंस उस समाज की संवेदनहीनता, कला और संस्कृति विरोधी बर्बर मानसिकता का जरूर प्रमाण बन जाते हैं। उर्दू ही नहीं बल्कि प्रकारांतर से सारी भारतीय कविता पर वली के प्रभाव को देखा जा सकता है। मीर और गालिब के परवर्ती इस महान कवि पर

एक परिचयात्मक टिप्पणी और उनकी कुछ रचनाएं प्रस्तुत हैं।

— संपादक

**आ**धुनिक उर्दू शायरी के जनक वली दकनी का नाम वली मोहम्मद और तखल्लुस वली था। वली का जन्म औरंगाबाद, दकन में 1665 या 67 में हुआ था। उनकी अब्बल तालीमो तरबियत औरंगाबाद में हुई। 20 साल की उम्र में वह तालीम पूरी करने के लिए गुजरात आए और सूत के एक मदरसे में पढ़े। गुजरात उनको बहुत पसंद था और उनकी उम्र का एक बड़ा हिस्सा वहीं गुजरा था। इसीलिए कई किताबों में उन्हें वली गुजराती भी कहा गया है।

दकन के इलाके में वली के वक्त तक उर्दू शायरी की रियायत काफी पुरानी हो चुकी थी और बड़े-बड़े शायरों को जन्म दे चुकी थी। उनसे पहले कुली कुतुब शाह, नुसरती और वजही जैसे शायर हो चुके थे। दकन के शायरों और उनकी शायरी से उत्तर के लोग बिल्कुल नावाकफ थे। दिल्ली में उर्दू शायरी का कोई वजूद नहीं था। यहां के लोग, मुसलमान और हिंदू दोनों ही, फारसी शायरी में अपनी लियाकत दिखा रहे थे। उर्दू (जिसका नाम अभी हिंदी या रेखा था) शायरी के काबिल नहीं समझी जाती थी।

सन् 1700 में वली अचानक अपने एक दोस्त के साथ लगकर दिल्ली आ पहुंचे। दिल्ली वालों ने जब वली की शायरी सुनी तो उनको बहुत पसंद आई। दिल्ली 17वीं सदी में दुनिया के सबसे खूबसूरत शहरों में शुमार होती थी। वली उस वक्त तो वापिस चले गए मगर फिर पलटकर दिल्ली आए और इस बार अपना पूरा कलाम भी साथ लाए। कहा गया है कि इस बार दिल्ली में वली की धूम मच गई और बच्चे-बच्चे की ज़बान पर उनका कलाम आ गया।

1707 में वली का इंतिकाल हो गया। वह उस समय अहमदाबाद में रहते थे। वहीं उनको दफन किया गया।

कहा जाता है कि अगर मीर तक़ी मीर (मृत्यु 1807) न होते तो गालिब (मृत्यु

1869) न होते, क्योंकि मीर ने ही शायरी की वह ज़बान बनाई थी जिसमें गालिब ने शायरी की। इसी तरह हम यह भी कह सकते हैं कि अगर वली न होते तो मीर भी न होते क्योंकि मीर ने जिस ज़बान को अपनाया वह वली की बनाई हुई थी या कम से कम उस ज़बान में वली ने बड़ी शायरी करके दिखाई। इसी से दिल्ली के मीर, सौदा और दूसरे शायरों को उस ज़बान को शायरी में अपनाने का ख्याल आया। रेखा का मतलब ही टूटा-फूटा था जिसमें ब्रज और खड़ी बोली में फारसी और अरबी हिली-मिली थी। इसमें शायरी करना पढ़े-लिखे शरीफ घराने के लोग अच्छ नहीं समझते थे। दूसरी तरफ दकन में कुतुब शाही और आदिल शाही बादशाहों के दरबारों के शायर 15वीं सदी से इसमें लंबी मस्नवियां (पद्य कथा) क़सीदे और गज़लें कर रहे थे।

17वीं सदी के उतरार्द्ध में औरंगज़ेब आलमगीर ने औरंगाबाद शहर आबाद किया। यह पुराने दौलताबाद या देवगिरी से, जहां दो सौ वर्ष पहले मुहम्मद तुगलक ने दिल्ली वालों का शहर आबाद किया था, कुछ ही फासले पर था। बाद में मुहम्मद तुगलक फिर दिल्ली वापस आ गया लेकिन उसके साथ गए हजारों दिल्ली वाले दौलताबाद में ही छूट गए।

उर्दू के पितामह मौलवी अब्दुल हक एक जगह लिखते हैं: "औरंगज़ेब आलमगीर की एक उमर दकन में बसर हुई। उसका मुसतकर औरंगाबाद... और कई लाख फौज जो उसके साथ वहीं रह मुक़ीम थी। यह शुमाली हिंद का लश्कर अपने साथ अपनी ज़बान भी लाया था। उस दौर में औरंगाबाद की तकरीबन पूरी आबादी शुमाली हिंद की आबादी थी और सारा रंग-ढंग दिल्ली का नज़र आता था।"

दो शब्द वली की शायरी और भाषा के बारे में जरूरी हैं। वली ने फारसी के तरीके से अपनी शायरी को दीवन की शकल में तरतीब दी। यानी तमाम गज़लें उनके वर्णक्रम के हिसाब से रखीं। वली के दीवान में 442 शेर हैं और दो बड़ी मस्नवियां सूत शहर की तारीफ में हैं।

वली के कलाम की भाषा में तीन रंग हैं। पहला रंग पूरा दकनी भाषा का है जिसमें तीन सौ साल से पहले से शायरी हो रही थी और कुली कुतुब शाह, नुसरती और वजही जैसे बड़े शायर हो चुके थे। वह रंग दिल्ली में न कभी पहुंचा और पहुंचा तो अपनाया नहीं गया। दूसरा रंग जिसमें दकनी के शब्द कम हैं फिर

भी उत्तरी भारत की भाषा से अलग है। तीसरा रंग वह है जो दकन में शायद औरंगाबाद की भाषा का है जो दिल्ली की भाषा जैसा है।

ये तीनों रंग वली के कलाम में बराबर के हैं और शायद यही तीसरा रंग वह था जिस पर दिल्ली के लोग लहालोट हुए। यही रंग मीर तकी मीर, मिर्जा रफी सौदा की भाषा में पाया जाता है। इस रंग में से सूं, में मनीं, नहीं नीं, और को कूं इत्यादि हो जाता है।

दरअसल यही भाषा 17वीं सदी की दिल्ली और औरंगाबाद में साझी थी। अंतर यह था कि दिल्ली और उत्तरी भारत में फारसी ने ऐसा जादू डाला हुआ था और औरंगाबाद अपनी तीन सौ साल की परंपरा के पसमंजर में शायरी के योग्य जानता था।

उनकी काव्य प्रतिभा का नमूना देखिए :

राहे मजमूने ताजा बंद नहीं

ता क्रयामत खुला है बाबे सुखन

यानी मौलिकता का भाषा से लेना-देना नहीं है। यह दरवाजा सबके लिए हमेशा खुला हुआ है। असली चीज सुखन यानी शायरी है।

जलवा पैरा हो शाहिदे मानी

ता जबां सूं उठे नक्राबे सुखन

वली बताते हैं कि शायरी में पहला महत्त्व मानी (अर्थ) का है। लफ्ज (शब्द) का नहीं। जब मानी अपने दर्शन देना चाहता है यानी जलवा पैरा होना चाहता है तो जवान से शेर निकलता है। गोया जवान माशूक (मानी) के मुख से नकाब उठती है।

है सुखन जग मनीं अदीमुल मिस्ल

जुज सुखन नई दूजा जवाबे सुखन।

अदीमुल मिस्ल का अर्थ है लाजवाब यानी शायरी लाजवाब चीज है। इसका जवाब है तो बस शायरी वरना संसार की बाकी चीजें इससे कम हैं।

लफ्जे रंगीं है मतलए रंगीं

नूरे मानी है आफताबे सुखन।

वली कहते हैं कि शब्द उषा की छटा है और मानी शायरी का सूरज।

वली की रेखा की शायरी में आनबान फारसी जैसी थी। उनका शायरना आत्मविश्वास कमाल का था।

वली ने भाषा के महत्त्व को कम किया है। इस हिसाब से फारसी और रेखा में खास अंतर नहीं रह जाता क्योंकि उसका महत्त्व मानी का है और मानी और मौलिकता का दरवाजा सब के लिए खुला हुआ है। वली के इसी विश्वास की कोख में फुंगा, हातिम, शाकिर

नाजी, मिर्जा रफी सौदा और मीर तकी मीर सामने आए। फिर गालिब, जौक, मोमिन, दाग वगैरा हुए और रौशन रागों का यह सिलसिला आज फैज अहमद फैज, फिराक तथा अखतरुल ईमान तक चला आया है।

इस जाबिये से देखें तो वली उर्दू के पहले अजीम शायर हैं। उन्होंने आला दर्जे की शायरी की और भाषा की बुनियाद मजबूत बनाई तथा साहित्य को फारसी की गुलामी से मुक्ति दिलाई। ■

(जून, 2002)

## वली दकनी : कुछ गज़लें, कुछ शेर

वली के अशआर का एक सरसरी इतिखाब यहां प्रस्तुत है। यह हरगिज़ उनका नुमाइंदा इतिखाब नहीं है न ही इसमें उनके तमाम बेहतरीन अशआर हैं। नमूने के तौर पर ही इसको देखा जाना चाहिए। - लेखक

### एक

मत गुस्से के शोले सूं जलते को जलाती जा  
टुक मेहर के पानी सूं यह आग बुझाती जा।

तुझ चाल की कीमत सूं नीं दिल है मेरा वाकिफ़  
ऐ नाज़ भरी चंचल टुक भाव बताती जा।

इस रैन अंधेरी में मत भूल पडूं तम सूं  
टुक पांव के बिछवों की आवाज़ सुनाती जा।

मुझ दिल के कबूतर कूं पकड़ा है तेरी लट ने  
यह काम धरम का है टुक उसको छुड़ाती जा।

तुझ मुख की परिस्तिश में गई उमर मेरी सारी  
ऐ बुत की पूजनहारी इस बुत की पुजाती जा।

तुझ इश्क में जल जल कर जोगी की लिया सूरत  
यकबार अरे मोहन छाती सूं लगाती जा।

तुझ घर की तरफ सुंदर आता है वली दायम  
मुस्ताक है दरसन की टुक दरस दिखाती जा।

### दो

देखना हर सुबह तुझ रुखसार का  
है मुताला मतलए अनवार का।

याद करना हर घड़ी तुझ यार का  
है वज़ीफ़ा मुझ दिले बीमार का।

आरजूए चश्मे कौसर नहीं  
तश्ना लब हूं शरबते दीदार का।

आक्रबत होबेगा क्या मालूम नीं  
दिल हुआ है मुबतिला दीदार का।

बुलबुलो परवाना करना दिल के तई  
काम था तुझ चेहरए गुलनार का।

क्या कहे तारीफ़ दिल है बेनज़ीर  
हर्फ़ हर्फ़ उस मख़जने असरार का।

गर हुआ है तालिबे आज्ञादगी  
बंद मत हो सुब्बा ओ जुन्नार का।

मसनदे गुल मंजिले शबनम हुई  
देख रुतबा दीदए बेदार का।

ऐ वली होना सिरीजन पर निसार  
मुद्दा है चश्मे गौहर बार का।

### तीन

राहे मजमूने ताजा बंद नहीं  
ता क्रयामत खुला है बाबे सुखन।  
जलवा पैरा हो शाहिदे मानी  
ता जबां सूं उठे नक्राबे सुखन।  
है सुखन जग मनीं अदीमुल मिस्ल  
जुज सुखन नई दूजा जवाबे सुखन।

लफ्जे रंगीं है मतलए रंगीं  
नूरे मानी है आफताबे सुखन

### चार

मुफलिसी सब बहार खोती है  
मर्द का एतबार खोती है।

बाइसे रुसवाइये आलम वली  
मुफलिसी है मुफलिसी है मुफलिसी।

वली उस गौहरे काने हया का क्या कहूं खूबी  
मेरे घर इस तरह आता है ज्यूं सीने में राज आवे।

# धर्म ने दासता के विरुद्ध आवाज नहीं उठाई

## ■ ओमप्रकाश वाल्मीकि

धर्म और सत्ता के गठजोड़ ने जो घृणा फैलाई है वह सामाजिक समरसता और भाईचारे की भावना को तहस-नहस कर रही है। धर्म उन सभी तत्त्वों की मदद कर रहा है जो इस कार्य का नेतृत्व कर रहे हैं।

धर्म, राजनीति, सत्ता, अधिनायकवाद, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद आदि ये शब्द अलग-अलग होते हुए भी एक ही हैं, इनकी अभिव्यंजना एक है। धर्म की प्रासंगिकता का अर्थ भी इन शब्दों में ही सिमटता दिखाई दे रहा है। इन शब्दों के जादुई खेल से जो गठजोड़ बनता है, उसे अस्त्र की तरह इस्तेमाल करके वर्चस्ववाद के खिलाफ उठने वाली हर एक आवाज को दबाया जाता है।

हजारों वर्ष पूर्व बनाए गए विधानों को आरोपित करने में धर्म की भूमिका ज्यादा प्रभावी और सक्रिय रहती है। जोर रइसी बात पर रहता है कि धर्म वर्तमान नहीं भूतकाल की श्रेष्ठ चीज है। एक ऐसे समाज के निर्माण में धर्म का उपयोग होता है, जहां अधिसंख्य लोग सिर्फ आश्रित होते हैं। यही कारण है धर्म कभी भी आश्रयदाता के विरुद्ध खड़ा नहीं हुआ। न कभी दासता के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई। ऐसे समय में जब जनमानस अपनी मुक्ति के लिए संघर्षरत होता है तो उस वक्त धर्म बचाव की रणनीति अपनाता है।

आज तुलसी के जननायक को मोहरा बनाकर सत्ता की लड़ाई लड़ी जा रही है। वही तुलसीदास मुगल शासन के दौरान कहीं भी किसी भी रूप में अपना विरोध दर्ज नहीं करते। वही क्यों अन्य कवियों की भी स्थिति वही है। उस दौर के कवि राष्ट्रीय चेतना के नहीं धार्मिक चेतना के कवि हैं। ऐसा क्यों होता है? यदि धर्म मनुष्य के लिए चिंतित है तो मानव विरोधी मूल्यों, स्थापनाओं, मान्यताओं

को ही सर्वोपरि क्यों मानता है? सत्ताधारियों के दमनचक्र पर चुप्पी क्यों साध लेता है?

### घृणा का पर्याय

धर्म और सत्ता के गठजोड़ ने जो घृणा फैलाई है वह सामाजिक समरसता और भाईचारे की भावना को तहस-नहस कर रही है। धर्म उन सभी तत्त्वों की मदद कर रहा है जो इस कार्य का नेतृत्व कर रहे हैं। धर्म यदि निजी मामला होता या जैसा कहा जाता है मानवतावादी होता, तो यह सांप्रदायिकता, नस्लवाद, जातिवाद, वर्णवाद, सामंतवाद किसकी देन है? राजा को ईश्वर घोषित करने वाला धर्म ही है। धर्म कभी भी निजी नहीं रहा। यह एक भ्रम, सिर्फ, बाह्य दिखावा है।

कहा जाता है धर्म ने मानव विकास में मदद की है। यहां यह सवाल भी उतना ही प्रासंगिक है कि यदि धर्म विकास का रास्ता दिखाता है तो फिर आज धर्म घृणा का पर्याय बनकर क्यों रह गया है? क्या धर्म भी अवसरवादी राजनीतिज्ञों की तरह पाला बदलता रहता है? यह सच है कि धर्म यदि पाला न भी बदले तो भी वर्चस्व की सत्ता का पक्षधर जरूर होता है।

### एक डरावनी संस्था

एक दलित के लिए धर्म एक डरावनी, भयभीत कर देने वाली संस्था है, जो जरूरत पड़ने पर एक दलित आदिवासी का इस्तेमाल तो करता है लेकिन उसके अस्तित्व, उसकी पहचान के प्रति उतना ही असंवेदनशील है जो आपको एक मनुष्य मानने के लिए भी तैयार नहीं है। हजारों साल से धर्म ने दलितों को जानवर से भी नीचे का दर्जा दिया है। उनके लिए वे तमाम रास्ते बंद करके रखे गए जहां से होकर विकास के रास्ते पहुंचा जा सकता है।

इज्जर-दुलीना (हरियाणा) का दलित-हत्याकांड धर्म की ही देन है। भीड़ द्वारा पुलिस बल की मौजूदगी में पांच दलितों की हत्या कर दी गई। वह भी अपनी धार्मिक आस्था के लिए। तथाकथित हिंदू नेताओं के वक्तव्य हत्याकांड को जायज ठहराने की मुहिम चला रहे थे। इसलिए जब धर्म का सवाल उठता है तो दलितों के लिए आतंकित कर देने वाला ही होता है। धर्म एक ऐसी संस्था बन गया है जो कानून-व्यवस्था को धता बताकर हत्याएं कराता है, लोगों को उकसाता है। उनके हृदयों में घृणा-द्वेष पैदा करता है। एक साधारण व्यक्ति को ठगने के तमाम हथकंडे अपनता है, जीवन को सुखमय उन्नतिशील बनाने की जगह उन्हें दोगले दर्जे का नागरिक बनाता है। धर्म ने ही शोषण और दमन के द्वारा दलितों का जीवन नरक से भी बदतर बनाया है।

हिंदू से त्रस्त्र, प्रताड़ित दलित किसी अन्य धर्म की शरण में जाने की कोशिश करता है, तो देश भर में बवेला मच जाता है। तरह-तरह के आरोप चस्पाने होते हैं। उस वक्त वे तमाम लोग हिंदू उत्पीड़न को भूल जाते हैं। यह मान लेने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि हिंदू को परपीड़ा में आनंद आता है। हिंदू आस्था और हिंसा का गहरा संबंध है। सभी देवता युद्धप्रिय हैं। युद्धोन्माद पैदा करना इनकी रणनीति रही है। आज भी सत्ता में बैठे राजनेता इसी रणनीति का इस्तेमाल चुनाव जीतने के लिए कर रहे हैं—कारगिल युद्ध और गुजरात-गोधरा कांड इसके उदाहरण हैं।

धर्म की शुरुआत जब हुई तब मनुष्य प्रकृति के सामने असहाय खड़ा था—भूखा, कामातुर और बर्बर—उसकी अपनी सीमाएं थीं। लेकिन आज विज्ञान ने जब मानव विकास के नए-नए आयाम खोज लिए हैं, तब धर्म की प्रासंगिकता को खतरा पैदा हो गया है। विश्व में शायद ही कोई धर्म होगा जिसमें अप्रासंगिक और निरर्थक हिंसायुक्त न हों, साधारण जनों को डरा-धमकाकर, ईश्वरीय आदेश का हौवा खड़ा करके उन्हें कमजोर बनाया जाता है। नैतिकता और मर्यादा के खोखले, दोहरे मानदंडों की आड़ में उनका खुलेआम शोषण होता है। यही वजह है धार्मिक संस्थाएं किसी भी हिंसात्मक कार्रवाई के लिए सबसे कमजोर आदमी का इस्तेमाल करती हैं। उस कमजोर आदमी के



समग्र विकास की चिंता करने के बजाय उसका इस्तेमाल करती हैं। हिंसात्मक कार्रवाई में वही सबसे आगे होता है। जीत के बाद उसे फिर पीछे धकेल दिया जाता है।

धर्म को समय सापेक्ष खोजपरक और मानवीय विकास की प्रक्रिया में सहायक बनाने की जगह उस कूप मंडूकता के दायरे में कैद रखा जाता है। धर्म की दार्शनिकता में जो तर्क और बहस की गुंजाइश रहती है, उसे भी नष्ट कर दिया जाता है। बल्कि तर्क और बहस की तमाम संभावनाएं ही खत्म हो जाती हैं। 'चारवाक' को इसी साजिश के तहत खत्म किया गया। वृहस्पति ने इस बहस को आगे बढ़ाने का काम किया था। उनका कहना था, "वृथा कार्य की ध्वजा फहराने वालों का अर्थात् नकली धर्मात्माओं का विश्वास न करो।"

धर्म का जिस तरह राजनीतिकरण और व्यवसायीकरण हुआ है उसने धर्म की उन सभी भूमिकाओं को संदेह के घेरे में खड़ा कर दिया है जो नैतिकता और कल्याण का ढोंग रचती हैं। यही वजह है कि धार्मिक कट्टरता और धर्म आस्था पर टिका है। जहां आस्था होती है, वहां चेतना लुप्त हो जाती है। आज जिस हिंदू और हिंदुत्व के नगाड़े पीटे जा रहे हैं उसकी उम्र कितनी है? क्या तुलसीदास से पहले उसका कोई अस्तित्व था? यदि था तो उसकी अवधारणा क्या थी? उसका दर्शन क्या था? उसकी सामाजिक जरूरतें क्या थीं? क्या हिंदू होने का अर्थ सिर्फ कुछ उच्च कही जाने वाली जातियों तक ही सीमित है?

### धर्म और राजनीति का गठजोड़

धर्म और राजनीति आज एक दूसरे के पर्याय बन चुके हैं। लेकिन धर्म में जब राजनीति घुसती है तो सामान्य जन अपनी आस्था खोने लगता है और धर्म अपनी स्वायत्तता और गरिमा खोकर राजनीति का गुलाम बन जाता है। आज यह तथ्य साफ-साफ दिखाई पड़ रहा है। गुजरात इसका जीता-जागता उदाहरण है। भले ही राजनीतिज्ञ सत्ता पाकर कहें कि उन्हें बहुमत का समर्थन हासिल है, लेकिन यह बहुमत उन्हें धूल-धुसरित करने में देर नहीं लगाएगा। 'मोदी' नाम के राजनीतिज्ञ का भी वही हथ्र होगा जो उत्तर प्रदेश में बाबरी विध्वंस के नायक 'सिंह' का हुआ। उत्तर प्रदेश की राजनीति में वह गुमनाम व्यक्ति की तरह हो

चुके हैं। क्योंकि पतोन्मुख राजनीति ही धर्म की वैसाखी लेकर चलती है और आम जनता से धर्मोन्माद, युद्धोन्माद, सांप्रदायिक वैमनस्य फैला कर सत्ता हासिल करती है।

विपरीत प्रवाह वाला राजनीतिक समूह भी इस धर्म षड्यंत्र से बच नहीं पाता है। उत्तर प्रदेश की वर्तमान राजनीति और सत्ता का व्यामोह इसका सशक्त उदाहरण है। तथाकथित हिंदू व्यवस्था विरोधी राजनेत्री उत्तर प्रदेश के सत्ता शिखर पर विराजती है, उन्हीं के समर्थन से जिनका विरोध उन्हें सत्ता तक ले जाता है। सिर्फ इतना ही नहीं गुजरात में उन्हीं का समर्थन करती है जिनका हमेशा विरोध करती रही हैं। यह विरोधाभास नहीं सत्ता केंद्रित राजनीति है, जहां सब जायज है। और यह सब होता है धर्म के साए में।

सांप्रदायिकता का सीधा संबंध धर्म से होता है। हिंदू धर्म से होता है। हिंदू धर्म में सांप्रदायिकता की जड़ें वर्ण-व्यवस्था में हैं। वर्ण से ही सांप्रदायिकता को विस्तार मिलता है। इसके साथ ही जब धर्म में राजनीति और राजनीति में धर्म घुस चुका हो तब सत्ता में वर्चस्व रखने वालों की आर्थिक, राजनीतिक महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए सांप्रदायिकता एक उपयोगी अस्त्र बन जाती है।

आज लोकतंत्र की आड़ में फासिज्म अपने दांव खेल रहा है। परिणामतः एक ऐसे समाज का निर्माण हो रहा है, जिसमें घृणा, द्वेष, पारस्परिक कलह का बोलबाला रहेगा। धार्मिक संप्रदायवाद जातिवाद, जिसके अभिन्न अंग हैं। हिंसा का नग्न रूप धार्मिक आड़ में छिपाने के भले ही कितने भी तर्क दिए जाएं, लेकिन वह छुप नहीं रहा है।

इसी धर्म की प्रांसगिकता आज संदिग्ध है क्योंकि राजनीतिज्ञों ने इसे खत्म कर दिया है। पुरोहितवाद और शासक वर्ग ने अपने नाखून तेज कर लिए हैं। ऐसे समय में धर्म की दार्शनिकता मात्र एक मजाक बनकर रह गई है।

कभी बुद्ध ने ऐसे ही मनुष्य विरोधी दमनचक्र का विरोध किया था। लेकिन आज बुद्ध का मध्य मार्ग भी इस वातावरण में असमर्थ दिखाई पड़ रहा है। इससे तो अच्छा है धर्म को जीवन से बाहर कर दिया जाए तो मनुष्य सुख और शांति से रह पाएगा। ■

(मार्च, 2003)

# गुजरात और बुद्धिजीवियों की भूमिका का सवाल: संदर्भ निर्मल वर्मा

एक संवाददाता

पिछले महीने के मध्य में राष्ट्रीय सहाराने एक परिचर्चा 'गुजरात की त्रासदी और लेखकों की सामाजिक सक्रियता का सवाल' छापी। इसमें पांच लेखकों के विचारों को शामिल किया गया। यद्यपि परिचर्चा के सवालों को कुछ इस तरह से संजोया गया था कि भाग लेने वाले गुजरात की त्रासदी की भयावहता पर सीधे-सीधे बोलने की जगह जितना चाहे जलेबी बनाएं, और यह जलेबी बनाना किनको सुहाता है यह बतलाने की जरूरत नहीं है, पर फिलहाल हम यहां पाठकों का ध्यान इस परिचर्चा में भाग लेने वाले निर्मल वर्मा, जिनका वक्तव्य सबसे पहले छपा है, की बात की ओर ले जाना चाहेंगे। मानवता, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, कंसंट्रेशन कैंप, सोवियत रूस, यूहदियों का कत्लेआम, अस्टोविट्ज, बोस्निया आदि दुनिया जहान के लिए चिंतित रहने वाले निर्मल वर्मा किस तरह से भारतीय त्रासदियों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं यह देखना इसलिए जरूरी हो गया है कि इधर उन्हें हिंदी के सबसे बड़े और प्रतिनिधि लेखक के रूप में स्थापित करने की मुहिम चल रही है। वैसे, कम से कम आजादी के बाद की हिंदी आलोचना, विशेषकर तथाकथित प्रगतिशील आलोचना का यह दुर्भाग्य रहा है कि वह अपने मूल्यांकन में साहित्यिक सरोकारों और वस्तुनिष्ठता के लिए कम और इतर कारणों के लिए ज्यादा जानी जाती रही

है, जिसके नतीजे अब सामने आ रहे हैं। पर फिलहाल मूल बात पर लौटते हैं:

निर्मल वर्मा ने अपने इस वक्तव्य में तीन बातें कहीं हैं:

1. “जब हमारे देश में कहीं भी कोई भयानक घटना घटती है, जैसा कि इन दिनों गुजरात में हुआ है, तो जाहिर है कि केवल लेखक या विचारक ही नहीं बल्कि हर संवेदनशील व्यक्ति और यदि वह भारतीय समाज और संस्कृति से प्रेम करता हो तो विशेष रूप से ऐसा व्यक्ति भीतर ही भीतर गहरे क्षोभ, अपराध भावना और एक तरह से असहाय विषाद का अनुभव करता है। यहां प्रश्न तात्कालिक निंदा या आलोचना करने का नहीं है। वह सबसे आसान चीज होती है, क्योंकि उससे हम दूसरों के सामने अच्छे बने जाते हैं और अपनी अंतरात्मा को बचा भी लेते हैं। लेकिन इससे कुछ बनना-बिगड़ना नहीं।”

2. “मैं समझता हूँ कि ऐसे मौकों पर कम से कम एक लेखक का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उस समूची ऐतिहासिक शृंखला का विश्लेषण करने का साहस जुटा पाए जिसके कारण गुजरात जैसी घटना एक तार्किक परिणति के रूप में हमारे सामने आती हैं।”

3. “...राजनीति में हमारे बुद्धिजीवी तब तक किसी प्रकार का सार्थक योगदान नहीं कर पाएंगे जब तक कि वे ‘बुद्धि को’ किसी न किसी राजनीतिक दल या विचारधारा की रखैल बनाते रहेंगे। बुद्धि की गरिमा की उसकी स्वायत्तता में निहित होती है। यह बात हमारे बुद्धिजीवियों को अधिक समझ में नहीं आती, इसलिए वे देर-सबेर उसी राजनीतिक गंदगी में धंसने लगते हैं जिसके लिए वे राजनीतिज्ञों को दोष देते हैं, प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं।”

यद्यपि वक्तव्य बातचीत पर आधारित बताया गया है, पर यह जिस हद तक चुस्त-दुरुस्त है वह बतलाता है कि इसे लेखक ने सावधानी से स्वयं संपादित किया है। इसलिए जो कहा गया है वह बहुत सोचा-विचारा हुआ है।

अब इस वक्तव्य के निहितार्थ देखिए।

पहला हिस्सा लें। आजादी के बाद के सबसे भयावह दंगों, जिसमें सरकारी

आंकड़ों, के हिसाब से ही आठ सौ लोग मारे गए हों और गैर सरकारी आंकड़ों के अनुसार यह संख्या दो से तीन हजार के आसपास हो सकती है तथा जिसमें एक राज्य के लगभग पूरे सत्ता-तंत्र ने दंगाइयों का साथ दिया हो, उसके बारे में निर्मल कहते हैं कि “यहां प्रश्न तात्कालिक निंदा या आलोचना करने का नहीं है। वह सबसे आसानी चीज होती है, क्योंकि उससे हम दूसरों के सामने अच्छे बन जाते हैं और अपनी अंतरात्मा को बचा भी लेते हैं। लेकिन इससे कुछ बनना-बिगड़ना नहीं।” हमारा कहना है कि कुछ देर के लिए ही यह आसान रास्ता अपना कर देखें और एक बार साफ-साफ कहें कि यह हत्याकांड गलत था और जो इसके जिम्मेदार हैं उन्हें सजा मिलनी चाहिए। पर नहीं, निर्मल वर्मा में ऐसी हिम्मत ही नहीं है। यह बचना अचानक नहीं है। 1968 से आज तक वह हंगरी का रोना रो रहे हैं—क्यों उन्होंने कभी कम्युनिस्टों से पहले और कम्युनिस्टों के बाद के रूस और पूर्वी योरोप की बात करने की कोशिश की है—तब क्या वह अपनी अंतरात्मा को नहीं बचा रहे थे। असल में जिन्होंने उनके प्रगति के ग्राफ को देखा है वे जानते हैं कि इस शाब्दिक चतुराई के पीछे साम्यवाद, समाजवाद और संपूर्ण क्रांति के बाद इधर संघ परिवार के साथ चल रहा उनका प्रेम प्रसंग है।

“ऐतिहासिक शृंखला का विश्लेषण करने” की बात और भी भयानक है। इसका सीधा-सा अर्थ यह है कि आज नस्ती सफाई के लिए, हिंदू धर्म के नाम पर, राजसत्ता के सहयोग से जो कत्लेआम किया जा रहा है उसके पीछे जो ऐतिहासिक कारण हैं वे वही हैं जो कि संघ परिवार बार-बार दुहराता है कि अल्पसंख्यकों का तुष्टिकरण किया गया है। इसीलिए निर्मल वर्मा इन दंगों को “गुजरात जैसी घटना एक तार्किक परिणति के रूप में हमारे सामने आती है” बतला कर उसको परोक्ष रूप में ही क्यों न हो, पर सही ठहराने की कोशिश करते हैं।

उनके वक्तव्य का तीसरा उद्धृत अंश उनके बुद्धिजीवीय पाखंड का तीसरा आयाम है। वह कहते हैं कि “राजनीति में हमारे बुद्धिजीवी तब तक किसी प्रकार का

सार्थक योगदान नहीं कर पाएंगे जब तक कि वे ‘बुद्धि को’ किसी न किसी राजनीतिक दल या विचारधारा की रखैल बनाते रहेंगे। बुद्धि की गरिमा उसकी स्वायत्तता में निहित होती है।”

हम निर्मल वर्मा को चुनौती देते हैं कि वह नरेंद्र मोदी की सरकार की अगर भर्त्सना नहीं कर सकते, तो कम से कम उन असहाय और निर्दोषों के मारे जाने की तो निंदा कर ही सकते हैं, जिन की गोधरा कांड में कोई भूमिका नहीं थी। पर नहीं, निर्मल वर्मा में इतनी भी नैतिक ईमानदारी और साहस नहीं रहा है। क्या आप ने निर्मल वर्मा को कहीं इस कांड के विरोध में दो शब्द कहे हुए सुना? किसी विरोध प्रदर्शन में भाग लेते देखा? बल्कि सुना तो यह जाता है कि जब कुछ लोगों ने उनको एक विरोध प्रदर्शन में भाग लेने के आमंत्रित किया तो उनका बहाना था कि वह हिंदुस्तान से बाहर जा रहे हैं।

पाठकों को याद होगा कि *समयांतर* के मार्च अंक में इस ओर इशारा किया गया था कि निर्मल वर्मा को इधर का एक के बाद एक पुरस्कारों से नवाजे जाने और पदों पर बैठाए जाने के पीछे जो कारण हैं उनमें सबसे बड़ा कारण निर्मल वर्मा का सरकार की नीतियों से पूरी तरह एकाकार हो जाना ही है। वह उनके विरुद्ध एक शब्द नहीं बोलना चाहते। स्वाधीनता, स्वतंत्रता और संवेदनशीलता की प्रतिमूर्ति माने जाने वाले एक लेखक और आर.एस.एस. के एक खांटी स्वयंसेवक के बीच कहीं कोई अंतर होता है या नहीं?

सरकारी पद और सम्मानों का बोझ किस हद तक आंखों पर पट्टी बांध सकता है निर्मल वर्मा इसका उत्कृष्ट उदाहरण बन गए हैं। जो बात वह कम्युनिस्टों को गाली देने के लिए इस्तेमाल कर रहे हैं वह स्वयं उन पर किस हद तक लागू हो रही है उन्हें दिखाई ही नहीं दे रहा है। नंगे राजाओं को पता नहीं चलता कि कुछ उनके कितने कपड़े उतर गए हैं। सच के साथ दिक्कत यह है कि वह अपना रास्ता ढूंढकर सामने आने में देर नहीं लगाता। संदर्भ चाहे नरेंद्र मोदी का हो या निर्मल वर्मा का। ■

(मई, 2002)

# रामविलास शर्मा और हिंदी

## नवजागरण

### ■ बृज बिहारी पांडे

नवजागरण की अनालोचनात्मक अवधारणा को चुनौती मिलना संभवतः मुक्तिबोध से ही शुरू हो गया था, क्योंकि उस दौर में ही राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन की उपलब्धियों से मोहभंग होना शुरू हुआ। नवजागरण के विचारकों के सुंदर वचनों की तुलना में सामाजिक, राजनीतिक संस्थाएं घोर निराशाजनक व्यंग्य चित्रों में बदलनी शुरू हो गई थीं।

रात 30 मई को हिंदी के महानतम विद्वान में एक डॉ. रामविलास शर्मा का 88 वर्ष की उम्र में देहावस्नान हो गया। उन्होंने साहित्यालोचना, संस्कृति, समाजशास्त्र, भाषा शास्त्र से लेकर इतिहास आदि विभिन्न विषयों पर 50 से अधिक पुस्तकें लिखीं। वह अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव रहे और बंबई में कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर में रहकर उन्होंने पार्टी पत्रिका *लोकयुद्ध* के लिए लेख भी लिखे। हां, पिछले बीस वर्षों से भी ज्यादा अरसे से वह अतीत में जड़ों की तलाश में निमग्न थे। बीच-बीच में उन्होंने आज के समय में *लेनिन* जैसी पुस्तिकाएं भी लिखीं, मगर समकालीन यथार्थ से उपजे साहित्य और साहित्येतर प्रश्नों पर चली बहसों में उन्होंने बहुत हिस्सा नहीं लिया। ज्ञान के प्रति उनकी असीम अनुरक्ति और जीवन और जीवन-यापन में सादगी के चलते बहुतों ने उन्हें महापंडित और ऋषि परंपरा का विद्वान माना है।

रामविलास जी ने हिंदी-उर्दू प्रदेश में नवजागरण की शुरुआत 1857 के प्रथम महान स्वाधीनता युद्ध से मानी है। उन्हें अवश्य ही इसके लिए याद किया जाएगा कि उन्होंने रजनी पाम दत्त जैसों की धारणाओं का खंडन कर 'गदर' को अंग्रेजी राज को पलटने के लिए जनहित में हुई राज्य-क्रांति के बतौर प्रतिपादित किया था। उनके अनुसार किसान वर्ग से आए सेनानायकों ने राष्ट्रीय एकता को महत्त्व देते हुए यह युद्ध चलाया था और इसका स्वरूप असांप्रदायिक था। जहां-जहां इस विद्रोही सेना का प्रभुत्व

कायम हुआ, वहीं उन्होंने अंग्रेजों द्वारा जमींदारों और साहूकारों को दिए हुए अधिकारों को रद्द कर दिया था। हिंदी नवजागरण की शुरुआत 1857 से मानने के बाद उसके अगले युग के बतौर रामविलास जी ने भारतेंदु युग को, और उसके पुरोधा के बतौर खुद भारतेंदु को स्थापित किया है। गदर के बाद महारानी विक्टोरिया का प्रत्यक्ष शासन लागू होने और कंपनी अफसरों की मनमानी खत्म होने के बावजूद, कहा जाता है कि अंग्रेजों द्वारा ढाए गए कहर से वातावरण कुछ ऐसा बना था कि लेखक सिर तक नहीं हिला सकते थे। ऐसी स्थिति में गदर के बारे में वे खुलकर सकारात्मक कुछ भी नहीं कह पाए। रामविलास जी ने इसे जायज ठहराया है। और अगर कहीं किसी लेखक ने अंग्रेजों की तारीफ करते हुए गदर की निंदा भी की है तो भी रामविलास जी मानते हैं कि उसकी आलोचना नहीं की जा सकती। और राजभक्ति के बारे में उनका क्या विचार है? भारतेंदु के 'प्रिंस ऑफ वेल्स का स्वागत पत्र' जैसी रचनाओं के बारे में रामविलास कहते हैं कि 'वास्तव में ऐसा लगता है कि जनता में नवचेतना फैलाने के लिए ही राजभक्ति की आड़ ली गई थी।' संभवतः रामविलास जी के इस दृष्टिकोण का कारण यह है कि भारतेंदु युग में बाद में चीजें धीरे-धीरे बदली थीं। 1868 में, यानी गदर के दस साल बाद भारतेंदु ने लिखा 'कपड़ा बनाने वाले, सूत निकालने वाले, खेती करने वालों की यह दशा है कि लंगोटी लगाकर हाथ में तुंबा लेकर भीख मांगते हैं और जो निरुद्यम हैं उनको तो अब भी भ्रांति है', 'गदर के

इश्तहार' में बहादुरशाह जफर ने कहा था: 'भारत में विदेशी माल के आयात से जुलाहे, बढई, लुहार, चमार, आदि बेकार हो गए हैं, सब देशी कारीगर भिखारी बन गए हैं', शर्मा जी को ऐसा लगा जैसे भारतेंदु ने यह सब बहादुरशाह का इश्तहार पढ़कर लिखा हो। फिर भारतेंदु में भविष्य के स्वदेशी आंदोलन के बीज-चिन्ह भी दिखते हैं, क्योंकि उन्होंने कहा था कि 'आगे कोई विलायती कपड़ा पहनेंगे और स्वदेश में बना कपड़ा ही पहनेंगे।' उनकी कवि वचन सुधा का सिद्धांत वाक्य ही था 'स्वत्व निज भारत गहै। पत्रिका में किसी 'अ' ने यहां तक लिखा था कि 'जिस प्रकार अमेरिका उपनिवेशित होकर स्वाधीनता लाभ कर सकता है।'

फिर रामविलास जी की मान्यता यह है कि बांग्ला जनजागरण में, खासकर बंकिमचंद्र (*आनंदमठ*) में, जो अंग्रेजों के बजाय मुसलमानों को मुख्य शत्रु मानने की प्रवृत्ति दिखी थी, वैसा हिंदी नवजागरण में न था। चूंकि 1857 लगभग संपूर्ण रूप से हिंदी क्षेत्र में ही लड़ा गया था, उसमें हिंदू-मुस्लिम साथ-साथ लड़े थे, तो उस पृष्ठभूमि के चलते ऐसा प्रभाव स्वाभाविक ही था। उदाहरणार्थ उस युग के कवि प्रेमघन ने कहा है: *हिंदू मुस्लिम जैन पारसी ईसाई सब जात। सुखी होंहि हिय भरे प्रेमघन सकल भारती-भ्रात।* सिर्फ इतना ही नहीं, राधाचरण गोस्वामी द्वारा लिखित *बुढ़े मुंह मुहासे* शीर्षक प्रहसन में हिंदू मुसलमानों का जमींदार के विरुद्ध एकताबद्ध संघर्ष दिखाया गया है। इन तथ्यों से साबित किया गया है कि भारतेंदु युगीन लेखक बंकिमचंद्र की तरह भारत का मुख्य शत्रु मुसलमानों को नहीं बल्कि अंग्रेजों और अंग्रेजपरस्त जमींदारों को मानते थे।

अगर सब कुछ ऐसा ही था तो पता नहीं चीजें उलटीं कब। अंग्रेजों ने जब 1905 में बंगाल का विभाजन किया तो उसके खिलाफ वहां एक शक्तिशाली जन आंदोलन उभरा, जिसमें निस्संदेह मुस्लिम भी शामिल थे। और आज तो सांप्रदायिकता और सामंती अवशेषों के लिए अगर किसी अंचल पर सबसे पहले उंगली उठाई जाती है तो इसी हिंदी क्षेत्र पर। हिंदी क्षेत्र तो आज इन दोनों मामलों में बंगाल से बहुत पीछे दिखता है। बंगाल के नवजागरण के पुरोधाओं में राजभक्ति और सांप्रदायिकता के जो

नकारात्मक तत्व पाए जाते हैं, उनसे कत्तई इंकार नहीं किया जा सकता। मगर हिंदी क्षेत्र के नवजागरण के पुरोधों को इन दोषों से मुक्त करना कहां तक जायज है, यह एक सवाल जरूर है।

सवाल यह है कि जिस हिंदी प्रदेश में 1857 ने शत्रु-मित्र का सवाल इतना स्पष्ट कर दिया हो वहां नवजागरण के ध्वजवाहकों द्वारा देशभक्ति की चेतना फैलाने के लिए राजभक्ति दिखलाने की घटना कोई छोटा-मोटा स्वविरोध है? भारतेंदु ने यकीनन अपनी रचनाओं में अंग्रेजों पर तीखे व्यंग्य भी किए हैं। मगर इन रचनाओं की अंतर्वस्तु और उनका वर्ग चरित्र क्या है?

बहादुर शाह के इशतहार में था कि 'बादशाही हुकूमत कायम होने पर अंग्रेजों का जाल-फरेब खत्म कर दिया जाएगा और हर चीज का व्यापार करने का अधिकार इस देश के सौदागरों को होगा। अपना माल ले जाने के लिए भाप से चलने वाली गाड़ियां बनाकर सरकार उन्हें सुलभ करेगी। जिन सौदागरों के पास अपनी पूंजी न होगी उन्हें सरकारी खजाने से सहायता दी जाएगी। राजाओं और रईसों का सारा काम देशी कारीगरों को दे दिया जाएगा।' सामंत-विरोधी स्वतंत्र पूंजीवाद के विकास के उपरोक्त कार्यक्रम के सामने भारतेंदु के व्यंग्य या अंग्रेजों की शोषणनीति की उनकी आलोचनाएं किस स्तर की कही जाएंगी? हां, कांग्रेस ने अपने शुरुआती दिनों में भारतीय व्यवसायी वर्ग की ओर से अंग्रेजों के पास शिकवे शिकायत पेश करने का जो कार्यक्रम ग्रहण किया था, उसके पूर्वचिन्ह जरूर इन रचनाओं में मिल सकते हैं। ये तथ्य स्वतंत्र पूंजीपति वर्ग के बजाय दलाल पूंजीपति वर्ग के चरित्र को ही उद्घाटित करते हैं। एक बात जो रामविलास शर्मा समेत नवजागरण के अधिकांश व्याख्याकारों को परेशान करती नहीं दीखती, वह है नवजागरण के सभी पुरोधों की सामाजिक स्थिति। वे सारे के साथ सवर्ण पुरुष ही क्यों हुए? जरा इसकी तुलना इसके पांच सौ वर्ष पूर्व होने वाले एक और नवजागरण से करिए। 14वीं से 17वीं सदी के दौरान हुए भक्ति आंदोलन के सामाजिक आधार की व्याख्या करते हुए खुद रामविलास जी ने 'तुर्क बादशाहों द्वारा बाजार, तौलने के बांट, सिक्कों

आदि में सुधार, सारे राज्य में एक ही मुद्रा चलना, नई-नई व्यापारिक मंडियों और नए-नए शहरों का आबाद होना, शेरशाह के काल में राज्य और किसानों के बीच सीधा संबंध होना, गांवों की खुदमुख्तारी पर पाबंदी लगना, मुगल बादशाहों का व्यापार में खुद दिलचस्पी और हिस्सा लेना, जनपदीय और हिस्सा लेना, जनपदीय अलगाव का दूर होना और एक कौमी बाजार का गठन।' आदि संबंधी ऐतिहासिक तथ्य दिए हैं। माना जाता है कि इससे पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के तत्व पहली बार भारत में प्रकट हुए।

इस दौर में जैसे सामंती व्यवस्था के चरमराने के लक्षण दीखते हैं, वैसे ही हिंदू और मुसलमान किसानों और कारीगरों द्वारा सामंतों-पुरोहितों के शोषण के खिलाफ विद्रोह के भी उदाहरण मिलते हैं। इस परिघटना को मुख्यतः हिंदू किसान जनता द्वारा मुस्लिम शासकों के खिलाफ विद्रोह की संकीर्ण परिधि में सीमित नहीं किया जा सकता, जैसा कि महाराष्ट्र और पंजाब (शिवाजी और सिखपंथ) के विद्रोहों के मामले में किया जाता है। गरीब मुसलमान जनता के महदी और रोशनिया आंदोलन मुगल शासकों के ही खिलाफ थे। इस समूचे आलोड़न का प्रभाव युगों पुरानी वर्णाश्रम या जाति व्यवस्था पर भी पड़ा और उसके एक हद तक टूटने का ही परिणाम था कि लोग खानदानी पेशे छोड़कर नए पेशे अपनाने लगे, बनियों और शूद्रों के बीच से अनेक वीर योद्धा आए, कुम्हारों के बीच से चित्रकार, गांवों का स्वयं संपूर्ण ढांचा, जो कृषि और उद्योग के संयुक्त रूप पर आधारित था, कमजोर पड़ गया और पूंजीवादी मालिकों के अंतर्गत कारीगर, शिल्पी बुनकर, लुहार, चर्मकार इत्यादि काम करने लगे। इसी का परिणाम था कि भक्ति आंदोलन के कवियों में कबीर जुलाहा है, रैदास चमार, दादू धुनिया, नामदेव दर्जी, तुकाराम नीची जाति के व्यापारी, धना जाट किसान, साधना कसाई, सेना नाई, नानक खत्री और मीराबाई महिला। कमोबेश यही बात तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़ और बंगाली में भी थी। के. दामोदरन ने स्पष्ट कहा है कि 'कभी-कभी ब्राह्मण और उच्च वर्णों के लोग भी भक्ति आंदोलन में शामिल हुए किंतु ऐसा उन्होंने अपनी जाति की सुविधाओं और उच्च

वर्ग के दृष्टिकोण को त्यागने के बाद ही किया। संक्षेप में भक्ति आंदोलन का नेतृत्व कहीं भी ब्राह्मण पुरोहितों अथवा उच्च वर्ण वाले अभिजातवर्गीय लोगों ने नहीं किया।

लेकिन यही बात हमारे भारतेंदु युग में क्यों नहीं दिखाई देती? नवजागरण के पुरोधों भक्ति आंदोलन के इस मूल्य को आगे बढ़ाते हुए उसके अंतिम परिणाम यानी जाति प्रथा के विलोप और नारी मुक्ति की ओर ले जाने का कोई आंदोलन छेड़ते क्यों नहीं दिखाई पड़ते? हिंदू धर्म के ब्राह्मणवाद से लड़ने के बजाय वे मुसलमानों की 'सांप्रदायिकता' को अपने आक्रमण का निशाना क्यों बनाते हैं, जैसा कि बालमुकुंद गुप्त ने सरसैयद के विचारों की आलोचना में किया? क्या नवजागरण के असीम मानवतावादी आदर्श की प्रतिध्वनि इनमें कहीं सुनाई पड़ती है।

रामविलास शर्मा ने महावीर प्रसाद द्विवेदी के हिंदी भाषा प्रेम से लेकर उनके बुद्धिवाद, वैज्ञानिक विचार पद्धति रहस्यवाद-विरोध, औद्योगीकरण की पद्धति आदि की प्रशंसा करते हुए उनके राजनीतिक-सामाजिक लेखन के क्रांतिकारी महत्त्व से हिंदी जगत को परिचित कराया। द्विवेदी जी ने किसानों की समस्याएं भी देखी थीं और कांग्रेस से एक कदम आगे बढ़कर 1917 की नवंबर क्रांति का हार्दिक अभिनंदन किया था। रामविलास जी का कहना है कि उन्होंने किसानों, मजदूरों के संगठन बनाने का भी आह्वान किया और अंधविश्वास, कुरीतियों और रूढ़ियों के खिलाफ संघर्ष किया, बहुसंख्यक गरीब निरक्षर जनता-अछूत, मुसलमान, स्त्री-की शिक्षा पर बल दिया। वह यह भूल जाते हैं कि द्विवेदी जी ने कलकत्ते के मुख्य न्यायाधीश विलियम जोन्स द्वारा मनुस्मृति का संस्कृत से अनुवाद किए जाने की प्रशंसा यह कह कर की थी कि अब से हिंदुओं के मामलों में न्याय करने के लिए न्यायाधीश लोग आधुनिक विधिसंहिता के बजाय मनुस्मृति को आधार बना सकेंगे।

द्विवेदी युग की देशभक्ति यकीनन ज्यादा प्रकट थी— भारतमाता को देवी मानकर उसका स्तुतिगान या अतीत की गौरवगाथा का गान यहां मिलता है। मगर राष्ट्रीय कविताओं में, जैसे 'भारत भारती' में राष्ट्रीय भावना के साथ पुनरुत्थान के साथ हिंदू

पुनरुत्थान की भावना घुली मिली है। किसानों की बदहाली, स्त्रियों की दुर्गति और सामाजिक कुरीतियों के प्रति भी कवियों-लेखकों की दृष्टि गई है। मगर नारी के आकर्षक सौंदर्य और प्रेम के प्रति उनमें झिझक का भाव यूँ है कि दिनकर के शब्दों में 'नर और नारी के भीतर जो पारस्परिक आकर्षण का तार है, कैसे कहा जाए कि वह तार द्विवेदी युग में टूट गया था। किंतु इस विषय में द्विवेदीयुगीन कवि अत्यंत सावधान बल्कि चौकन्ने मालूम होते हैं मानो स्वामी दयानंद पास ही खड़े रहे हों।' द्विवेदी युग में रीतिवादी कविता के बंधनों का विरोध करके कविता के रूप (फार्म) में तो स्वच्छंदता जरूर आई, जिसने छायावाद का रास्ता साफ किया, पर उसकी अंतर्वस्तु में यह कैसी रीति कायम हो गई? क्या भारतीय समाज के नवजागरण को आर्यसमाजी शुद्धतावाद से ही आना था।?

भाषा के क्षेत्र में द्विवेदी जी की प्रेरणा से संस्कृत वर्णवृत्तों में प्रयोग आरंभ होने की वजह से लगी लिपटी संस्कृत शब्दावली का बोझ भी कविता पर लदने लगा। रामविलास जी ने माना है कि यद्यपि इस समय की कविता अधिकतर समाजोन्मुख है, पर उसका भावबोध अक्सर उथला विचारशक्ति क्षीण और भाषा असमर्थ जान पड़ती है। भाषा पर आर्यसमाजी आंदोलन का संकीर्णतावादी प्रभाव जो इस दौर से पड़ना शुरू हुआ तो नवजागरण के अगले दौर यानी छायावाद तक जारी रहा। हिंदी को गैर मुस्लिम अस्मिता से जोड़ने का प्रयास अब इस मुकाम पर आ पहुँचा कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 1932 में तीसरी और चौथी कक्षाओं के लिए हिंदी की अलग रीडर बनाई। उससे पहले हिंदी और उर्दू की एक ही रीडर हुआ करती थी, सिर्फ लिपि में फर्क होता था। तब से दोनों भाषाओं की रीडरों की पाठ्यवस्तुओं में कैसा फर्क होने लगा होगा पाठक खुद ही अंदाज लगा सकते हैं। यह वही रामचंद्र शुक्ल हैं जिन्होंने शिवाजी और छत्रसाल को मात्र हिंदू जनता के श्रेष्ठ्य वीरों के रूप में और भूषण को 'हिंदू जाति के प्रतिनिधि कवि' के रूप में देखा है। यह बात दीगर है कि शिवाजी की सेना में हिंदू और मुसलमान दोनों समुदायों के किसान और सेनानायक थे और स्वयं शिवाजी इस्लाम के प्रति अत्यंत

सहिष्णु थे। इसी युग में 1917 में प्रेमचंद ने *सेवासदन* लिखकर अपने उपन्यासों की शुरुआत की। प्रेमचंद यकीनन इस आर्यसमाजी कट्टरपंथ पर चोट करके, वास्तविक आंदोलन में आलोचनात्मक रूप से जुड़कर ही प्रेमचंद बन सके। मगर रामविलास जी का कहना है कि द्विवेदी जी का *संपत्तिशास्त्र* वह ज्ञानकांड है जिसका कलात्मकः प्रतिफल *प्रेमाश्रम*, *रंगभूमि*, *कर्मभूमि* और *गोदान* हैं।

दरअसल नवजागरण के बारे में रामविलास जी की दृष्टि संपुष्टिकारक किस्म की है, आलोचनात्मक क्रांतिकारी नहीं। यद्यपि अंग्रेजों के आने से पहले भारत में पूंजीवाद के उदय के तत्व उन्होंने अवश्य खोज निकाले थे और 1857 को उसके साथ जोड़ा था, पर फिर घूमकर वह एक हद तक नवजागरण के पुरोधों के उसी भ्रम के शिकार बन गए लगते हैं कि अंग्रेजों के आने के पहले समाज सामंती पतन का शिकार था जिसकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति रीतिकाल में होती थी। यह धारणा अंग्रेजों की भारत विजय को नैतिक मान्यता दिलाने के लिए अंग्रेजों द्वारा ही घुसाई गई थी और हमारे नवजागरण के पुरोधा इसके शिकार बने थे। इस रीतिकाल की एक व्याख्या तो डॉ. नगेंद्र ने दी है कि 'रीतिकाल में हिंदू पदाक्रांत और मुसलमान विलासजर्जर' था। तो क्या हिंदू सामंत विलासजर्जर नहीं थे? क्या कोड़े खाने वाले मजदूरों—कारीगरों में मुसलमान नहीं होते थे? रामविलास जी का दृष्टिकोण लाजिमी तौर पर नगेंद्र से भिन्न है। पर इसी रीतिकाल में शुमार किया जाता है दिल्ली के मीर और गालिब जैसे कवियों का, जो मानव करुणा के अमर कवि हैं। खुद रामविलास शर्मा ने कहा है कि इटली के महान कवि दांते ने जिस तरह अपने जीवन की अपार वेदना अपने महाकाव्य में उड़ेल दी थी, उसी तरह गालिब के शेर उस जामने के वातावरण के प्रति क्षोभ, ग्लानि और वेदना में डूबे हुए हैं। दांते को पश्चिम में नवजागरण का अग्रदूत माना गया है। मगर क्या रामविलास पूरब के गालिब को नवजागरण का कवि मानते हैं? नहीं, बल्कि वह गालिब की कुलीनता और शाही दरबार से उनके जुड़ाव का सवाल उठाते हैं, जो कि रीतिकालीन कवियों के बारे में उठाया जाता है। वह गालिब के क्षोभ,

ग्लानि और वेदना को देखते हैं, मगर उसके भविष्य के सपने की झलकियां नहीं देख पाते—*घर में था क्या तेरा गम जिसे गारत करता/वो जो रखते थे हम एक हसरत-ए-तामीर जो है।* गालिब और मीर ही क्यों, लखनऊ के अनीस और आगरे के नजीर अकबराबादी जिन मूल्यों को सामने लाए हैं वह उर्दू-हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है। मगर महावीर प्रसाद द्विवेदी की मान्यता यही रही कि आशिकाना कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू में ही नहीं। यहां तक कि नामवर सिंह ने भी एक जगह पर कह डाला है कि सूर और तुलसी का युग समाप्त हो जाने के बाद, 19वीं सदी ही आधुनिक भारतीय भाषाओं में लगभग बंजर काल है।

समस्या नवजागरण को रीतिकाल का निषेध मानना है। अतः गालिब उनके लिए कैसे प्रेरणास्पद हो सकते हैं? दूसरा कारण यह भी है कि गालिब उर्दू कवि हैं, जिन्हें फारसी से भी जोड़ा जा सकता है। रामविलास जी के प्रोजेक्ट में केवल उसी उर्दू के लिए स्थान है जो हिंदी में खप जाए, उर्दू लिपि के लिए तो स्थान ही नहीं है। क्योंकि वह एक भाषा एक लिपि के द्वारा समूची हिंदी कौम के जोड़ना चाहते थे। गालिब न सही, अंततः लगता है कि रामविलास जी को नवजागरण में भी प्रेमचंद के बावजूद, कोई सर्वस्वीकार्य मॉडल नहीं मिला। अतः अंत में *पांचजन्य* को दिए अपने साक्षात्कार में उन्होंने यह मान्यता व्यक्त की है कि *रामचरितमानस* ने मिथिला से मालवा और कुरूक्षेत्र तक हिंदी क्षेत्र को जोड़ा है।

यकीनन नवजागरण भक्तिकाल जैसा उदात्त नहीं बन सका था। इसका कारण नवजागरण के अपने अंतर्विरोधों में निहित है। उसकी सीमाएं राष्ट्रीय स्वतंत्रता की भावना की सर्वांगीणता (जो क्रांतिकारी परिप्रेक्ष्य में ही हासिल हो सकती थी), राष्ट्रीय एकता की विशाल—हृदयता (जो सांप्रदायिकता को समाप्त करने वाली सच्ची धर्मनिरपेक्षता से ही पैदा हो सकती थी) और उदात्त मानववाद (जो जातिप्रथा के अवसान और नारी मुक्ति के आंदोलन से ही प्राप्य था)—इन तीनों आयामों में अधूरेपन या विकृति से उपजी हैं। भक्तिकाल से तुलना करने का मतलब यह नहीं कि नवजागरण को आवश्यक रूप से रेनेसांस के नकशे कदम का

देखा जा रहा है। ऐसे किसी भी स्वर्णकालीन अतीत की पुनस्मृति भारतीय नवजागरण का मूल या आवश्यक अंग नहीं। क्योंकि भक्तिकाल भी कोई द्वंद्वनिरपेक्ष आंदोलन नहीं था। यद्यपि *रामचरितमानस* की मूल बात वर्णाश्रम धर्म की पुनः प्रतिष्ठा नहीं है, फिर भी जिस काल में जाति आधारित पेशे की धारणा टूटनी शुरू हो रही हो, उस काल में तपस्या कर रहे शूद्र शंबूक का सामाजिक मर्यादा रक्षार्थ बध करने का प्रकरण आलोचना का विषय बनना चाहिए था, न कि मंडन का।

नवजागरण की अनालोचनात्मक अवधारणा को चुनौती मिलना संभवतः मुक्तिबोध से ही शुरू हो गया था, क्योंकि उस दौर में ही राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन की उपलब्धियों से मोहभंग होना शुरू हुआ। नवजागरण के विचारकों के सुंदर वचनों की तुलना में सामाजिक मर्यादा रक्षार्थ बध करने का प्रकरण आलोचना का विषय बनना चाहिए था, न कि मंडन का।

नवजागरण की अनालोचनात्मक अवधारणा को चुनौती मिलना संभवतः मुक्तिबोध से ही शुरू हो गया था, क्योंकि उस दौर में ही राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन की उपलब्धियों से मोहभंग होना शुरू हुआ। नवजागरण के विचारकों के सुंदर वचनों की तुलना में सामाजिक, राजनीतिक संस्थाएं घोर निराशाजनक व्यंग्य चित्रों में बदलनी शुरू हो गई थीं। अब दूसरे नवजागरण की जरूरत थी जिसे मुक्ति की राह खोजने में लगे मुक्तिबोध ने महसूस किया। रामविलास जी ने उनको अस्तित्ववादी करार दिया। जब नक्सलवादी आंदोलन ने उस नवजागरण को सचमुच बुनियादी रूप से चुनौती दे डाली और क्रांति का बिगुल फूंक दिया तो पुरानी चिंतन परंपरा निरुत्तर हो गई। मगर रामविलास जी ने अतीत में इसका जवाब खोजना जारी रखा। निश्चय ही उनमें बहुत कुछ सीखने योग्य है। लेकिन नवजागरण में जो कुछ सकारात्मक है उसे क्रांतिकारी आलोचनात्मक दृष्टि से ही बचाया और संबंधित किया जा सकता है वरना सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों को उसे हस्तगत करने से कौन रोक सकेगा? ■

(जून, 2000)

# शताब्दी पुस्तक: हिंदी लेखक की ग्रंथियां

■ प्रेमपाल शर्मा

पिछले दिनों अंग्रेजी साप्ताहिक *आउटलुक* द्वारा पूछे प्रश्न के जवाब में वरिष्ठ कथाकार व चिंतक निर्मल वर्मा ने शताब्दी पुस्तकों में जिन लेखकों के नाम गिनाए उनमें प्रुस्त, विलियम फॉकरनर और टामस मान थे। लगभग एक वर्ष पहले जनसत्ता में छपे एक साक्षात्कार में वरिष्ठ कवि कुंवर नारायण ने भी ऐसे ही एक प्रश्न के जवाब में जिन दस पुस्तकों के नाम गिनाए थे उनमें इस शताब्दि में लिखी गई कोई भी हिंदी साहित्य की पुस्तक उन्हें इस लायक नहीं लगी कि उसे इस सूची में शामिल किया जाए। जो पुस्तकें गिनाई गई वे थीं:

1. महाभारत-भगवत गीता: वेद व्यास, 2. रामचरित मानस: तुलसीदास, 3. गालिब, 4. शेक्सपीयर के नाटक, 5. जॉन विक्टगजोट: सेर्वान्ते, 6. मलार्थे की कविताएं, 7. ट्रायल: काफका, 8. लव इन दि टाइम ऑफ कॉलरा: मारक्वेज, 9. लिबररिथ: बोरक्वेज और 10. उपनिषद्।

प्रश्न था किसी भी भाषा या देश की कौन-सी 10 पुस्तकें हैं जिन्होंने आप और आपके लेखक पर असर डाला है? दस में से केवल चार भारतीय हैं और गौर से देखें तो गालिब को छोड़कर शेष धर्मग्रंथ के रूप में ही ज्यादा जानी जाती हैं। क्या हम इतने दरिद्र हैं, प्रेमचंद, रवींद्र, शरत, निराला, नागार्जुन, सुब्रह्मण्यम भारती से लेकर समस्त भारतीय भाषाओं में पिछले सौ-दो सौ साल में कोई इस लायक नहीं हुआ जो इन महानुभावों को प्रभावित कर पाता।

विदेशी साहित्य और पौराणिक गाथाओं को गाने में निर्मल जी, कुंवर जी अकेले नहीं हैं। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष ऐसी घोषणाएं हर वर्ष के अंत में—इस वर्ष आपने क्या पढ़ा—वाले कर्मकांड में देख सकते हैं। इंडिया टुडे (अंग्रेजी) हर माह सबसे ज्यादा बिकने वाली पुस्तक और उनके प्रकाशकों का ब्यौरा देती है।

मैंने आज तक हिंदी की किसी की किताब का नाम उसमें नहीं देखा। हिंदी की पुस्तक का नाम अंग्रेजी वाले और दूसरी भाषाओं वाले तो खैर लेते ही नहीं हैं, स्वयं हिंदी वाले भी बड़ी कंजूसी से लेते हैं।

यह सब तब है जब वैश्वीकरण के नाम से ही हम बिदकते हैं और उसमें उपभोक्तावाद, अपसंस्कृति और पश्चिम की दादागीरी के विरुद्ध परचम उठाए, 'स्वदेशी-स्वदेशी' चिल्लाते रहते हैं। तब हमें सामने वाला एक व्यक्ति देशद्रोही, अपसंस्कृति का पोषक और पश्चिम का पुछल्ला नजर आता है। पेप्सी के साथ बेशर्मा से विदेशी स्कॉच पीते हुए हम आलू चिप्स खाने वाले बच्चों और उनके बापों की खबर लेना कभी नहीं भूलते हैं।

हिंदी समालोचना तो मानो विदेशी छोंक लगाए बिना आलोचना ही नहीं है। पूर्वग्रह घराने द्वारा डंके की चोट पर शुरू किए गए इस अभियान ने अब दिल्ली के आलोचकों को भी अपनी गिरफ्त में ले लिया है। विशेषकर कुछ नए आलोचक तो अपनी समीक्षा की टिप्पणी किसी विदेशी लेखक के उद्धरण की अगरबत्ती जलाकर ही प्रारंभ करते हैं।

एक आलोचक कवि ने तो अपनी पहली कहानी के शुरू तक में ऐसा उद्धरण जड़ कर ही कहानी का श्रीगणेशाय नमः किया। ये लेखक उस पार्टी के समर्थक हैं, जो विदेशी कंपनियों के आगमन के विरोध में सर्वाधिकार मुखर है। यहां यह स्पष्ट कर दूं कि पार्टी के विरोध पर शंका की गुंजाइश नहीं है, लेकिन इनका क्या किया जाए जिन्हें साहित्य में सब कुछ विशेष ही पंसद है। पढ़े-लिखे उदारमना जो ठहरे।

फिलहाल स्थिति यह है कि सब एक-दूसरे को दोषी पाते हैं या सिद्ध करते हैं। लेखक तो इसे अपना जन्मसिद्ध अधिकार ही समझते हैं कि जब चाहें जैसे चाहें जनता समेत सभी राजनेताओं तक को स्वदेशी का महत्त्व बतलाते रहें, अपनी रहन-सहन की शैली और संस्कृति को प्रोत्साहित

करने का प्रवचन देते रहें। उधर राजनेता लेखकों को आह्वान करते हैं कि वे समाज को चलाने के लिए उसके आगे-आगे देशी लालटेन जलाएं और वे स्वयं बल्ब और सोडियम ट्यूब की रोशनी में मस्ती में रहते हैं। पत्रकार की स्थिति उभयपक्षी है। पीजश और रम के स्वाद में मंटे की तारीफ में लिखना उनकी व्यावसायिक जरूरत है। व्यापारी और उद्योगपति अपने व्यापार की खातिर तो स्वदेशी का जाप जपते हैं, पर अपनी इच्छाओं की पूर्ति और संतुष्टि उन्हें ग्लोबल चीजों में ही नजर आती है। शायद इसी दुश्चक्र का नाम है हमारे देश की नीति, अर्थनीति और राजनीति।

ऐसे साक्षात्कार को पढ़कर आम पाठक किस पुस्तक को पढ़ने की प्रेरणा लेगा। पश्चिम की या अपनी? और धार्मिक या वैज्ञानिक? लौट - फिर कर वही विदेशी-पुस्तकें, वही विदेशी नाम। और इधर मुंह करते ही हमारी संस्कृति, हमारी भाषा, हमारे लेखक। दूरदर्शन भी तो लगभग यही कर रहा है, जय हनुमान, जय श्री कृष्ण या पश्चिमी तर्ज पर अंताक्षरी। और हम उसे तो लतियाते रहते हैं लेकिन इन बड़े लेखकों को इसी संदर्भ में बहुत पढ़ा-लिखा मानकर सर पर उठाए फिरते हैं।

पर कोई लेखक अपनी भाषा और संस्कृति के प्रति अपनी जिम्मेदारी से कैसे बच सकता है! कम से कम वह अपने साहित्य-संस्कृति को इतनी ही-ग्रंथि से देखने से तो बच ही सकता है कि उसे अपने साहित्य में से एक आद पुस्तक भी ऐसी न लगे जो अपने समाज के लेखकों को प्रभावित करने वाली हो। आत्मधक्कार की भी एक सीमा होती है। आपका दृष्टिकोण वैश्विक है, लेकिन जहां हम खड़े हैं वह भी तो विश्व का ही हिस्सा है।

आज जिस भाषा में लिखते हैं उस भाषा की किसी पुस्तक ने आपको प्रभावित ही न किया हो यह कितने आश्चर्य की बात है! पर अगर यह सच है कि हमारे यहां कोई है ही नहीं और होता ही नहीं तो फिर हम ही किस खेत की मूली हैं! हमें ही कौन और क्यों पूछने जा रहा है या पूछ रहा है? संभव तो कुछ भी है। पर क्या वाकई लोगों को मुगालता हो सकता है कि उन्हें भी विदेशी लेखक उसी तरह बदले में उद्धृत करेंगे जिस तरह वे विदेशियों की लंबी-लंबी फहरिस्त बनाने का कोई मौका नहीं चूकते! ■

(अक्टूबर, 1999)

## परिचर्चा

# हिंदी में आत्मकथा

वर्ष 2004 के देवीशंकर अवस्थी सम्मान समारोह में हिंदी में आत्मकथाओं पर महत्वपूर्ण चर्चा हुई थी। परिचर्चा में कई वक्ताओं ने भाग लिया था। यहां उस परिचर्चा के दो महत्वपूर्ण वक्तव्य प्रस्तुत हैं। - सं.

## हिंदी लेखक अपने जीवन में बतलाने से परहेज करते हैं

मंगलेश डबराल

मुझे लगता यह है कि आत्मकथा की संस्कृति पांडेय बेचन शर्मा उग्र की अपनी खबर के बहाने एक पूरे आत्मकथात्मक सभ्यता की पड़ताल करने की कोशिश है। सन् 1641 में बनारसीदास जैन की पुस्तक *अर्द्धकथानक* से शुरू होकर यह पुस्तक बीच में तमाम आत्मकथाओं से गुजरते हुए अपनी खबर पर विश्लेषण को एकाग्र करती है। कुल मिलाकर वह आत्मकथा से ज्यादा हिंदी की आत्मकथा की विडंबनाओं की एक किताब है कि हिंदी में आत्मकथाएं क्यों नहीं हैं और आत्मकथा की जो क्षीण परंपरा है उसके कारण क्या हैं। सबसे दिलचस्प बात है कि एक बार 1932 में प्रेमचंद ने *हंस* का एक आत्मकथा अंक निकालना तय किया और वह निकला भी। इस सिलसिले में उन्होंने जो पत्र व्यवहार किया उसमें नंददुलारे वाजपेयी का उत्तर दिलचस्प है। उन्होंने कहा, हमारे देश में आत्मकथा लिखने की परिपाटी नहीं रही। यहां की दार्शनिक संस्कृति में उसका विधान नहीं है। यहां के संत हिमालय की कंदराओं में गलकर विश्वशक्ति की समृद्धि करते थे और करते हैं। शुद्ध साहित्य को साहित्य की बाह्य वस्तुओं का भारवाही बनते देखकर हमें ग्लानि होती है। जब हम पत्र-पत्रिकाओं में दो अक्षर लिख लेने वालों की चित्रवृद्धि पर आक्षेप करते हैं तब समझते हैं कि हिंदी में अब तक बहुत थोड़े साहित्यकार ऐसे हैं जिनके चित्र छपने चाहिए और जब हम आत्मकथा अंक का विरोध करते हैं तब हम अपने साहित्य में बढ़ते हुए आत्म

विज्ञापन की कलुस का ध्यान करते हैं। साहित्य तो एक सात्विक जीवन है, उसे कठिन तपस्या और महान यज्ञ समझना चाहिए।

यहां शक्ति के व्यक्तित्व के कोई स्वतंत्र विषय नहीं रह जाते, उच्च साहित्य ही वह भावभूमि है। उच्च स्तर से जितने क्रियाकलाप होते हैं, आत्मप्रेरणा से होते हैं पर आज हिंदी में आत्म प्रेरणा का नाम लेना पाखंड बढ़ाना है। इसमें निहित यह भी है कि हिंदी में वैयक्तिक मूल्य नाम की कोई चीज नहीं है और एक व्यक्ति की कोई महत्ता नहीं है। वह भी एक चिर जीवन का एक प्रतिनिधि है। हमारी दार्शनिक संस्कृति में उसका कोई विधान नहीं है एक बात है और दूसरी बात है कि इसमें मान लिया गया है कि आत्मकथा जब भी लिखी जाएगी वह पाखंड का ही अभ्यास होगी और वह पाखंड ही रहेगा और व्यक्ति अपने को छिपाएगा। तो आत्मकथा यदि आत्मस्वीकार है तो इस आत्मस्वीकार की परंपरा हिंदी में नहीं रही है।

अपनी खबर में एक अध्याय में यह आत्मस्वीकार मिलता जरूर है लेकिन हमें लगता है कि हिंदी में जितनी आत्मकथाएं हैं वह चाहे बच्चन की आत्मकथा के अनावश्यक रूप से खींचे गए कई खंड हों या उसकी तुलना में बहुत छोटी-सी पुस्तक *अपनी खबर* हो। मुझे लगता है कि यह आत्म स्वीकार जो है उसका हिस्सा हिंदी में बहुत कम रहा है। इसका कारण चाहे यह भी रहा हो कि एक पाप स्वीकार की परंपरा जो ईसाईयत में मिलती है। मुझे लगता है यह परंपरा हमारी हिंदी बल्कि परंपरा में नहीं रही है। वहां कुछ उदात्त चीजें, कुछ विश्व दृष्टि और विश्व स्तर की जैसे वसुधैव कुटुम्बकम आदि या फिर एक मुक्ति के मार्ग को अकेले में खोजना है। उसे चाहे हम कंदराओं में खोजें या बनारसीदास जैन की तरह जैन समाज के कार्यकलापों में खोजें

या लोकसेवा या लोकोपकार में उसको खोजें।

यही वजह है कि हिंदी में आत्मकथाओं का बहुत अभाव है। राहुल जी की *मेरी जीवन यात्रा* बिल्कुल दूसरे तरह की आत्मकथा है जिसमें दरअसल उनके कामों का जिक्र है जो उन्होंने हमारे समाज के लिए और हमारी संस्कृति के लिए किए। दूसरी वजह यह है कि हिंदी में आत्मकथात्मक उपन्यासों की बड़ी परंपरा रही है। बल्कि अज्ञेय ने एक बार कहा भी था कि एक लेखक को आत्मकथा नहीं लिखनी चाहिए। आत्मकथा तो उसकी रचनाओं में ही उपलब्ध होती है। *शेखर एक जीवनी* आत्मकथात्मक उपन्यास का एक बड़ा उदाहरण है।

मुझे लगता है नई कहानी के दौर में तो दूसरों की भी आत्मकथाएं लिखी गईं, कई उपन्यास इसके उदाहरण हैं। उनके नाम लेने की शायद जरूरत नहीं है। पर कई लेखकों ने तो अपने साथी लेखकों की ही आत्मकथाएं लिख डाली। खैर, हिंदी में यह परंपरा नहीं रही है तो दूसरी ओर मराठी में बहुत बड़ी परंपरा रही है। मराठी में तो अभिनेत्रियों ने भी अपनी जीवन कथाएं लिखी हैं। जैसे हंसा वाडकर ने लिखी है। यक्षणी दुर्गा खोटे नाम से आई है। यश रामनगरकर की आई है। जो मूलरूप से एक फिल्मकार थे। या फिर दलित लेखन तक यह परंपरा आई जो दया पवार की *अछूत* से शुरू होकर यह अन्य आत्मकथाओं तक चलती है, जो लिंबाले की हो या गायकवाड़ की, यह एक लंबी परंपरा रही है। वहां जो हिंदी में भी जैसे मोहन दास नैमिषराय हैं, ओमप्रकाश बाल्मीकि हैं। इन लोगों की आत्मकथात्मक कृतियों में एक नया उभार देखने को मिलता है। जिसके परिणाम आगे आएं। उड़िया के फीकर मोहन सेनापति जो आदि कथाकार माने जाते हैं उनकी आत्मकथा है *मेरी आत्मकथा*। वह इतनी भयानक, इतनी भीषण कृति है कि मैं उसे जब भी पढ़ता हूँ विचलित हो उठता हूँ। उसमें इतना आत्मधक्कार है, इतनी आत्म प्रताड़ना है जो आत्मपीड़न की हद तक है। उसमें इस हद तक कहा गया है कि मैं कितना अधरम, कितना कुटिल व्यक्ति रहा। इस तरह का उनका जीवन था भी। वह अंग्रेजों के नाजिब थे या इस तरह के किसी पद पर थे और बाकायदा एक आदिवासी विद्रोह को दबाने का काम उन्होंने किया। उन्होंने अंग्रेजों के लिए कई गहिरे किस्म के काम किए। इसके बावजूद

उन्होंने *अरिकुल चमार* नाम का उपन्यास लिखा, अद्भुत कहानियां लिखीं। दिलचस्प बात यह है कि वह आदिवासियों की ही करुण कथा है। यह व्यक्ति आदिवासियों के विद्रोह को दबाता है, अंग्रेजों के लिए जासूसी करता है, मुखबिरी करता है लेकिन यही व्यक्ति उड़िया का पहला प्रेस स्थापित करता है। इससे लगता है कि मनुष्य की जो प्रवृत्ति है, उसका जो स्वभाव है वह बहुत जटिल है। वह इतना आसान नहीं है जितना हम समझते हैं। हालांकि निजी तौर पर मैं मानता हूँ कि मनुष्य को अत्यधिक प्रेडिकटेबल (जिसके बारे में अनुमान लगाया जा सके) होना चाहिए, लेकिन वह होता नहीं है।

जब हम किसी लेखक की कृतियों को पसंद करते हैं तो वह हमारा प्रिय लेखक होता है और तभी हम उसकी जीवनी के बारे में, उसके जीवन के बारे में जानना चाहते हैं कि उसने क्या-क्या दिया, अन्यथा एक लेखक का जीवन कुछ भी महत्वपूर्ण नहीं है। यों तो एक लेखक का जीवन वैसा ही होता है जैसे अन्य लोगों का जीवन होता है पर वह अपने लेखन से प्रिय बनता है और हम उसके बारे में जानना चाहते हैं। इस लिहाज से हिंदी के लेखक अपने जीवन को बतलाने से परहेज करते हैं।

मुझे निजी तौर पर आत्मकथाएं बहुत अच्छी लगती हैं। खासकर उन लोगों की लिखी हुई जो साहित्येतर विधाओं में काम करते रहे हैं। मसलन कुछ फिल्मकार हैं। जिन्होंने अद्भुत आत्मकथाएं लिखी हैं। चैपलिन से ही हम शुरू कर सकते हैं जो एक अद्भुत पुस्तक है। बर्गमैन की *द मैजिक लैटर्न* है या कि अकीरा कुरुसोवा की *समथिंग लाइक एन आटोबायोग्राफी*। इसके साथ ही तमाम किताबें और हैं जैसे *डबल विजन* है, तारकोवस्की की डायरियां हैं या जो उनके दार्शनिक आत्मकथात्मक इतिवृत्ति को बतलाती हैं।

उन लोगों की रचनाएं मुझे इसलिए भी पसंद हैं क्योंकि वे गैरपेशवर लोगों के द्वारा लिखी गईं होती हैं, इसलिए उनमें शायद किसी साहित्यिक महत्वाकांक्षाओं, दिखावों के बगैर एक सीधी, सच्ची जीवन की छवियों को देख सकते हैं। शायद वे इतनी ईमानदारी से लिखी गई हैं कि उनमें उनके जीवन के तनाव, जीवन की विफलताएं, जीवन की खुशियां इतने अद्भुत ढंग से व्यक्त की गई हैं कि वे साहित्य का ही बहुत बड़ा हिस्सा हैं।

## हिंदी साहित्य की परंपरा को समझना जरूरी है

श्रीलाल शुक्ल

देवीशंकर जी के स्मरण के इस अवसर पर मैं विशेष रूप से कमलेश अवस्थी पर भी मत व्यक्त करना चाहूंगा। आपने देखा होगा कि इस सम्मान के बहाने अनेक वर्षों से वह देवीशंकर जी की अनुपलब्ध पुस्तकों को उलब्ध कराने के लिए कितनी चेष्टाशील हैं और उनकी वे रचनाएं जो कि प्रमाणित होकर सामने आ गई हैं, वे भी उपलब्ध हो जाएंगी। अभी कुछ वर्ष पहले *हमको लिखो है कहा* शीर्षक से देवीशंकर जी को लिखे पत्रों का एक संग्रह आया है। आत्मकथा की विशिष्टताओं को लेकर जो बातें कही गईं, उन पत्रों से भी वह चीज सिद्ध होती है। उसमें देवीशंकर तो नाम मात्र को हैं, उस समय का समस्त साहित्यिक परिवेश, राजनीतिक परिवेश बहुत खुलकर हमारे सामने आता है। वहां केंद्र में देवीशंकर उतना नहीं है जितना उनका परिवार, उनका वृहत्तर समाज, उनका साहित्य और उनके सरोकार। अब कमलेश जी की चेष्टा यह है कि उनकी डायरी के अंश जो यत्र-तत्र कुछ पत्रिकाओं में छपे भी हैं, वे सामने आ जाएं।

मैं उन निकृष्ट हिंदी लेखकों में से हूँ जिन्होंने आत्मकथा लिखने का न साहस किया और जो अपने अपराधाओं को छिपाकर रखना चाहता है। यह जो बात उठाई गई कि हिंदी लेखक सामान्यतः समाज भीरू होते हैं, उनमें सत्यनिष्ठा नहीं है, उनमें यह नहीं है, वह नहीं और इसी कारण ऐसी आत्मकथाएं नहीं लिखी गईं जैसी कि जेने ने लिखी है या उदाहरणार्थ बास्लन ने *लंदन जर्नल्स* में या *बास्लन रिसर्च ऑफ लाइफ* जैसी किताबें नहीं हैं। मगर मैं समझता हूँ कि एकदम से हिंदी साहित्यकार की भर्त्सना करने के पहले हिंदी साहित्य की परंपरा, जिस पर जरा ज्यादा मुखर, कहना नहीं चाहिए फूहड़, तरीके से नंददुलारे वाजपेयी ने रखा था, उस पर एक बार फिर विचार करने की जरूरत है। वह इतनी आसनी से खारिज की जाने वाली स्थापना नहीं है। पहली बात तो यह है कि हिंदी में गद्य ही नहीं था। एक मात्र जो मध्यकाल की आत्मकथा का विवरण पंकज चतुर्वेदी ने दिया है वह भी पद्यबद्ध है। तो पहली चीज तो यही हो गई कि आत्मकथा वही लिख सकता है कि जो कविता लिखता हो, कविता न लिखता हो तो



कम से कम पद्य तो लिख ही सकता हो। और संस्कृति की परंपरा यह है कि एक बिंदु पर पद्य और कविता एक बन जाती है। कम से कम इतनी क्षमता तो उसमें होनी ही चाहिए थी, गद्य की तो कोई बात ही नहीं थी। वार्ता के रूप में संतन की वार्ता लिख लीजिए वह दूसरी बात है। मगर गद्य था ही नहीं। जो चीजें हैं संस्मरण डायरी, आत्मकथा सब उस साहित्य की चीजें हैं जिसमें गद्य की एक संपन्न परंपरा धीरे-धीरे विकसित हो रही है। कविता, नाटक और इसी क्रम में जो हम लोगों के साहित्य में अब विकसित हुए हैं कथा व उनकी शाखाएं-प्रशाखाएं निकलती हैं। और इस प्रकार की नई-नई विधाओं की शुरुआत होती है। इधर हिंदी में एक शब्द रिपार्ताज सुनने में आने लगा है। गद्यहीन साहित्य में इनके लिए कोई जगह नहीं होती। जब से हिंदी गद्य विकसित होना शुरू हुआ तब से धीरे-धीरे इन सब चीजों की शुरुआत हुई है। यह भी देखना चाहिए कि महात्मा गांधी तो सत्य के साथ अपने प्रयोग कर ही रहे थे, बावजूद उस आत्मकथा के जो गुजराती में है और अंग्रेजी-हिंदी में बाद में आई, उनको तो सत्य वचन बोलना ही था क्योंकि वह अपने सत्य को प्रयोगों के बारे में बातचीत कर रहे थे। पर कुछ चीजें मुझे सचमुच ही खटकती हैं, जैसे रूसो की आत्मकथा में जिक्र है कि वह महिला बैठी थीं जिनसे उनका संसर्ग कभी हो चुका था और वह बड़े असमंजस की स्थिति में बैठी रहीं, कुछ बेचैन-सी। उस प्रसंग के जिक्र का क्या औचित्य है। अंग्रेजी का एक शब्द है 'कैट' बहुत ही खराब मैनर्स वाला आदमी, बदखलाह, थोड़ा-बहुत कमीपनापन भी उसमें शामिल है। अब मेरी समझ में यह नहीं आता है कि मान लीजिए किसी एक प्रसंग में चाहे वह सुखद प्रसंग हो या संयोगवश प्रसंग हुआ हो, किसी एक लोक स्वीकृति परंपरा के विरुद्ध कोई आचरण हो गया हो तो उसके बारे में अपना संपूर्ण विवरण देते हुए, पूरा खुलासा करते हुए, अपनी संपूर्ण चीख लिख सकता हूं पर सवाल यह है कि उससे मैं पाता क्या हूं? जब तक उसके भी पीछे की समस्त सामाजिक व्यवस्था की बात न करें, जिसके भीतर ऐसी चीजें स्वीकार्य नहीं हैं। या आप उस सामाजिक व्यवस्था की भर्त्सना करें जिसके अंतर्गत इस प्रकार की चीजें स्वीकार्य होनी चाहिए या कम कम सहज का स्वाभाविक मानी जानी चाहिए। ■

(अक्टूबर, 2004)

# यशपाल की प्रासंगिकता

## ■ राधेश्याम दुबे

अपने पहले उपन्यास दादा कॉमरेड से यशपाल ने शोषितों और उत्पीड़ितों के पक्ष में अपनी प्रतिबद्धता का डंके की चोट पर ऐलान किया। नए-नए उपन्यास निकलने के साथ उनकी लेखन-शैली मंजती गई और भाव-अभिव्यक्ति अधिक परिपक्व होती गई। कथानकों के धरातल भी बदलते गए। जहां दिव्या का काल प्राचीन है, वहां मनुष्य के रूप में हिमालय के निकटवर्ती गांव की एक पहाड़ी लड़की की आधुनिक बंबई में कायाकल्प हो जाता है। प्रसिद्ध सिने निर्देशक शांताराम के लिए यशपाल ने अशोक की हार नाम से पटकथा लिखी थी।

जमाना कैसे बदल जाता है। दो हजार तीन का यह वर्ष हिंदी के जाने-माने साहित्यकार यशपाल की जन्मशती का वर्ष भी है। लेकिन जन्मशती यथोचित ढंग से, यशपाल की प्रतिष्ठा के अनुरूप मनाने के लिए किया क्या जा रहा है? लगता है खानापूरी हो रही है। औपचारिकता निबाहने की खातिर कुछ कमिटियां बना दी गई हैं। और आयोजन करने वाले ये लोग कौन हैं? मोटे तौर पर ये सरकारी प्रतिष्ठान हैं, जो यशपाल के जीते जी उन्हें मान्यता देने को तैयार नहीं थे। कट्टर हिंदुत्ववादी भी उनमें शामिल हैं जो जीवित यशपाल को छुतहा रोग समझते थे। (सच बात यह भी है कि ऐसे तत्वों को स्वयं यशपाल ने बजरा टेलने वाली लग्गी के छोर तक से छूने की जहमत नहीं उठाई थी) दूसरी ओर वामपंथी लोग किस तरह पेश आ रहे हैं? कभी यशपाल उनके अपने थे—एकदम अपने। और आज लगता है कि वे यशपाल को हवा दे रहे हैं।

एक वक्त वह भी था जब यशपाल की रचनाओं को पढ़ने के लिए उस काल के हम नौजवान लोग बेताब रहते थे। याद आती है दूसरे विश्व युद्ध की पूर्व बेला और स्वयं युद्ध के वर्ष जब हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्रों के नौजवानों को वामपंथी, क्रांतिकारी दिशा दिखाने वाले, उन्हें समाजवाद का, सामाजिक न्याय के समाज का क ख ग बताने वाले, उन्हें मार्क्सवाद का पाठ पढ़ाने वाले मुख्य रूप से दो ही व्यक्ति थे—एक राहुल सांकृत्यायन और दूसरे यशपाल। उनकी रचनाओं में आज खामियां ढूंढी जा सकती हैं। लेकिन उस प्रारंभिक काल में प्रकाश की किरण, आशा की किरण उन्होंने दिखाई थी।

सन् 1938 के नवंबर महीने का वह दिन

मुझे आज भी याद है जब आगरे की नागरी प्रचारिणी सभा के वाचनालय में मुझे एक मासिक पत्रिका नजर आई थी। नाम था *विप्लव* और उसके संपादक थे यशपाल। पत्रिका के मुख पृष्ठ पर लिखा था:

*तुम करो शांति समता प्रसार*

*विप्लव गा अपना अनल गान*

ब्रिटिश साम्राज्यशाही के खिलाफ लड़ाई में जान की बाजी लगा देने वाले आजाद और भगत सिंह जैसे क्रांतिकारियों के कंधे से कंधा मिलाकर यशपाल ने भी लड़ाई लड़ी थी। *जिन शरारों ने फूंक दी जुल्मत, हम भी शामिल थे उन शरारों में*। अंग्रेजों द्वारा 'आतंकवादी' ठहराए गए क्रांतिकारियों ने धीरे-धीरे मार्क्सवाद को अपना मार्ग दर्शक सिद्धांत स्वीकार कर लिया। अंडमान जेल में रहे हों चाहे बाहर, वे लोग समाजवाद के लिए संघर्ष करने वालों की कतारों में शामिल हो गए। ऐसे ही लोगों के जौहर से नौजवानों को परिचित कराना, गांधीवादी विचारधारा के मुकाबले में उन्हें मार्क्सवाद की शिक्षा देना, नए रूस के नए जीवन की झलकियां दिखाना और उन्हें कम्युनिस्ट पार्टी की ओर आकर्षित करना *विप्लव* का काम था। सरकार ने पत्रिका पर पाबंदी लगा दी तो *विप्लवी ट्रेक्टर* ने यही काम जारी रखा।

1940 में जब मैं लखनऊ गया तो सबसे पहले हीवेट रोड, आज के शिवाजी मार्ग, पर स्थिति *विप्लव* के कार्यालय गया। वहां एक सज्जन पत्रिका के अंकों का पुलिंदा बांध रहे थे। यशपाल के बारे में पूछा तो जवाब मिला: वह बाहर गए हैं। बाद में, बात-बात में उनकी पत्नी प्रकाशवती ने बताया कि वह यशपाल ही रहे होंगे। शुरू के उस जमाने में

आधी से ज्यादा पत्रिका स्वयं यशपाल लिखते थे और उसकी छापाई, प्रकाशन, वितरण आदि के तमाम काम पति-पत्नी मिलकर किया करते थे। उसी काल में उत्तर प्रदेश के एक प्रमुख समाजवादी नेता आचार्य नरेंद्र देव ने यशपाल के लेख-संग्रह *न्याय का संघर्ष* की चर्चा करते हुए कहा था कि लेखक ने अपनी कलम से समाज को जगाने की कोशिश की और उसे जागते देखकर कलम की नोक उसके शरीर में जगह-जगह कोंच दी—ठीक प्रेमचंद की तरह, बल्कि और अधिक तीव्रता के साथ। फिर *गांधीवाद की शव-परीक्षा* नाम से यशपाल की पुस्तक प्रकाशित हुई तो हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र के राजनीतिक जीवन में तहलका मच गया।

साहित्य के आकाश में यशपाल का उदय उषा की लाली की तरह हुआ। परंतु मध्याह्न के सूरज की तरह चमकते उन्हें देर नहीं लगी। चित्र बनाने के अलावा कहानियां लिखना यशपाल ने जेल के वर्षों में ही शुरू कर दिया था। उस समय की कहानियां बाद में *पिंजरे की उड़ान* शीर्षक संग्रह में प्रकाशित हुईं। फिर एक के बाद दूसरे कहानी संग्रह ने पाठकों को प्रभावित किया। उनकी कहानियों की एक विशेषता अनातोले फ्रांस जैसी है। कहानी का पूरा तात्पर्य उसके अंतिम वाक्यों अथवा पैरा से एक-ब-यक उजागर हो जाता है। 1946 या 47 में बंबई से प्रकाशित साप्ताहिक *जनयुग* में हम लोगों ने यशपाल की एक कहानी छपी थी, 'फुल्लो का कुरता'। उसमें फुल्लो का मंगेतर पड़ोस के गांव से भेड़े चराता हुआ आता है। फुल्लो देखती है तो फौरन कुर्ते का अगला हिस्सा उठाकर अपना मुंह छिपा लेती है। यशपाल ने लिखा था कि यही हमारा समाज है। छोटी-सी सच्चाई को छुपाने के लिए वह अपने को पूरी तरह नंगा कर डालता है। एक और कहानी याद आती है: 'कला-कला के लिए' जो शायद *अभिशाप्त* नामक संग्रह में शामिल हुई थी। उसमें हड्डियों का एक बांचा फुटपाथ पर पड़ा कराह रहा है और कुछ दूरी पर बैठा एक व्यक्ति उसका चित्र बना रहा है और अगले दिन चित्रकार फिर आता है और जीवित कंकाल को कहीं नहीं देखकर उसके बारे में पूछता है। कोई कहता है कि उसे अस्पताल पहुंचा दिया गया तो चित्रकार

पर मानो बिजली गिर पड़ती है। उसके मुंह से निकलता है: मेरा चित्र को अधूरा रह गया।

एक और कहानी के सिलसिले में मैं एक दिलचस्प घटना बता दूँ जो स्वयं यशपाल ने सुनाई थी। वह बस से अपने निवास स्थान-महानगर जा रहे थे कि एक हट्टा-कट्टा नौजवान आकर उनके बराबर में बैठ गया। वह फुसफुसाकर बोला; 'भगवान के पिता के दर्शन' कहानी आप ही ने लिखी है। यशपाल की सिट्टी-पिट्टी गुम। कुछ ही आगे वह भीड़-भाड़ से भरे हजरतगंज चौराहे पर फटाक से उतर गए और काफी हाऊस में जा बैठे, जो उनके मित्रों का अड्डा था। उस जमाने में बजरंग दल नहीं बना था, परंतु वह आदमी, बिला शक उसी जहिनियत का था। और आज उत्तर प्रदेश के संघी राज्यपाल यशपाल समारोह के लिए धनराशि सहर्ष प्रस्तुत कर देते हैं—जाहिर है, अपनी जेब से नहीं। धर्मांध लोगों के ही सिलसिले में यशपाल का एक नाटक *नशे-नशे की बात* याद आता है जिसमें वह कहते हैं कि शराब का नशा अगले दिन उतर जाता है लेकिन धर्म का नशा ऐसा होता है कि उतने का नाम नहीं लेता।

अपने पहले उपन्यास *दादा कॉमरेड* से यशपाल ने शोषितों और उत्पीड़ितों के पक्ष में अपनी प्रतिबद्धता का डंके की चोट पर ऐलान किया। नए-नए उपन्यास निकलने के साथ उनकी लेखन-शैली मंजती गई और भाव-अभिव्यक्ति अधिक परिपक्व होती गई। कथानकों के धरातल भी बदलते गए। जहां *दिव्या* का काल प्राचीन है, वहां मनुष्य के रूप में हिमालय के निकटवर्ती गांव की एक पहाड़ी लड़की की आधुनिक बंबई में कायाकल्प हो जाता है। प्रसिद्ध सिने निर्देशक शांताराम के लिए यशपाल ने 'अशोक की हार' नाम से पटकथा लिखी थी। स्वयं शांताराम की व्यक्तिगत समस्या के कारण फिल्म बन नहीं पाई। तब यशपाल ने उसे उपन्यास का रूप देखकर *अमिता* के नाम से प्रकाशित कर दिया।

मास्को में यशपाल पर रिसर्च कर रहे मेरे एक मित्र ने जानना चाहा कि यशपाल ने ऐतिहासिक विषयों पर *दिव्या* और *अमिता* जैसे उपन्यास क्यों लिखे? यह प्रश्न मैंने यशपाल के पास भेज दिया। उत्तर में उन्होंने लिखा: "मेरे ये दोनों उपन्यास ऐतिहासिक विषयों पर

नहीं हैं। दोनों के विषय मेरे विचार में अत्यंत आधुनिक समस्याएं हैं। इन समस्याओं के संबंध में विवेचन और विश्वासगत अंतरविरोधों को प्रकट करने के लिए कथानक पुरानी परिस्थितियों में रख लिए गए हैं। मेरा अनुभव है कि समाज की वर्तमान समस्याओं और मान्यताओं के संबंध में सीधी बात सुनकर पाठक इसे अपनी आलोचना समझ लेते हैं और उनकी पहली प्रतिक्रिया विरोध की हो जाती है। उन्हीं बातों को जब दूसरे परिप्रेक्ष्य में रखकर विवेचना की जाती है तब पाठक इसे दूसरे का व्यवहार या उदाहरण समझकर, अपेक्षाकृत तटस्थ होकर ग्रहण कर लेता है। *दिव्या* और *अमिता* में प्रायः वही समस्याएं और प्रसंग रूपांतर से दिए गए हैं जो *देशद्रोही*, *मनुष्य के रूप* और *दादा कॉमरेड* में हैं। उन उपन्यासों को इस देश के आलोचकों ने प्रायः मार्क्सवादी प्रचार कह दिया, परंतु *दिव्या* और *अमिता* को सुंदर कला समझकर निगल गए।"

जहां प्रेमचंद ने हिंदी साहित्य में एक नए युग का सूत्रपात किया और साहित्य को जन जीवन से जोड़ा वहीं यशपाल ने साहित्य को एक नई दिशा—कहना चाहिए वामपंथी दिशा दिखाई। फलस्वरूप शोषितों की-मेहनतकशों की समस्याओं का सुधारवादी दृष्टि से नहीं, बल्कि क्रांतिकारी दृष्टि से विवेचन किया जाने लगा। अधिकारहीन अभिशाप्त लोग यशपाल की सभी रचनाओं में उनकी सहानुभूति और समर्थन के पात्र हैं। स्वाभाविक ही था कि नारी की स्थिति की ओर वह विशेष ध्यान दें। शकुंलता पर आधारित *अप्सरा का श्राप* हो चाहे *बारह घंटे*, यशपाल नारी के अधिकार की ही बात उठाते हैं। अपने एक लघु उपन्यास *क्यों फंसे?* में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि यह 'पिल' यानी गर्भ निरोधक गोली ही है। जिसने नारी को वास्तव में स्वतंत्र और पुरुष के बराबर बना दिया।

यशपाल की प्रधान रचना-उनका मेगनम ओपस *झूठ सच* नामक उपन्यास है। दो खंडों के इस बृहद उपन्यास की पृष्ठभूमि देश के आधुनिक इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण काल है। वह काल अभूतपूर्व था, न सिर्फ इसलिए कि तब देश आजाद हुआ, बल्कि इसलिए भी कि तब हिंदोस्तान उपमहाद्वीप के टुकड़े कर दिए गए। करोड़ों लोगों पर मुसीबतों के पहाड़ टूट पड़े। कितने लोग मारे गए और कितने

घायल, हुए, कितने घर-मकान, खेत-खलिहान और कल-कालखाने जलाकर राख कर दिए गए, उसका कोई हिसाब नहीं है। लोगों पर मजहबी जुनून सवार था और वे अपने-अपने इलाकों में दूसरे मजहब के लोगों को नेस्तनाबूद करने पर तुल गए थे। घर-द्वार, जमीन-जायदाद और साजो-सामान से महरूम लाखों लोगों के काफिले, कत्ल हुए अपने सगे-संबंधियों और दोनों की सिर्फ याद लिए, जान बचाने की खातिर पूरब से पश्चिम और पश्चिम से पूरब की ओर भाग निकले।

जाहिर है यह सब यकायक नहीं हो गया। काफी पहले से इसके लिए माहौल पैदा किया जा रहा था आर जमीन तैयार की जा रही थी। 'फूट डालो और राज करो' की नीति चलाने वाले विदेशी शसक, अपने-अपने स्वार्थ सिद्ध करने में लगे विभिन्न राजनीतिक पार्टियों के नेता जो आंखें रहते हुए अंधे हो गए, अलग-अलग धर्मों के कट्टरपंथी, ये सभी मुल्क को जलती भट्टियों में झोंकने पर आमादा थे। घटनाओं के ऐसे ही ऊहापोह, लीडरों के ऐसे ही सोच और फिर अनदेखी, अनसुनी खून-खराबी का रोंगटे खड़े कर देने वाला चित्रण यशपाल ने अपनी समर्थ लेखनी से झूठा-सच में किया। उन्होंने अपने पंजाब को लिया, लेकिन जाहिर है, बाकी देश, खास तौर से बंगाल में वातावरण ऐसा ही जहरीला हो उठा था। देश के विभाजन से कुछ बरस पहले से लेकर स्वतंत्र भारत के पहले आम चुनाव तक के लंबे काल का बहुआयामी नजारा पाठकों की आंखों के सामने आ जाता है। लगता है कि सब कुछ अपने आगे हो रहा है उस काल की पूरी तस्वीर इतिहास की पुस्तकों के अलावा अगर किसी साहित्यिक रचना में मिल सकती है तो वह रचना झूठा सच ही है।

इस उपन्यास के टक्कर की रचना अकेला हिंदी की बात क्या, भारत की किसी भी दूसरी भाषा में अभी तक लिखी नहीं गई। अलग-अलग घटनाओं, सांप्रदायिक दंगों और उपद्रवों को लेकर कई सुगठित और अत्यंत सशक्त कृतियां रची गई हैं—जिसमें भीष्म साहनी के *तमसका* महत्त्वपूर्ण स्थान है। मगर झूठा सच तोल्सतय के *युद्ध और शांति* जैसे पैमाने पर लिखा गया एक अत्यंत प्रभावशाली उपन्यास है।

आज यह सुनकर और पढ़कर आश्चर्य होता है कि झूठा सच एक रिपोर्ताज जैसा है। यों तो

रिपोर्ताज भी एक लाजवाब साहित्यिक रचना हो सकती है, लेकिन झूठा सच एक कलापूर्ण उपन्यास क्यों नहीं है? क्या उपन्यास का कोई विशेष, ढला हुआ सांचा होता है जिसमें उसे फिट होना चाहिए? मशहूर लेखक शोलाखोव की रूसी रचना *धीरे बहे दोन* रेको किस श्रेणी में रखा जाएगा? साफ बात यह है कि सुंदर से सुंदर खंडकाव्य को भी महाकाव्य के मुकाबले में नहीं रखा जा सकता। गद्य लेखक पर भी यही बात लागू होती है। फ्रांस के अमर साहित्यकार बाल्जाक की छोटी रचना *बूढ़ा गोरियो* विश्व का एक अनमोल रत्न है। लेकिन कोई भी उसे तोल्सतय के *युद्ध और शांति* से बेहतर नहीं बताता। मूर्ति पूजन की तुलना में मूर्ति भंजन निस्संदेह श्रेयस्कर है। परंतु यह तो देखना चाहिए कि आप तोड़ क्या रहे हैं।

बहरहाल देश की केंद्रीय साहित्य अकादेमी ने झूठा सच को पुरस्कृत नहीं किया। विरोध में चयन समिति से इस्तीफा देने वाले इंद्रनाथ मदान ने विश्वस्त सूत्र का हवाला देते हुए लिखा था कि झूठा सच में एक पात्र जवाहर लाल नेहरू के बारे में अपनी राय ठीक नहीं रखता यानी उनकी आलोचना करता है। इसलिए मुनासिब कार्रवाई की गई और पुरस्कार देना उचित नहीं समझा गया। बाद में यह भी सुनने को मिला कि पंडित जी के निजी सचिव ने मार्कर लगाकर उपन्यास उनकी मेज पर रख दिया था और पढ़ने के बाद जवाहर लाल नेहरू बेसाख्त बोल उठे थे: "वाह इस तरह बेझिझक लिखने वाले हमारे देश में भी मौजूद हैं।"

यशपाल की रचनाओं में मेरी समझ में एक कमजोरी उनका एक परिसीमन था, जो भीष्म साहनी के लेखक में भी रहा। यशपाल का वास्ता शहरी जिंदगी से था और शहरों में भी उन्होंने आम तौर पर मध्य वर्ग के लोगों के सवाल को उठाया। उत्तरी भारत के गांवों, वहां की देहाती, जिंदगी में उनकी पैठ नहीं के बराबर थी। वह प्रेमचंद और फणीश्वरनाथ 'रेणु' जैसे नहीं थे जिनकी उंगलियां किसानों की नब्ब बराबर टटोलती रहती थीं। महाश्वेता देवी जैसी बांग्ला लेखिका की तो खैर बात ही अलग है।

यशपाल का जीने का भी अलग तौर-तरीका था। मुंह में सिगार दबारकर वह साहिबाना अंदाज में ऐंठ सकते थे, लेकिन सहज ढंग से

उकड़ू बैठकर बीड़ी भी फूंक सकते थे। अपनी नाक पर मक्खी बैठने नहीं देते थे, लेकिन सगे-संबंधियों और मित्रों के लिए उके हृदय में स्नेह की धारा अजस्र बहती रहती थी। वह विनम्र न सही, लेकिन बेहद शरीफ और सुसंस्कृत थे। कुशाग्र बुद्धि और प्रत्युत्पन्नमति यशपाल तबीयतदार और यारबाश थे।

अवस्था के साथ वह नरम और सौक्य होते गए। उनके दृष्टिकोण, व्यवहार और लेखन में भी यह स्पष्ट दिखता गया। कभी उन्होंने लोहे की दीवार के दोनों ओर पुस्तक लिखकर समाजवादी जगत के मुकाबले में पूंजीवादी जगत की तीव्र आलोचना की थी। बाद में वह अपनी बेटी के पास कनाडा और अमेरिका गए और लौटने पर उन्होंने उस समाज की कुछ बातों की बेहिचक प्रशंसा की। इस पर हमारे कामरेड भाई उन पर पिल पड़े। यशपाल सहज ढंग से बोले, "सच को सच कहने में बुरा क्या है?"

यशपाल की अंतिम बड़ी पुस्तक *मेरी, तेरी, उसकी बात* उपन्यास था। उसमें 25-30 बरस पहले लिखे गए उपन्यास *देशद्रोही* की तरह ही सन् 42 के भारत छोड़ो आंदोलन को पृष्ठभूमि बनाया गया। परंतु दोनों में बड़ा अंतर है। *देशद्रोही* को आम तौर पर 'पार्टी लाइन' के अनुकूल बताया गया था। *मेरी, तेरी, उसकी बात* में यशपाल ने अधिक वस्तुपरक दृष्टिकोण अपनाया। गांधीजी के विचारों और कार्यों 'सत्य' और 'अहिंसा' को परखने वाला उनका मापदंड भी पहले जैसा एकतरफा और निर्मम नहीं रहा। फलस्वरूप नया उपन्यास विवरण, चरित्र-चित्रण और अभिव्यंजना—हर दृष्टि से अधिक समृद्ध बन गया। काफी समय बाद लिखे जाने के कारण यह एक तरह से 'सिंहावलोकन' भी था। इसकी बदौलत लेखन अधिक सहज और संतुलित हो गया। इस बार जब यशपाल मृत्यु शैया पर लेटे थे, साहित्य अकादमी ने *मेरी, तेरी उसकी बात* को पुरस्कार देने की घोषणा की, अपनी नाक साबुत रखने के लिए या जैसा कि मदान ने कहा, "अपने पाप धोने के लिए"। मगर यशपाल ने अपना मान बनाए रखा और पुरस्कार लेने के लिए वह जीवित नहीं रहे।

हिंदी साहित्य के विकास में यशपाल का योगदान भुलाना नहीं चाहिए। वह संजोकर रखने की वस्तु है। ■

(दिसंबर, 2003)

# नाटककार होने का मुझे गर्व है

गिरीश कर्नाड से डी.पी. राजगोपालन की बातचीत

थिएटर के संदर्भ में जाना-पहचाना नाम है: गिरीश कर्नाड का। नाटककार के अलावा सिने अभिनेता, निर्देशक और सांस्कृतिक कार्यकर्ता के रूप में भी उनकी प्रसिद्धि है। प्रस्तुत है उनके 70 वर्ष पूरे होने पर उनसे हुई की बातचीत के प्रमुख अंश।

प्रश्न: आप नाटककार, अभिनेता, निर्देशक, पटकथाकार, आलोचक, सांस्कृतिक संगठनों के अभिरक्षक और अनुवादक हैं। इस 'बहुमुखी प्रतिभा' को वैयक्तिक रूप से आप कैसे व्याख्यायित करना चाहेंगे?

उत्तर: इस संबंध में मैं कुछ कहने की स्थिति में नहीं हूँ। इस बारे में सोचने की जरूरत भी नहीं है। जो काम कर रहा हूँ, मन लगाकर कर रहा हूँ, उतना ही है। बाद में ऐसा लगता भी है कि उसे और भी अच्छा कर सकता था। लेकिन बुनियादी तौर पर मैं एक नाटककार हूँ। यही मेरी सोच है। लगता है ज्यादातर लोग ऐसा मानते भी हैं। उनका मैं शुक्रगुजार हूँ। पट्टाभिराम रेड्डी की संस्कार पहली फिल्म थी जिसमें मैंने अभिनय किया था। तब मेरी उम्र 30 वर्ष थी। अधिकतर नायक अभिनेता सेवानिवृत्त होते हैं इस उम्र में। पुणे फिल्म इंस्टिट्यूट की पढ़ाई के बाद मैं हिंदी फिल्म के क्षेत्र में आ गया— 1975 में। तब मैं 37 साल का हो चुका था। अभिनय को मैं सिर्फ एक मौके के रूप में ही मानता हूँ। निर्देशन करने का अवसर मिला तो उसका भी मैंने सदुपयोग किया। एक नाटककार हूँ इसका मुझे गर्व है। नाटक में अपने आपको लिख पा रहा हूँ। जल्दी कमाने का एक उपाय है अभिनय। यह मेरा नसीब है— पैसे की कोई कमी नहीं है।

यह बात दिलचस्प है कि आपके तमाम नाटक मातृभाषा कोंकणी में या सीखी हुई भाषा अंग्रेजी में नहीं लिखे गए हैं; बल्कि अंगीकारी भाषा कन्नड़ आपको मुख्य माध्यम है। इस बारे में कुछ कहेंगे?

कन्नड़ मेरे लिए अंगीकारी भाषा नहीं है। वह मेरी मातृभाषा ही है। शुरुआत के जमाने में कोंकणी में लिखना मेरे लिए नामुमकिन था।

आज मैं कोंकणी में लिख सकता हूँ। गोवा की राजभाषा है आज कोंकणी। मेरे बचपन में स्थिति कुछ और थी, तब कोंकणी सिर्फ एक बोली मात्र थी। यह बात जरूर है कि कोंकणी परंपराओं से, साहित्यिक विधाओं से भरपूर थी। लेकिन मेरे जैसे एक नए रचनाकार के लिए वह सिर्फ बोली मात्र थी। इस कारण, मेरे गांव के अन्य साहित्य प्रेमियों की तरह मुझे भी कन्नड़ को ही माध्यम भाषा के रूप में चुनना पड़ा। कन्नड़ में मुझे कोई तकलीफ महसूस नहीं हो रही है। अगर मैं केरल में पैदा हुआ होता तो मलयालम में बात कर सकता था। मेरा स्वाभाविक आवास स्थान है कर्नाटक, इसीलिए वहां की भाषा को अपनाने की कोई बात ही नहीं है। फिर अंग्रेजी, वास्तव में यह मेरे लिए अंगीकारी भाषा है, आज भी उसी तरह ही मैं उसको मानता हूँ।

नाटक-क्षेत्र में आने के पीछे कोई विशेष कारण? बचपन में ऐसी कोई घटना?

मेरे पिताजी एक सरकारी डॉक्टर थे। सन् 1942 में वह सेवानिवृत्त हुए। दूसरे विश्वयुद्ध का समय था इसलिए पिताजी की नौकरी कुछ समय तक बढ़ा दी थी। लेकिन हमारे गांव में नहीं, सिरसी नामक जगह की ओर तबादला कर दिया गया था। उत्तर कानरा - कुंदापुर के पास एक पहाड़ी इलाके में। भूमि उपजाऊ थी। मां-बाप के साथ 14 बरस तक मैं सिरसी में रहा। तब उधर बिजली वगैरह नहीं थी। फिर भी कभी-कभी फिल्म आदि देखने की व्यवस्था सिरसी में थी। शिविर में डाइनामो लगाकर हमने फिल्में देखी थीं। वैसे बहुत कम बार ही देख पाए थे। सिरसी में मनोरंजन की बहुत ही विरल सुविधाएं थीं। कभी-कभी पर्यटन करने वाली नाटक मंडलियां आती थीं।

इससे पूरे गांव को, विशेषकर हम बच्चों को भी बड़ा मजा आता था। वे लोग कन्नड़ नाटक प्रस्तुत करते थे, क्योंकि वे उत्तर कर्नाटक से संबंधित थे। सिरसी, सुपारी की खेती के लिए मशहूर जगह है। एक तरह से कहा जाए तो खेती से समृद्ध गांव। उधर एक बड़ा बाजार भी था। बरसात के शुरू होने से पहले दिसंबर से मार्च महीने तक की धूप के मौसम में नाटक मंडलियां आती थीं। सिरसी जूड़ी (मलेरिया) जल्दी फैलने वाली जगह थी। बाहर से आने वाली नाटक मंडलियां जैसे तो खूब कमाती थीं, फिर भी उनको जूड़ी पकड़ जाने का डर बहुत रहा था। इस कारण से उनके लिए डॉक्टर महत्वपूर्ण पुरुष था। इन मंडलियों द्वारा डॉक्टर को सपरिवार नाटक देखने के लिए मुफ्त पास भी दिए जाते थे। पुलिस अफसरों और जिलाधीशों को भी वे इसी तरह मुफ्त पास देते होंगे। उसके पीछे कोई न कोई कारण भी होगा। धूप के मौसम में कई मंडलियां एक साथ आती थीं। वे सब फ्री-पास देने घर भी आती थीं। मां और पिताजी नाटक देखना पसंद करते थे। इसलिए उनके साथ मैं भी सभी मंडलियों के नाटक देखा करता था। करीब 4-5 साल का होने के बाद मैंने नाटक देखना शुरू किया था। नाटक-क्षेत्र में इसी को मेरी शुरुआत मानी जा सकती है।

आपका पहला नाटक ययाति था। उस बारे में एक बार आपने लिखा भी था कि मैं सिर्फ एक पुनर्लेखक मात्र था। कान में कहीं से वार्तालापों का आ पहुंचना तथा उसका उच्चारण आदि मैं आसानी से सुन सकता था। क्या ययाति की रचना सचमुच आसान थी?

ययाति एक यादगार अनुभव था। सबसे बड़ी बात थी कि वह मेरा पहला नाटक था। उसे लिखने के बाद मुझे इंग्लैंड जाना पड़ा था। उस जमाने में इंग्लैंड जाना आज जैसा नहीं था। जहाज में लंबी यात्रा तथा तीन साल तक वापस लौटना संभव भी नहीं। क्या होगा सोचकर सभ्रम की स्थिति थी। इन समस्याओं के बीच जवानी में मैं यौवन-वृद्धावस्था के बारे में ययाति लिखने लगा। सचमुच ऐसा बन पड़ा था। किसी तरह की पूर्व तैयारी के बिना प्रकृति में एक डोलन की तरह। उसे लिखते समय मुझे लगा कि मैं एक अद्भुत दृश्य देख रहा हूँ। उसमें ज्यादा फेर-बदल की जरूरत नहीं पड़ी थी। मुझे लगता है अनायास प्रवाहित

एक धारा का अनुभव कई लेखकों को होता है। कभी सलमान रुश्दी ने भी कहा था *मिडनाईट्स चिल्ड्रन*—उसी तरह की एक धारा से ही उपजा है। *ययाति* के आगमन के 47 वर्षों के बाद भी उस बारे में तथ्यात्मक रूप से कुछ कहना असंभव-सा लगता है। आगे कभी इस तरह की रचना नहीं होगी। मैं तूफान में फंसा—*ययाति* की सृष्टि हुई। इतना कह सकता हूँ।

*आपके ज्यादातर नाटक इतिहास तथा पौराणिक कथातत्वों पर आधारित रहे हैं। आप समकालीन विषयों पर नाटक रचना क्यों नहीं करते ?*

ऐसा नहीं कह सकता। *हीप ऑफ ब्रोकेन इमेजस* और *वेडिंग एल्बम* दो नाटकों की रचना मैंने की है। ये दोनों नाटक नई जगह और परिस्थिति पर थे। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से प्रकाशित मेरे नाटक संग्रह के दूसरे संस्करण में *हीप ऑफ ब्रोकेन इमेजेस* शामिल है। भारत के सामान्य मध्यवर्गीय परिवारों में शादी एक महत्वपूर्ण काम है। चयन, धन, दायित्व, उत्साह और उत्सुकता इन सबका मिलन शादी के समय हो जाता है। मुझे लगता है कि इस तरह के विवाहों को ध्यानपूर्वक देखें तो समाज को पूरी तरह समझा जा सकता है। विवाह का अपना एक नाटकीय स्वभाव है— हम सब जानते हैं। इसी सोच को मैंने *वेडिंग एल्बम* में प्रस्तुत भी किया है। लोकप्रिय सिनेमाओं में शादी को एक कहानी के रूप-भाव में प्रस्तुत करा जाता है। मगर उन सिनेमाओं में अस्वीकार्य कुछ बुनियादी बातें भी शादी में हैं। उसी दृष्टिकोण को इस नाटक में उजागर किया है।

*आपको आजकल पौराणिक-कथाएं आकर्षित नहीं कर रही हैं ?*

नहीं, बिल्कुल नहीं। लेकिन एक बात जरूर है, भारत में पुराण का मतलब भक्ति से है। आदि से अंत तक देखा जाए तो हमारी सहायता के लिए ईश्वर अवतरित कैसे हो रहा है, इसी को पुराण में बताया गया है।

*भक्ति एक भारतीय प्रतिभास है उसे व्याख्यायित करने के लिए अंग्रेजी में समतुल्य शब्द नहीं है। क्या, आप इससे सहमत हैं ?*

भक्ति निश्चय ही एक भारतीय प्रतिभास है। भारतीय भक्ति को व्याख्यायित करने के

लिए अंग्रेजी शब्द नहीं है। भक्ति संबंधी हमारी मान्यताएं सिर्फ हमारी हैं। बात तो यह है कि हम पांडवों के बारे में लिखें या हरिश्चंद्र के बारे में, अंततः दोनों भलाई तथा आनंद का संदेश प्रेषित करने वाले नाटक ही होंगे। हमारे यहां त्रासदी की परंपरा कतई नहीं है।

*बिखरे बिंब (ए हीप ऑफ ब्रोकेन इमेजस) नाटक का नाम 'द वेस्ट लैंड' कविता की पंक्ति 'ए हीप ऑफ ब्रोकेन इमेजस' की याद दिलाता है। क्या यह बात सही है ?*

हां, बिल्कुल सही है, साथ-साथ हमारे इस इलेक्ट्रॉनिक युग का परिचायक है यह नाम। आज दुनिया के हर कोने से मानव समाज की ओर इलेक्ट्रॉनिक बिंबों की भरमार है। उनमें से कोई टेलीविजन बिंब / दृश्य हमें अच्छा लगता है। उसे देखने की इच्छा होती है, सबसे बढ़कर उससे हमारी ज्ञान-वृद्धि भी होती है। वह हमारे सामने पूरे भूमंडल में व्याप्त एक कल्पित दुनिया की रचना भी कर देता है। हम उसमें डूबते जा रहे हैं। इस तरह बाहर से होने वाली इस घुसपैठ में हमारी अपनी वैयक्तिकता/स्वत्व की भावना खत्म होती जा रही है। नाटक की कथावस्तु यही है।

नाटक में एक ही पात्र है—एक स्त्री। उसका नाम मंजुला नायक है। वह कन्नड़ की कहानीकार है, लेकिन उतनी जानी-मानी नहीं है। वह अंग्रेजी में एक उपन्यास लिखती है, तुरंत ही दुनिया भर में मशहूर हो जाती है। साथ-साथ अमीर भी हो जाती है। इन सबके होने के बावजूद भी हमेशा उसके अंदर एक सवाल उठ खड़ा होता है, जो उसकी नौद खराब कर देता है—एक सार्वदेशीय पुरस्कार पाने को लालच में मैंने अपने अंतःकरण और मातृभाषा के साथ विश्वासघात किया ? मैं आज दुनिया भर में मशहूर किसी को धोखा देकर इस तरह बनी हूँ। एक टेलीविजन साक्षात्कार में अपने ही छायाबिंब का उसे सामना करना पड़ता है। व्यक्ति और उसके इलेक्ट्रॉनिक बिंब के बीच संपन्न होने वाले इस साक्षात्कार के दौरान गलती का एहसास, खुद उसकी जांच-पड़ताल आदि भी हो जाती है। मुख्य रूप से नाटक में यही दिखाया गया है। कन्नड़ में इस नाटक का नाम ओडक्कालु और हिंदी में बिखरे बिंब है।

*सन् 80 के मध्यकाल में आप पुणे फिल्म*

*संस्थान के निदेशक थे। उस समय के बारे में ?*

1974-75 के बीच करीब दो साल तक मैं पुणे में था। ठीक कहूँ तो मैं वहां एक छात्र ही था। अध्यापन से ज्यादा अध्ययन ही किया था। कई बेहतरीन फिल्में देखीं, बहुत सारी फिल्में दुबारा देखीं। संस्थान के संबंध में कहूँ तो वह जमाना सुखमय था। उस समय के निदेशक रहने के कारण मुझे भी उस पर गर्व है। कुछ छात्र बड़े अच्छे भी थे। शाजी ए. करुण (मलयालम फिल्म निर्देशक) उस समय विद्यार्थी था। नसीरुद्दीन शाह भी उसी समय का छात्र है। इन जैसे लोगों के साथ काम करना एक सुखद अनुभव ही था।

*दर्शन, राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र में आपने स्नातकोत्तर उपाधियां प्राप्त की हैं। साहित्य या नाटक संबंधी विषयों को अध्ययन के लिए क्यों नहीं चुना थे ?*

नौकरी मिलने में आसानी होगी—इसी सोच के कारण युवावस्था में मैंने अर्थशास्त्र पढ़ा था। ऑक्सफोर्ड में प्रवेश लेते वक्त भी मुझे बस इतना था कि पढ़ाई के बाद भारत पहुंच जाने पर आसानी से नौकरी मिल जाएगी। कलकत्ता के सांख्यिकीय संस्थान में नौकरी करने की इच्छा थी। तब लगा था कि साहित्य पढ़ने से नौकरी लग जाने की संभावना कम है।

*मई 19, 2008 को आप 70 के हो चुके हैं, पीछे मुड़कर देखने पर कैसा लगता है ?*

मैं जिंदगी का मजा लेने वाला इंसान हूँ। नाटककार, अभिनेता, निर्देशक, सांस्कृतिक-संस्थानों में कार्यकर्ता आदि भी हूँ। इसके अलावा दुनिया भ्रमण कर पाया—अभी तक की जिंदगी सुख-सुविधाओं से युक्त थी। मैं घोर आशावादी हूँ। मेरे प्रिय कवि कीट्स की एक कविता है —

*आइ हैव बीन ए किंग/आइ हैव बीन ए स्लेव/नॉर इज देयर एनीथिंग/फूल, रॉस्कल, नेव/दैंट आइ हैव नॉट बीन/एंड येट अपोन माइ हार्ट/ए थाउसैंड हेड्स।*

*ग्रामीण संस्कृतियां तथा आख्यान शैली आपको ज्यादा प्रभावित करती हैं, इसका कोई विशेष कारण ?*

मैंने पहले ही सिरसी की बात की थी। बचपन में ही गांव वाली संस्कृति से जुड़े कई

नाटक देखने का मौका मिले। *यक्षगान* की भी कई प्रस्तुतियाँ मैंने देखी थीं ये सब मेरे दिमाग में था। इन सब में निहित कला की यथार्थकता कहीं-न-कहीं मेरे अंदर आनंद पैदा करती थी। जब कॉलेज, विश्वविद्यालय गया तो उधर के नाटकों में इन सबकी कमी मैंने महसूस की। उधर आधुनिक नाटक का मतलब—यथार्थवादी नाटक से था। उसके इस तरफ और उस तरफ कुछ नहीं था। मुझे लगा कि जो चीजें ये लोग छोड़ रहे हैं वह बहुत ही ज्यादा है। कर्नाटक के ज्यादातर या लगभग सभी नाटकों का मुख्य विषय सामाजिक बदलाव ही था। जैसे—विधवा विवाह, शिक्षा, स्त्री-शिक्षा, आधुनिक चिकित्सा आदि। मेरे कहने का मतलब यह कतई नहीं था कि ये सब निम्न स्तर के विषय हैं, इन सबकी प्रस्तुति प्रभावकारी नहीं। नाटकों में अतिभावुकता की अधिकता थी। कोई भी नाटक हो, शुरुआत अतिथिकक्ष से ही होती। सोफा, टेलीफोन, ऊपरी मंजिल तक जाने की सीढ़ियाँ, सोफा की सफाई करने वाला नौकर—इस तरह के नाटकों से मेरा मन खिन्न हो उठा। मन में सोचा कि यथार्थवाद इसी को कहते हैं क्या? नाटक का सौंदर्य बर्बाद कर देने वाली यांत्रिकता उसमें होती थी तथा समस्याओं के गंभीरता को सरलीकृत कर दिखाने से नाटक लोगों को पसंद आता था। ये सभी बातें किसी के कहे बिना मेरी समझ में आ गई। तब मैंने मन ही मन निश्चय कर लिया कि इस तरह के नाटक मैं कभी नहीं रचूंगा। इस निर्णय के बाद ही ययाति की रचना हुई थी। ययाति लिखकर इंग्लैंड से मैं वापस आया और मुंबई गया। उधर इब्राहिम अलकाजी थे। तब वह नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा के निदेशक नहीं बने थे। मुंबई में उनका एक बिल्कुल अलग और सक्रिय थिएटर ग्रुप था। जब मैं पहुंचा तो अलकाजी जीन अनोयिल्ह के नाटकों का मंचन कर रहे थे। जैसे—*आटिंगनी* आदि।

*आपने एक बार कहा था आपके रचनात्मक जीवन में सबसे बड़ी दिक्कत बली की रचना के दौरान हुई थी। क्या इस बारे में कुछ बताएं?*

कुछ नाटक हैं जो जल्दी लिखे जा सकते हैं। लेकिन कुछ ऐसे भी होते हैं जिनकी रचना बहुत धीमी गति से ही संभव हो पाती है। *नागमंडल* बहुत जल्दी लिखा गया था। *ययाति* के लिए तो मैं सिर्फ एक माध्यम मात्र था। *तुगलक* के

लिए भी संघर्ष नहीं करना पड़ा। *अग्नियुग वर्षवृम* 30 साल दिमाग में बने रहने के बाद ही संभव हो पाया। उसकी कहानी पढ़ते समय ही मुझे लगा था, उसमें एक नाटक है। लेकिन किस तरह उसे लेखनीबद्ध किया जाए इसका कोई रास्ता बहुत देर तक मन में स्पष्ट नहीं हुआ। *बली* की कथावस्तु ने मुझमें बहुत आवेग पैदा किया था। उसकी कथावस्तु मेरे कॉलेज के समय की एक किताब से जन्मी। कहानी थी 10 वीं सदी के कन्नड़ जैन कवि सोमदेव सूरी के यशोधर चरितम् की। तब मेरी उम्र 18 साल थी। तब से मैंने उसे नाटक बनाने का प्रयास शुरू किया। कई बार लिखा, कन्नड़ और अंग्रेजी में बार-बार लिखकर देखा। बहुत सारे पात्रों को उनके भावों के साथ अभिव्यक्त भी किया। तब भी मुझे लगता था, जिस *बली* के लिए मेरी कोशिश थी वह ये सब तो नहीं है। बार-बार सुधार करके लिखने में बड़ा मजा भी आता था। ऐसी कोई धारणा मेरी नहीं है कि एक बार जो लिखा गया है उसे संशोधन के लिए दुबारा छूना भी मना है—वह एक पवित्र ग्रंथ है। (शंकराचार्य जो एक नाटककार भी थे, लिखे गए पाठों को संशोधन करना पसंद नहीं करते थे।) अभिनेताओं और निर्देशक की राय के अनुसार कई फेर-बदल करना ही पड़ता है। अभिनय को देखकर खुद नाटककार भी उसमें कुछ बदलाव कर सकता है। इस तरह *बली* बदलता रहा। सन् 2001 में जब मैं इंग्लैंड गया तब तक यह प्रक्रिया जारी रही। उधर पहुंचकर लिसेस्टर के मार्केट थिएटर के लिए आखिरी बार मैंने *बली* की रचना की। नोना शेपर्ड उसका निर्देशक था। नसीरुद्दीन शाह और रत्ना पाठक शाह के साथ अंग्रेजी कलाकारों ने भी उसमें अभिनय किया। वैसे *बली* सीधा अंग्रेजी में लिखित मेरा पहला नाटक भी है। अंग्रेजी में लिखी जाने वाली बातचीतों का नियंत्रण उस भाषा की सहज पदशैली से ही संभव हो पाता है।

*श्याम बेनेगल की भूमिका जैसी फिल्मों के लिए आपने पटकथा भी लिखी। एक नाटककार के रूप में जो अनुभव था वह पटकथा-लेखन में किस हद तक सहायक रहा?*

जरूर हुआ है। उल्टा भी सोचा जा सकता है। नाटककार को पटकथा-लेखन से भी फायदा होता है। विशेषकर मैंने दोस्तों के लिए

पटकथा लिखी थी। व्यावसायिक फिल्मों के लिए अभी तक मैंने नहीं लिखा है। श्याम बेनेगल के लिए और उसके अलावा दो-तीन पटकथा और भी लिखी थीं। पटकथा में हमारे जाने बिना सूक्ष्मता का होना जरूरी है, वैसे होता भी है। यह नहीं होता, ऐसा नहीं हो सकता, इसको काटना पड़ेगा—इस तरह की जोड़-तोड़ शुरुआत से अंत तक होती रहती है। नाटक की रचना-प्रक्रिया के वक्त भी ऐसा होता रहता है। इसलिए पटकथा-लेखन सहायक जरूर है। नाटक और सिनेमा दो अलग माध्यम होने पर भी इस बात का ध्यान हमेशा रखा जाता है। स्क्रीन प्ले शब्द में ही इस आशय को देखा जा सकता है।

*ज्ञानपीठ पुरस्कार, कालिदास सम्मान, पद्मश्री, पद्मभूषण, साहित्य अकादेमी पुरस्कार और फिल्मि पुरस्कार : इस तरह कई पुरस्कार से आप सम्मानित हुए हैं। एक कलाकार के रूप में आपको इससे कोई फायदा?*

सबसे बड़ी उपलब्धि तो यह होती है कि मेरे नाटकों की प्रस्तुति देखने के लिए दर्शक और श्रोता ज्यादातर आने लगते हैं। एक कलाकार के लिए सबसे बड़ी उपलब्धि तो यह है कि उसकी ओर से प्रस्तुत कलारूप को ज्यादा से ज्यादा लोग देखें। उसके लिए पुरस्कार प्रेरणादायक भी रहेगा। पैसे का उसमें कोई महत्त्व नहीं है। लोगों के बीच प्रसिद्धि मिल जाती है। पुरस्कार प्राप्त करने में मुझे कोई संकोच नहीं होता। अगर मैं एक कवि होता तो पुरस्कारों को इस तरह नहीं देखता। कवि कविता रचता है—प्रेम के बारे में, आसमान के बारे में, उसके बाद चुपचाप बैठ जाता है। उनके लिए ऐसी जिंदगी ही काफी है। मगर एक नाटककार की कहानी कुछ अलग है। उसके लिए नाटक देखने वाले और उनका समर्थन भी बहुत जरूरी है। उसे दर्शक के रूप में विभिन्न जगहों के, विभिन्न भाषाओं के लोग चाहिए। इन सबके लिए पुरस्कार सहायक जरूर होते हैं।

मैं कर्नाटक की राजनीति में भी सक्रिय रूप से शामिल हूँ। बेबुनियादी सपनों का मैं कभी शिकार नहीं हुआ। यह सब कुछ देखने के बाद समाज की ओर से प्राप्त प्रतिष्ठा या इज्जत का प्रतीक है—पुरस्कार।

*आपने एक बार खुद को धर्मवीर भारती, मोहन*

राकेश, विजय तेंदुलकर के साथ खड़ा करके कुछ लिखा था, आप चारों में क्या समानता है?

सबसे पहली बात तो यह है कि हम सब स्वतंत्रता के बाद लिखने लगे हैं। उसकी समस्याएं नाटकों में आमतौर पर देखी जा सकती हैं। कितने भी पुराने इतिवृत्तों को लें तो भी वह समकालिक इसलिए होता है कि हम लोगों ने अत्यधिक सावधानी से लिखा भी था। ऐसा कह सकते हैं—हम लोगों ने नाटक को साहित्य के रूप में देखा था। नाटक के शिल्प-विधान पर भी हमने गंभीरता से विचार किया। ऐसा हम नहीं मानते थे कि कहानी को बातचीत के द्वारा प्रस्तुत करना ही नाटक है। संस्कृत नाटकों को ध्यानपूर्वक देखते थे, उस बारे में खूब पढ़ते भी थे। सन् 1850 के बाद के कंपनी नाटक मनोरंजक थे। एक तरह का कार्निवल यानी आनंदोत्सव जैसा। वे कभी-कभार नई बातों को भी प्रस्तुत करते थे। मगर वह सब मनोरंजन के बोल-बाले में डूब जाता था। सन् 1930-40 तक आंतरिक रूप से पुष्ट कोई नया नाटक हमें देखने को नहीं मिला था। शायद सभी भारतीय भाषाओं की यही स्थिति रही होगी। विशेषकर हिंदी में जो व्यावसायिक सिनेमा का निर्माण हो रहा है, उसकी शुरुआत कंपनी नाटकों की संस्कृति से मानी जा सकती है। 90-100 साल तक कार्यरत रहने पर भी उनकी ओर से एक भी अच्छा नाटक नहीं बना, यह तो विडंबनाभरी स्थिति है। हम लोगों से पहले का जमाना यही था। नाटक की रचना-मूलपाठ ये सब कुछ एकदम अलग और गौर से करने का काम है यही हम लोगों का मानना था। हमने लिखा; आपस में अनुवाद किए; दो-तीन भाषाओं के जरिए नाटक-क्षेत्र को पुनः जागृत करने का प्रयास किया। मेरी राय में ड्रामा शब्द के विशाल अर्थ को हम लोग प्रकाश में लाए थे।

इस समय आप क्या कर रहे हैं?

फिलहाल मैं एक नाटक लिख रहा हूँ। कब उसकी रचना-प्रक्रिया पूर्ण हो जाएगी यह तो नहीं कह सकता। कुछ नाटक लिखने में ज्यादा समय लग ही जाता है। ■

मलयालम से अनु.: सुमित पी.वी.

(फरवरी, 2008)

## संस्मरण

# सार्त्र से मेरी मुलाकात

## ■ एडवर्ड सईद

मुझे लगता है कि हमें समझने की कोशिश करनी चाहिए कि आखिर महान वृद्ध युवतर लोगों की चालों में क्यों आ जाते हैं, या फिर एक अपरिवर्तनीय राजनीतिक विश्वास से बंधे रह जाते हैं। यह हताशा करने वाला है, पर सार्त्र इसी के शिकार थे।

अभी कुछ समय पहले तक बहुचर्चित रहे बुद्धिजवी सार्त्र, अब पूरी तरह से विस्मृत हो चुके हैं। सन् 1980 में उनकी मृत्यु के तुरंत बाद ही उन पर सोवियत गुलागों की ओर आंखें बंद रखने के लिए आक्रमण किया जाने लगा था और यहां तक कि उनके मानववादी अस्तित्ववाद की उसके अवसरवाद, स्वयंसेवावाद और शुद्ध प्रसारवाद के लिए मखौल उड़ाया जाने लगा था। सार्त्र का पूरा जीवन तथा कथित 'नोवो फिलोसोफेस' का विरोध था, जिनका औसत दर्जे का और अनुललेखनीय काम अंध साम्यवाद विरोध था और उत्तर संरचनावादी तथा आधुनिकवादी कुछ अपवादों के अलावा, जिनकी तकनकी आत्ममुग्धता सार्त्र के 'पाप्यूलिज्म' और उनके धीरोदात्त सार्वजनिक राजनीति से गहरा विरोध रखती थी। सार्त्र के कृतित्व की विराटता-उपन्यासकार, निबंधकार, नाटककार, जीवनी लेखक, राजनीतिक विचारक, एक्टिविस्ट के रूप में—ऐसा प्रतीत होता है कि अधिक लोगों को आकर्षित करने की जगह विकर्षण पैदा करती थी। फ्रांस के बहुत उद्धृत लेखकों में से एक वह, अपनी मृत्यु के बी साल के अंदर ही, सबसे कम पढ़े और सबे कम विश्लेषित किए गए लेखकों में शुमार हो गए। उन्होंने अल्जीरिया और वियतनाम पर जो साहसिक 'स्टैंड' लिए वे भुला दिए गए। इसी तरह उनके उत्पीड़ित लोगों के लिए किए गए काम, पेरिस में सन् 1968 के छात्र प्रदर्शनों के दौरान एक माओवादी रेडिकल के रूप में साहसिक उपस्थिति के साथ ही साथ साहित्य के क्षेत्र में उनकी असामान्य पकड़ और उपलिब्धियों (जिनके लिए उन्हें साहित्य का नोबल

पुरस्कार मिला और उन्होंने ठुकराया) को भुला दिया गया। वह विद्वेष का शिकार एक पूर्व 'सैलिबेरीटी' बन गए हैं, सिवाय एंग्लो-अमेरिकी संसार में जहां उन्हें दार्शनिक के रूप में कभी गंभीरता से नहीं लिया गया और जहां सदा उन्हें नम्रतापूर्वक बीच-बीच में उपन्यास और संस्मरणकार, अपर्याप्त साम्यवाद विरोधी, उतना आधुनिक (शिक) और प्रभावशाली नहीं माना जाता जितना कि (कई गुना कम प्रतिभावान) कामू को।

फिर जैसा कि कई फ्रांसीसी चीजों के साथ है फैशन पीछे की ओर मुड़ने लगा, या कम से कम दूर से देखने से तो ऐसा ही लगा। उन पर कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं, एक बार वह फिर (संभवतः कुछ ही समय के लिए) अगर चिंतन और अध्ययन का नहीं भी कहें तो भी चर्चा का विषय तो बन ही गया। मेरी पीढ़ी के लिए वह सदा 20वीं सदी के महान नायकों में रहे हैं। एक ऐसा व्यक्ति जिसकी अंतर्दृष्टि, बुद्धिजीवीय प्रतिभा हमारे समय के हर प्रगतिशील मुद्दे की सेवा में लगी रही। इस पर भी वह कभी न तो पैगबरीय नजर आए और न ही कभी न गलती करने वाले। इसके विपरीत लोग इसलिए सार्त्र के प्रशंसक रहे कि उन्होंने परिस्थितियों को समझने में मदद की और जब कभी भी जरूरी हुआ, राजनीतिक मुद्दों पर अपना समर्थन दिया। वह, यहां तक कि गलती होने की संभावना और कुछ अतिरिक्त कह देने का खतरा उठाते हुए भी, कभी संरक्षकीय रुख अपनाते या बचने की कोशिश नहीं करते थे। लगभग उन्होंने जो भी लिखा वह अपनी आडैसिटि, अपनी स्वतंत्रता (यहां तक कि इसके बड़बोलेपन की स्वतंत्रता के लिए भी)

और इसकी आत्मा की उदात्त के लिए भी पठनीय है।

एक बहुत ही स्पष्ट अपवाद है जो मैं यहां बतलाना चाहूंगा। इसे बतलाने के पीछे यादगार पर हतोत्साहित करने वाली मिस्र की उनकी यात्राओं पर हुई दो चर्चाएँ हैं जो पिछले दिनों अल-अहराम साप्ताहिक में प्रकाशित हुई हैं। एक बर्नार्ड-हेरनरी लेवी की हाल ही में सार्त्र पर प्रकाशित पुस्तक की समीक्षा में है और दूसरी लोटफी अल-खोली की उस यात्रा की समीक्षा है। (अल-खोली-जाने-माने बुद्धिजीवी हैं और सार्त्र के मिस्र के मेजबानों में से थे।) मेरा सार्त्र के साथ लगभग विस्मृत-सा अनुभव एक महान व्यक्ति के साथ एक बहुत ही साधारण-सा अनुभव था। लेकिन यह अपनी विडंबना और भावात्मकता के लिए याद करने लायक है।

यह जनवरी 1979 के शुरू के दिनों की बात है। मैं न्यूयार्क में अपने घर में अपने लेक्चर की तैयारी कर रहा था। घंटी ने बतलाया कि टेलीग्राम है आर जैसे ही मैंने इसे खोला तो उत्सुकता से देखा कि वह पेरिस से था। 'ला टेम्पेस माडर्नेस' आपको 'मध्य-पूर्व में शांति' विषय पर इस वर्ष 13 व 14 मार्च को पेरिस में होने वाले सेमिनार में भाग लेने के लिए आमंत्रित करता है—सीमन द 'बोआ और ज्यां पाल सार्त्र।' पहले तो मुझे लगा कि यह तार कोई मजाक है। यह कोसिमा और रिचर्ड वेगनर की ओर से बेरियोथ आने का निमंत्रण या फिर टी.एस.एलियट और वर्जीनिया वुल्फ की ओर से डायल के दफ्तर में एक शाम गुजारने के निमंत्रण जैसा था। मुझे न्यूयार्क और पेरिस के अपने कई मित्रों की मार्फत यह सुनिश्चित करने में दो दिन लग गए कि यह वास्तव में सही है और अपन बिना किसी शर्त के भाग लेने की स्वीकृति भेजने में (यह जानने के बाद कि फ्रांसीसी में ला मोडेलिटीज का अर्थ यात्रा खर्च होता है और इसे सार्त्र द्वारा युद्ध के बाद स्थापित मासिक पत्र ला टेम्पेस माडर्नेस द्वारा उठाया जाएगा।) कई गुना कम देर की। कुछ सप्ताह बाद मैं पेरिस को रवाना हुआ। ला टेम्पेस माडर्नेस ने फ्रांसीसी और बाद में योरोपीय, यहां तक कि तीसरी दुनिया के देशों के बौद्धिक जगत में असाधारण भूमिका निभाई थी। सार्त्र ने अपने साथ कई प्रतिभाशाली लोगों को जोड़ लिया था—सब उनसे सहमत नहीं थे—जिनमें बोउवा तो थी

हीं, उनके अलावा सार्त्र के उतने ही महत्वपूर्ण विरोधी रेमंड एरॉ, जाने-माने दार्शनिक और इकोल नार्मेल के सहपाठी मारिस मालू-पोंटी (जो कुछ साल बाद पत्रिका से अलग हो गए थे) और इथेनोग्राफर, अफ्रीका विशेषज्ञ तथा बुलफाइटर सिद्धांतकार माइकेल लिरिस थे।

1967 के अरब-इजराइली युद्ध समेत, जिस कि ला टेम्पेस माडर्नेस का वृहदाकार अंक निकाला गया था और इसमें आइएफ स्टोन का एक अद्भुत लेखक प्रकाशित हुआ था, कोई भी ऐसी जाना-माना विषय नहीं था जिस पर सार्त्र और उनके साथियों ने नहीं लिखा हो। इस अकेले कारण ने मेरे लिए पेरिस यात्रा को महत्वपूर्ण बना दिया था।

जब मैं पहुंचा तो सार्त्र और बोउवा का एक रहस्यमय पत्र लैटिन क्वार्टर के मेरे होटल के कमरे में मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। 'सुरक्षा कारणों से' पत्र में लिखा था 'मीटिंग माइकेल फोकल्ट के घर में होगी।' मुझे पता बता दिया गया और अगले दिन दस बजे मैं फोकल्ट के अपार्टमेंट में पहुंचा जहां, सिवा सार्त्र के कई लोग जमा थे किसी ने कभी उन रहस्यमय 'सुरक्षा कारणों' के बारे में एक शब्द नहीं कहा जिन की वजह से स्थान परिवर्तन हुआ था। हां, इसके कारण हमारी सारी कार्यवाही में एक षडयंत्रकारी गंध जरूरी छाया रही। बोउवा वहां हर किसी को, जो उनकी केट मिलेट के साथ आगामी तेहरानी यात्रा, जहां वह चदर के विरुद्ध प्रदर्शन करने की सोच रही थीं, के बारे में सुनने को तैयार था, भाषण देने में लगी हुई थीं। उनका यह पूरा विचार ही मुझे बहुत ही संरक्षकीय और बेमतल का लगा। यद्यपि मैं यह सुनने को उत्सुक था कि बोउवा क्या कहती है, पर मुझे महसूस हुआ कि वह इस समय बहुत ही बन रही हैं और किसी भी तरह की तार्किक बातचीत की स्थिति में नहीं हैं। कॉकल्ट ने मुझे यह बतलाने में देर नहीं लगाई कि उनके पास सेमिनार में कहने को कुछ नहीं है और वह जल्दी ही अपने दैनिक अनुसंधान के काम के लिए सीधे बिलिओथिक नेशनल (राष्ट्रीय पुस्तकालय) चले जाएंगे उनके बुक शेल्वों में, जिनमें कि समाचारपत्र और पत्रिका आदि सामग्री का अंबार करीने से लगा हुआ था, अपनी पुस्तक बिगनिंग्स देख कर मुझे खुशी हुई। यद्यपि हम काफी प्रेम पूर्वक बात करते रहे पर इस बात का कुछ आभास मुझे बहुत बाद में (उनके मरने के लगभग दस साल बाद 1984 में) हुआ कि

वह मुझसे मध्यपूर्व की राजनीति के बारे में कुछ भी कहने से क्यों कतरा रहे थे। दीदीएर एरिबोन और जेम्स मिलर दोनों ने अपनी जीवनियों में लिखा है कि 1967 में वह ट्यूनीशिया में अध्यापन कर रहे थे और उन्होंने जून के युद्ध के बाद कुछ हड़बड़ी में देश छोड़ा था। कॉकल्ट ने उस समय बतलाया था कि उनके वहां से लौटने का कारण उस दौरान हुए सेमेटिक और इजराइल विरोधी असहनीय दंगे थे जो कि युद्ध के बाद सभी अरब शहरों में हुए थे। ट्यूनिस विश्वविद्यालय दर्शनशास्त्र विभाग की उनकी एक साथी ने 1990 के शुरू में मुझे कुछ और ही कथा सुनाई। इस महिला ने बताया कि कॉकल्ट को युवा छात्रों के साथ समलैंगिक हकरतों के कारण देश निकाला दिया गया था। मुझे अभी तक पता नहीं कि कौन-सी बात सही है। पेरिस सेमिनार के दौरान उन्होंने मुझे बताया कि वह अभी-अभी ईरान से कोरिएरा डेला सेरा के विशेष प्रतिनिधि के रूप में यात्रा कर के लौटे हैं। मुझे याद पड़ रहा है कि उन्होंने इस्लामिक क्रांति के उन प्रारंभिक दिनों को 'बहुत ही उत्तेजक, बहुत ही अजीब और उन्माद से भरा' बताया था। मुझे लगता है (संभवतः मैं गलत होऊँ) मैंने उन्हें यह भी कहते हुए सुना था कि तेहरान में उन्होंने विंग (नकली बाल) पहन कर अपना वेश बदला था पर अपने लेखों के छपने के कुछ ही समय बाद उन्होंने तेजी से अपने को ईरान से संबंधित हर चीज से अलग कर लिया था। अंतिम बात इस संदर्भ में यह है कि 1980 के अंतिम दौर में गिलेस डेलुएज ने मुझे बतलाया कि वह और फॉकल्ट जो कभी घनिष्ठ मित्र थे, फिलिस्तीन के प्रश्न पर अलग हुए थे। फॉकल्ट इजराइल समर्थ हो गए थे और डेलुएज फिलिस्तीन!

फॉकल्ट का अपार्टमेंट यद्यपि बड़ा था और ऊपर से अत्यंत आरामदेह नजर आ रहा था पर सफेद और मितव्यायी था, जो कि अकेले काम करने वाले दार्शनिक के लिए उपयुक्त था। संभवतः वहां उनके अलावा और कोई नहीं रहता था। कुछ फिलिस्तीनी और इजराइली यहूदी उस दिन वहां थे। उनमें मैं इब्राहिम डक्काक, जो तब से मेरे जेरुसेलम में रहने वाले मित्र बन गए हैं, बिर जैट्ट में अध्यापक नफेजश नज़्जशल जिन से अमेरिका से ही मेरा हल्का-फुल्का परिचय था और पूर्व इजराइली सैनिक गुप्तचर प्रमुख और 'अरब मानसिकता' का जाना-माना इजराइली विशेष येहोशोफात था,



जिसे गोल्डा मेयर ने सेना को गलती से सावधान (अलर्ट) हो जाने की सूचना देने के कारण निकाल दिया था। तीन वर्ष पहले हम दोनों बिहेवियरल साइंस (मानव व्यवहार विज्ञान) के स्टैनफोर्ड सेंट फॉर एडवांस स्टडी में साथी रहे थे पर हमारे बीच किसी तरह कोई खास संबंध नहीं बना था। एक सौजन्यता तो थी पर किसी तरह की कोई आत्मीयता नहीं थी। पेरिस में वह अपनी स्थिति में परिवर्तन कर इजराइल का प्रमुख सरकारी शांति समर्थ बनने में लगा हुआ था, एक ऐसा व्यक्ति जिसने कि जल्दी ही खुले आम एक फिलिस्तीनी राज्य के पक्ष में बोलना शुरू कर दिया। उसका विचार था कि यह राज्य इजराइल की रणनीति के लिए लाभप्रद साबित होगा। अन्य प्रतिभागी अधिकांशतः इजराइली और फ्रांसीसी यहूदी थे जो कि कट्टर धार्मिक से लेकर पूरी तरह सेक्यूलर तक थे, यद्यपि ये सब किसी न किसी रूप में जिश्योनिस्ट समर्थक थे। ऐसा लगता था कि इन में से एक इली बेन गाल का सार्त्र से पुराना परिचय है। हमें बताया गया कि वह हाल की इजराइली यात्रा के दौरान सार्त्र का गाइड था।

जब नियत समय के काफी बाद अंततः वह समहान आदमी आए तो मुझे देख कर गहरा आघात लगा कि वह बहुत ही बूढ़े और कमजोर हो गए थे मुझे याद आ रहा है कि कॉकल्ट बड़ी देर तक और बहुत ही मूर्खतापूर्ण तरीके से उन्हें अपना परिचय देते रहे। मुझे यह भी याद आ रहा है कि सार्त्र को लगातार कुछ लोग घेरे हुए थे जो उनको सहारा दे रहे थे और जरूरत पड़ने पर बताते भी जा रहे थे। इन लोगों पर वह पूरी तरह से निर्भर थे। बदल में इन लोगों ने सार्त्र को अपनी जीवन का मुख्य धंधा बना लिया था। एक उनकी दत्तक पुत्री थी, जो मुझे बाद में पता चला उनके साहित्यिक लेन-देन को देखती थी। मुझे पता चला कि वह अल्जीनियार्ड मूमल की हैं। एक और सज्जन थे पीयरे विकटर जो कभी माओवादी रहे थे और अब बंद हो चुके गाउच प्रोलेतेरिऐने के सार्त्र के साथ सह-प्रकाशक थे, जो अब अत्यंत धार्मिक और मुझे लगता है आर्थोडॉक्स यहूदी हो चुके थे। पत्रिका के एक सहायक से मुझे यह जान कर धक्का लगा कि वह मिस्त्री मूल का यहूदी है जिसका नाम बेनी लेवी है और वह तथाकथित मोहम्मद हुसैन युगल में से एक आदेल रेफत (उर्फ लेवी) का भाई है (दूसरा एक मिस्त्री

मुस्लिम था। ये दो यूनेस्को में काम करते थे और वहां 'मोहम्मद हुसैन' ने ला लुटे द क्लासेज एन इजिप्ट नाम की चर्चित किताब लिखी थी, जिसे मासपेरो ने प्रकाशित किया था।) विकटर कही से भी मिस्त्री नहीं नजर आता था। वह पश्चिमी तट के बुद्धिजीवी के रूप में आया था, जो कुछ विचारक और कुछ तक दादा किस्म का था। तीसरी एक त्रैभासिक औरत हेलेन वॉन बॉवलो, थी जो कि पत्रिका में काम करती थी और सार्त्र के लिए हर चीज का अनुवाद करती थी। यद्यपि सार्त्र जर्मनी में रह चुके थे और उन्होंने हेडेगर पर ही नहीं लिखा था बल्कि फॉनकर और डॉस पॉसोस पर भी लिखा था पर वह न तो जर्मन जानते थे और न ही अंग्रेजी। सज्जन और सुंदर वॉन पासोस मिनार के दोनों दिन सार्त्र के बगल में रही और उनके कान में अनुवाद फुसफुसाती रही। विसेना के एक फिलिस्तीनी के अलावा जो कि अरबी और जर्मनी ही जानता था, हमारी चर्चा अंग्रेजी में ही चली। सार्त्र वास्तव में कितना समझे यह मुझे कभी भी पता नहीं चल पाएगा पर यह (मेरे और अन्य लोगों के लिए) काफी उद्दिग्न करने वाला था कि वह पहले सारे दिन की चर्चाओं के दौरान चुप्प रहे। सार्त्र का जीवनीकार माइकल कांटेट भी वहां था पर उसने भी भाग नहीं लिया।

दोपहर का भोजन बहुत ही विस्तार से था, जो कुछ दूर पर स्थिति एक रेस्त्रां में किया गया था। मुझे लगा संभवतः यह फ्रांसीसी तरीका होगा। चूंकि लगातार वर्षा हो रही थी सब लोगों को वहां तक टैक्सियों में ले जाना, चार कोर्स का भोजन करना और फिर उन्हें वापस लाने से साढ़े तीन घंटे ले लिए। इस तरह से 'शांति' पर हमारी पहले दिन की चर्चा तुलनात्मकरूप से छोटी ही रही। जहां तक मेरा अनुमान है विकटर ने चर्चा के विषय बिना किसी की राय लिए तय किए थे। शुरू में ही मुझे लग गया था कि वह जो मर्जी में आता है कतर है और इसका श्रेय उसकी सार्त्र से निकटता को जाता है (जिनके साथ वह बीच-बीच में फुसफुसाहट में कुछ बात कर लेता था) जो कि उसे उदात्त आत्मविश्वास से भर रहा था। हम को जिन विषयों पर चर्चा करनी थी उनमें (1) इजराइल और मिस्त्र के बीच हुए शांति समझौते का महत्त्व (यह कैप डेविड का जमाना था), इजराइल और अरब दुनिया के बीच सामान्य तौर पर शांति और (3) ज्यादा आधारभूत प्रश्न था

इजराइल और आसपास की अरब दुनिया के बीच भविष्य के अहअस्तित्व का। कोई भी अरब इससे प्रसन्न नजर नहीं आ रहा था। मुझे लगा इसने फिलिस्तीनियों के मसल को ही गायब कर दिया है। डक्काक इस पूरी व्यवस्था में असहीज महसूस कर रहे थे और अगले ही दिन वह चले गए। उस दिन की कार्यवाही जैसे-जैसे आगे बढ़ी मुझे धीरे-धीरे समझ में आया कि सेमिनार को एक खास दिशा में ले जाने के लिए पहले से ही काफी बातचीत हो चुकी है और वहां अब संसार का जो भी प्रतिनिधित्व था, उसे पहले ही ले-दे कर के पटा लिया गया था इसलिए वह ज्यादा नहीं बोल रहा था। मैं थोड़ा चकित था कि मुझे इसमें शामिल नहीं किया गया था। तब मुझे लगा कि मैं बेवकूफ था, जो कि सार्त्र से मिलने के उत्साह में पेरिस चला गया था। मिस्त्री बुद्धिजीवियों की तरह जिनके बारे में भी कहा गया था कि वे भी होंगे, यह भी चर्चा थी कि एमैनुएल लेविनास को भी इसमें शामिल किया जाएगा पर उनका कहीं पता नहीं चला। इस बीच हमारी सारी चर्चा को रिकार्ड कर लिया गया था और वह ला टेम्पेस माडर्नेस (सितंबर, 1979) के विशेषांक में प्रकाशित हुई। मुझे यह बहुत ही असंतोषजनक लगा। हम कमोबेश घिसी-पिटी बातों पर ही चर्चा कर रहे थे, इसमें कहीं कोई वास्तविक आपसी समझ नहीं बन रही थी।

बोडवा ने बहुत ही निराश किया था, जो कि इस्लाम और पर्दा करने वाली औरतों पर कुछ पूर्वाग्रही और चलताऊ बातें करके कमरे से फरारि से निकल गईं। उस समय तो मुझे उनकी अनुपस्थिति नहीं खली पर बाद में मुझे लगा उनकी अनुपस्थिति नहीं खली पर बाद में मुझे लगा कि वह होती तो वहां अवश्य कुछ हलचल रहती। सार्त्र की उपस्थिति, जैसी भी वह थी, अभी तरह से ठंडी, सपाट और प्रभावहीन थी। वह घंटों तक एक भी शब्द नहीं बोले लंच के समय मेरे सामने बैठे वह म्लान लग रहे थे जिनसे किसी तरह के संवाद की गुंजाइश नहीं लग रही थी और उनके मुंह से अंडा और मायोनीज असहाय बह रहा था। मैंने उन से बात करने की कोशिश की पर कुछ नहीं हो पाया। संभव है वह बहरे हो चुके हों, पर मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता। मुझे मिला कर वह मुझे अपने विगत के प्रेत लगे। उनकी बहुचर्चित असुंदरता, पाइप और उनके बेहद

सामान्य कपड़े उन पर इस तरह लटक रहे थे जिस तरह खाली मंच पर इस्तेमाल हुआ सामान पड़ा होता है। उस समय मैं फिलिस्तीनी राजनीति में काफी सक्रिय था। 1977 में राष्ट्रीय परिषद का सदस्य बन गया था और अपनी माता जी से मिलने अक्सर बेरूत जाना होता था (यह लेबनान के गृह युद्ध का दौर था) तब मैं अराफत और तत्कालीन सभी प्रमुख नेताओं से लगातार मिला करता था। मैंने सोचा सार्त्र से अगर किसी तरह एक व्यक्तव्य फिलिस्तीन के समर्थन में ले लिया जाए तो यह इजराइल के साथ अपनी जबर्दस्त प्रतिद्वंद्विता के इस उत्तेजक दौर में एक बड़ी उपलब्धि होगी।

सारे लंच के दौरान मुझे पियरे विकटर सेमिनार में किसी स्टेशन मास्टर-सा लगा जिसकी गाड़ियों में सार्त्र भी शामिल थे। मेज पर उनकी रहस्यमय कानाफूसी के अलावा, विकटर डगमगाते उस बूढ़े आदमी को अलग ले जाता था और जल्दी-जल्दी उनक से कुछ करता था, बीच-बीच में उनकी हामी लेता था और ये वापस लौट आते थे। इस बीच सेमिनार का हर सदस्य अपनी-अपनी बात करने में लगा हुआ था जिसके परिणामस्वरूप संवाद हो ही नहीं रहा था यद्यपि यह स्पष्ट हो गया था कि गोष्ठी का वास्तविक उद्देश्य इजराइल को बढ़ाना है (जिसे सा 'सामान्यीकरण' करना कहते हैं) न कि फिलिस्तीन या अरब। मुझसे पहले कई अरब कुछ अति महत्वपूर्ण बुद्धिजीवियों को इस उम्मीद में अपने ध्येय की न्याय संगतता समझाने की कोशिश कर चुके थे, कि वे दूसरे अर्नाल्ड टायनबी या सीन मैकब्राइड बन जाएंगे। इन महान आत्माओं में से कुछ गिने-चुने ही बदले। मुझे सार्त्र इन में से एक लग जिन पर कोशिश की जा सकती थी क्योंकि मैं अजीरिया पर उन्होंने जिस तरह से पक्ष लिया था उसे नहीं भूला था। एक फ्रांसीसी होने के नाते इजराल के बारे में आलोचनात्मक रुख अपनाने से कहीं कठिन वह पक्ष लेना था। साफ है कि मैं गलत था।

जैसे-जैसे पाखंड से भरी अर्थहीन चर्चा आगे बढ़ती गई मुझे रह-रह कर याद आता रहा कि मैं फ्रांस यह सुनने आया था कि सार्त्र क्या कहते हैं, न कि इन लोगों को सुनने जिनके पक्ष को मैं पहले से ही जानता हूँ और वे अब मुझे आकर्षित भी नहीं कर रहे थे। शाम को मैंने अंततः बेशर्मा से चर्चा के बीच में ही कहा कि

हम अब बस सार्त्र को ही सुनना चाहते हैं। इसने दरबारियों में थोड़ा घबराहट पैदा कर दी। सेमिनार को बीच में ही रोक दिया गया और वे अपास में सलाह-मशविरा करने लगे। मुझे यह सब एक साथ ही हास्यास्यपद और दयनीय लगा क्योंकि साफ था कि इस मशविरा में सार्त्र की अपनी कोई भूमिका नहीं थी। अंततः खीजे से लग रहे पियरे विकटर ने हमें बुलाया और किसी रोमन सिनेटर की अनिष्टकारी घोषणा के अंदाज में हमें बताया कि 'डिमेन सार्त्र पारलेरा'। इस तरह हम अगली सुबह की गोष्ठी का बेताबी से इंतजार करते हुए अपने-अपने कमरों चले गए।

निश्चय ही हमारे लिए सार्त्र की ओर से कुछ था; लगभग दो पृष्ठों का एक पहले से ही तैयार किया गया व्यक्तव्य, जिसमें—यह बीस साल पुरानी बात में मात्रा स्मृति के बल पर कह रहा हूँ—जिसमें अनवर सदात की हिम्मत की हर संभव नंगई से तारिक की गई थी। मुझे याद नहीं आ रहा है उतने सारे शब्दों में फिलिस्तीनियों के बारे में, क्षेत्र के बारे में या फिर त्रासद विग के बारे में कुछ कहा गया हो। निश्चय ही इजराइल द्वारा बसाई गई बस्तियों, जो कि फांसीदियों द्वारा अल्जीरिया में बसाई बस्तियों जैसी ही थीं, का कहीं भी उल्लेख नहीं था। यह रायटर के किसी समाचार जितनी ही जानकारी दे रहा था। साफ था कि यह उस भयावह विकटर द्वारा ही सार्त्र को, जिस के कब्जे में वह पूरी तरह लग रहे थे, इस संकट से निकालने के लिए लिखा गया था। यह देख कर मैं हिल गया कि यह बुद्धिजीवी नायक अपनी वृद्धावस्था में ऐस प्रतिक्रियावादी सलाहकार के हाथों पड़ गया था और उत्पीड़ितों के इस पूर्व-योद्धा के पास फिलिस्तीन के मामले में कहने को, कुछ नहीं था, सिवा पहले ही अति प्रशंसित मिमी नेता की बहुत ही सामान्य, अखबारी प्रशंसा करने को उसके बाद सार्त्र दिन के लिए फिर चुप हो गए और कारवाही पहले की तरह चलती रही। मुझे एक सुनी हुई बीस वर्ष पुरानी कहानी याद आई जिसके अनुसार सार्त्र फेनन से मिलने (जो उस समय रक्त कैंसर के कारण मृत्यु सय्या पर थे) रोम गए थे और उन्हें (ऐसा कहा जाता है) 16 घंटे तक बिना रुके अल्जीरिया के नाटकॉण पर भाषण देते रहे थे। अंततः सिमोन को उन्हें रोकना पड़ा था। वह सार्त्र पूरी तरह से कहीं खो गए थे। कुछ महीने बाद जब सेमिनार

की ट्रांसक्रिप्ट छपी सार्त्र के व्यक्तव्य को संपादित कर और भी प्राणहीन कर दिया गया था। ऐसा क्या किया गया मैं इसका अनुमान नहीं लगा सकता, न ही मैंने कभी जानने की कोशिश ही की। यद्यपि ला टेम्पेस माडर्नेस का वह अंक आज भी मेरे पास है जिसमें हम लोग छपे थे, पर वह सामग्री मुझे इतनी निरर्थक लगती है कि इसके एकआध अंशों से ज्यादा को मैं दुबारा पढ़ पाने की कभी हिम्मत ही नहीं कर पाया। मैं पेरिस सार्त्र को सुनने उसी भावना से गया था जिस उत्साह से सार्त्र को मैं आने के लिए अरब के बुद्धिजीवियों द्वारा आमंत्रित किया गया था कि अरब के बुद्धिजीवी उन्हें देख सुन सकें। दोनों के नतीजे लगभग एक से हुए थे यद्यपि मेरी मुलाकात कडुवाहट से नहीं भरी थी पर एक गैरजरूरी बिचौलिए पियरे विकटर, जो कि अब गायब हो गया है और जो कि बिल्कुल सही भी हुआ है, के कारण खास रंग में अवश्य रंग गई थी। मुझे लगा मैं फबरिस की तरह वाटरलू क युद्ध को—हारा और निराश—याद कर रहा हूँ।

एक और बात। कुछ सप्ताह पूर्व मेरी नजर अचानक बर्नार्ड पिवोटे के साप्ताहिक चर्चा के कार्यक्रम 'बावेलॉन द कल्चर' पर पड़ी जो कि फ्रांसीसी टेलीविजन पर दिखाए जाने के कुछ समय बाद अमेरिका में दिखलाया जाता है। कार्यक्रम सार्त्र के राजनीतिक पापों को लेकर सतत हो रही आलोचना के संदर्भ में उनके मृत्युपरांत पुनर्स्थापन पर था। बर्नार्ड-हेनरी लेवी, जो कि उस दौरान प्रतिभा और राजनीतिक हिम्मत के कारण सार्त्र का प्रतिरूप थे, बुजुर्ग दार्शनिक के अपने सहमतिपूर्ण अध्ययन को प्रस्तुत कर रहे थे। (सच यह है कि मैंने इसे पढ़ा नहीं है और न ही जल्दी पढ़ने जा रहा हूँ।) लेवी ने संरक्षकीय अंदाज में कहा था कि वह इतने खराब नहीं थे। अंततः उनमें कई बातें ऐसी थीं जो कि सदा श्लाघनीय और राजनीतिक रूप से सही हैं। लेवी ने इसे सार्त्र की उस आलोचना से, जो मानती है कि साम्यवाद के बारे में वह सदा गलत थे (इस घृणास्पद मंत्र को पॉल जानसन ने चलाया था), सही मानते हुए संतुलित करने की कोशिश की थी। 'उदाहरण स्वरूप', लेवी ने सुरीली आवाज में कहा था 'इजराइल को लेकर सार्त्र बिल्कुल अडिग रहे। उनमें किसी तरह की भटकन नहीं थी और यहूदी राज्य के वह पूर्ण समर्थक थे।'

## नोम चोम्स्की का अकेलापन

■ अरुंधति राय

सुप्रसिद्ध चिंतक, भाषाशास्त्री और पब्लिक इंटलेक्चुअल नोम चोम्स्की ने गत नवंबर में 90 वर्ष पूरे किए हैं (जन्म: 7 नवंबर 1928)। उनके सम्मान में यह लेख इस अंक में विशेष तौर पर पुनः प्रकाशित किया जा रहा है।

“मैं कभी भी संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए माफी नहीं मांगूंगा। तथ्य क्या हैं मुझे परवाह नहीं है।”

— राष्ट्रपति जॉर्ज बुश सीनियर

नई दिल्ली में अपने घर में बैठे हुए, एक अमेरिकी टीवी समाचार चैनल को देखते हुए जो अपना प्रचार इस तरह करता है (“हम समाचार प्रस्तुत करते हैं, फैसला आपका”) मैं नोम चोम्स्की की प्रसन्न व दबी-सी मुस्कराहट की कल्पना करती हूँ।

हर कोई जानता है कि तानाशाही शासन, फिर चाहे वे किसी भी विचारधारा के हों, जनसंचार माध्यमों का इस्तेमाल प्रचार के लिए करते हैं। लेकिन ‘आजाद विश्व’ की लोकतांत्रिक पद्धति से चुनी गई सरकारें क्या करती हैं?

आज नोम चोम्स्की और उनके साथी मीडिया विश्लेषकों के हम आभारी हैं कि हजारों बल्लि करोड़ों हम जैसे लोगों को यह स्वयंसिद्ध है कि ‘मुक्त बाजार’ लोकतंत्रों में जनमत को ठीक उसी तरह बनाया जाता है जिस तरह कि—साबुन, बिजली के खटके या स्लाइस की हुई डबल रोटी जैसी आम उपभोक्ता सामग्री।

हम सभी जानते हैं कि यद्यपि कानूनी और संवैधानिक रूप से, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता हो सकती है, लेकिन इस स्वतंत्रता के इस्तेमाल के मंचों (स्पेस) को हमसे छीन लिया गया है और सबसे ऊंची बोली लगाने वाले को नीलाम कर दिया गया है। नवउदार पूंजीवाद (कुछ लोगों के लिए) मात्र पूंजी संचित करना नहीं है। यह सत्ता (कुछ के लिए) संचित करना, आजादी (कुछ के लिए) संचित करना भी है। दूसरे तरीकों से देखें तो बाकी सारी दुनिया यानी उन लोगों के लिए जो

नवउदारवाद की गवर्निंग बॉडी (संचालन समिति) से बाहर हैं, यह पूंजी के क्षरण, सत्ता के क्षरण और स्वतंत्रता के क्षरण का मसला है। ‘मुक्त’ बाजार में स्वतंत्र अभिव्यक्ति दूसरी किसी भी चीज जैसे कि—न्याय, मानवाधिकार, पीने का पानी, स्वच्छ हवा—की तरह एक जिंस बन गई है। यह केवल उनके लिए है इनमें इसे खरीदने की सामर्थ्य है। और स्वाभाविक है कि जो इसे खरीद सकते हैं वे इस स्वतंत्र अभिव्यक्ति का इस्तेमाल उस तरह के माल के निर्माण, उस तरह के जनमत को तैयार करने के लिए करते हैं जो उनके हितों के लिए सबसे ज्यादा फायदेमंद हो। (न्यूज दे कैन यूज यानी समाचार जिसका वे उपयोग कर सकें।) यह किस तरह किया जाता है, चोम्स्की के अधिकांश राजनीतिक लेखन का विषय यही है।

उदाहरण स्वरूप प्रधानमंत्री सिलवियो बर्लूसकोनी की मुख्य इतालवी अखबारों, पत्रिकाओं, टेलीविजन चैनलों और प्रकाशन गृहों में हिस्सेदारी है। *फाइनेंसियल टाइम्स* की रिपोर्ट के अनुसार “प्रधानमंत्री का वास्तव में इतालवी टेलीविजन के नब्बे फीसदी दर्शकों पर नियंत्रण है।” अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता कैसी? किसके लिए? निश्चय ही बर्लूसकोनी असामान्य उदाहरण है। अन्य लोकतंत्रों, खासकर संयुक्त राज्य अमेरिका में—मीडिया उद्योगपति, शक्तिशाली कॉरपोरेट लॉबी और सरकारी अधिकारी कम प्रत्यक्ष और ज्यादा जटिल तरीके से अपना जाल फैलाए हैं। (जार्ज बुश जूनियर का तेल लॉबी, हथियार उद्योग और एनरॉन से ताल्लुक और एनरॉन का अमेरिका के सरकारी संस्थानों और मास मीडिया में घुसपैठ—अब सब जानसाधारण की जानकारी में है।)

न्यूयॉर्क और वाशिंगटन पर 11 सितंबर,

आज भी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि वे कौन से कारण थे कि सार्त्र वास्तव में सदा जीवनवाद समर्थक रहे। क्या यह इसलिए था कि वह सेमीवाद विरोधी लगने से डरते थे या इसलिए कि वह होलोकास्ट (यहूदियों के नरसंहार) को लेकर अपराधबोध से पीड़ित थे, या इसलिए कि उन्होंने फिलिस्तीनियों को उत्पीड़ितों और इजराइल के अन्याय के विरुद्ध लड़ रहे लोगों के रूप में देखने-समझने की कोशिश ही नहीं की थी, या कोई और कारण रहा हो मैं नहीं जानता। मैं जो जानता हूँ वह यह कि एक बहुत ही वृद्ध आदमी के तौर पर भी वह वैसे के वैसे ही थे जैसे कि कुद कम वृद्धावस्था में हर उस अरब के लिए (सिवाय अल्जीरिया के) जो उनकप प्रशंसक था, भयावह रूप से निराश करने वाले। निश्चय ही बर्नार्ड रसल सार्त्र से बेहतर थे। अपने अंतिम वर्षों में (यद्यपि मेरे प्रिंस्टन के पुराने सहपाठी और एक समय के मित्र राल्फ शोएनमैन द्वारा बतलाए अनुसार, कुछ कहेंगे कि दबाव में) उन्होंने वास्तव में इजराइल की अरब संबंधी नीतियों का विरोध किया था। मुझे लगता है कि हमें समझने की कोशिश करनी चाहिए कि आखिर महान वृद्ध लोग युवतर लोगों की चालों में क्यों आ जाते हैं, या फिर एक अपरिवर्तनीय राजनीतिक विश्वास से बंधे रह जाते हैं। यह हताश करने वाला है पर सार्त्र इसी के अरबों की वाजिब समस्या को समझने की उन्होंने कभी कोशिश नहीं की। और यह इजराइल के कारण था या फिर आधारभूत संवेदनहीनता—सांस्कृतिक या संभवतः है। इसमें वह अपने मित्र और आदर्श जां जेने से बिल्कुल भिन्न थे, जिन्होंने कि फिलिस्तीनियों के प्रति अपने इस चकित करने वाले लगाव को उनके बीच रह कर और क्वाटरे ह्यूरेस ए सेबरा एट चेटिला और ला कैपटिफ एमोरोक्स लिखकर अभिव्यक्त किया था।

पेरिस की हमारी संक्षिप्त और निराशाजनक मुलाकात के एक वर्ष बाद सार्त्र बाद का देहांत हो गया। मुझे आज भी याद है उनकी मौत से मुझे कितना सदमा पहुंचा था। ■

अनु. : एम.आर. फारूखी

(लंदन रिव्यू ऑफ बुक्स से साभार)

(जनवरी-फरवरी, 2003)

2001 के आतंकवादी हमलों के बाद मुख्यधारा के मीडिया का खुल्लम-खुल्ला अमेरिकी सरकार का भौंपू बन जाना, इसका प्रतिशोधी देशभक्ति का प्रदर्शन, पेंटागन द्वारा जारी एकतरफा प्रचार को समाचार के रूप में छापना और इसका विरोध, विचारों का नंगई से सेंसर करना बाकी दुनिया में कडुए मजाक का विषय बन गया था।

तब न्यूयॉर्क का स्टॉक एक्सचेंज बैठ गया, दिवालिया हो गई हवाई जहाज कंपनियों ने सरकार से आर्थिक मदद की गुहार लगाई और एंथ्रेक्स के खौफ से लड़ने के लिए पेटेंट की उपेक्षा कर दवाओं के उत्पादन की बात सुनी जाने लगी (यह निश्चय ही अफ्रीका में एड्स से लड़ने के लिए उत्पादन की जाने वाली जिनेटिक दवाओं से कई गुना ज्यादा महत्वपूर्ण है।) उत्पादन के मुद्दे पर एकस्व अधिकार (पेटेंट) को घेरने की बात चल रही थी। अचानक ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे 'स्वतंत्र अभिव्यक्ति' और 'मुक्त बाजार' के जुड़वां मिथक भी वर्ल्ड ट्रेड सेंटर की जुड़वां इमारतों के साथ भराभराकर गिर पड़ेंगे। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। मिथक अभी जीवित हैं।

फिर भी जिस पैमाने पर ऊर्जा और पैसा जनमत को 'नियंत्रित' करने के धंधे में लगाया जाता है उसका एक उज्वल पक्ष भी है। इससे जनमत से एक वास्तविक खौफ का संकेत मिलता है। यह एक सतत और वाजिब चिंता का संकेत करता है कि अगर लोगों को वास्तविकता का पता चल गया (और उनकी समझ में यह पूरी तरह आ गया) कि उनके नाम पर क्या जा रहा है तो संभव है वह इस जानकारी का इस्तेमाल करें। ताकतवर लोग जानते हैं कि साधारण लोग आदतन सदा निर्मम और मतलबी नहीं होते। (जब साधारण लोग लाभ-हानि का हिसाब लगाते हैं तो उनकी बेचैन आत्मा जैसी चीज स्थितियों को उलट-पुलट देती है।) इसी कारण उन्हें सच्चाई से दूर रखा जाना जरूरी होता है, उसे नियंत्रित वातावरण में, एक कटे-छटे यथार्थ में बाड़े के सुअर या मुर्गियों की तरह सेता जाता है।

हममें से वे लोग जो इस नियति से बच सके हैं और पिछवाड़े में खुदर-बुदर कर रहे हैं, अब अखबार में पढ़ी हर खबर या टेलीविजन पर देखे समाचार पर विश्वास नहीं करते हैं। हम अपने कान धरती पर लगाते हैं और दुनिया

को समझने के लिए अन्य तरीकों की तलाश करते हैं। हम अनकी कहानी ढूँढते हैं, सैन्य तख्तापलट में सरसरी तौर पर उल्लिखित बातों को देखते हैं, उस नरसंहार को तलाशते हैं जिसके बारे में कोई समाचार ही नहीं दिया जाता, लेस लगी चट्टियों के पूरे पन्ने के विज्ञापन के बगल में किसी अफ्रीकी देश के गृहयुद्ध के एक कॉलम इंच समाचार को देखते हैं।

हमें शायद याद नहीं रहता, और बहुत तो जानते भी नहीं, कि अगर दुनिया के सबसे महान दिमागों में से एक द्वारा यह अथक और निर्भीक मीडिया विश्लेषण न किया गया होता तो यह सोचने का तरीका, यह स्पष्टता, यह मास मीडिया पर सहज अविश्वास, बहुत हुआ तो राजनीतिक अनुमान अन्यथा एक ढीला-ढाला इल्जाम हो जाता। और यह केवल एक तरीका है जिससे नोम चोम्स्की ने समाज के बारे में हमारी समझ को आधारभूत तरीके से प्रभावित किया है। या फिर मुझे कहना चाहिए कि जिस पागलखाने के हम स्वेच्छा से निवासी हैं, हमारी उसके विस्तृत नियमों की समझ को प्रभावित किया है?

न्यूयार्क और वाशिंगटन में 11 सितंबर के हमले के विषय में बात करते हुए राष्ट्रपति जार्ज डब्ल्यू बुश ने अमेरिका के दुश्मनों को "स्वतंत्रता का दुश्मन" कहा। उन्होंने आगे जोड़ा, "अमेरिकी पूछते हैं वह हमसे नफरत क्यों करते हैं? वे हमारी स्वतंत्रताओं, हमारी धार्मिक स्वतंत्रता, हमारी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, हमारी मतदान और एकत्रित होने तथा एक-दूसरे से असहमत होने की स्वतंत्रता से नफरत करते हैं।"

अगर अमेरिका के लोगों को इस प्रश्न का सच्चा उत्तर चाहिए तो (इडियट्स गाइड टु एंटी अमेरिकनिज्म—मूर्खों के लिए अमेरिकावाद विरोध निर्देशिका की, "क्योंकि वे हमसे जलते हैं", "क्योंकि वे हार रहे हैं", "क्योंकि हम अच्छे हैं और वे बुरे हैं" के विपरीत) मैं कहूँगी चोम्स्की को पढ़िए। हिंदचीन, लातिन अमेरिका, इराक, बोस्निया, पूर्व यूगोस्लाविया, अफगानिस्तान और पश्चिम एशिया में अमेरिकी सेना की घुसपैठ पर नोम चोम्स्की को पढ़िए।

अगर संयुक्त राज्य अमेरिका में सामान्य जन चोम्स्की को पढ़ें तो शायद उनके प्रश्नों की बनावट भिन्न हो। संभवतः तब प्रश्न हों: "वे

हमसे जितनी नफरत करते हैं उससे ज्यादा क्यों नहीं करते?" या "क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि 11 सितंबर पहले नहीं घटा?"

बदकिस्मती से इस राष्ट्रवादी समय में 'हम' और 'वे' जैसे शब्द बहुत लापरवाही से इस्तेमाल किए जाते हैं। नागरिकों और राज्य के बीच की रेखा को न केवल सरकार द्वारा अपितु आतंकवादियों द्वारा भी जान-बूझकर और सफलता से धुंधलाया जा रहा है। आतंकवादियों के आक्रमणों के साथ ही साथ आतंकवाद का समर्थन करने वाली सरकारों के खिलाफ बदले की कार्रवाई का अंतर्निहित तर्क एक ही है: दोनों ही सरकारों की गलतियों के लिए नागरिकों को सजा देते हैं।

(एक छोटा-सा विषयांतर: मुझे आभास है नोम चोम्स्की, जो संयुक्त राज्य अमेरिका के नागरिक हैं, उनके लिए अपनी सरकार की आलोचना करना ज्यादा बेहतर आचरण है बजाय कि मेरे, एक भारतीय नागरिक द्वारा इस अमेरिकी सरकार की आलोचना करने के।) मैं कोई देशभक्त नहीं हूँ, और अच्छी तरह जानती हूँ कि भ्रष्टाचार, पाखंड और बर्बरता हर राज्य की पत्थर आत्मा में खुदी हुई हैं। किंतु जब एक देश मात्र देश न रहकर साम्राज्य में तब्दील हो जाता है, तो उसके तौर-तरीके में नाटकीय ढंग से बदलाव आ जाता है। इसलिए क्या यह स्पष्ट कर दूँ कि मैं अमेरिकी साम्राज्य की एक प्रजा के रूप में बोल रही हूँ? मैं एक गुलाम के रूप में बोल रही हूँ जो इस खामख्याली में है कि वह अपने सम्राट की आलोचना कर रहा है।)

अगर मुझे नोम चोम्स्की के विश्व को प्रमुख योगदानों में से एक को चुनने को कहा जाए तो वह यह तथ्य होगा कि उन्होंने इस खूबसूरत और प्रकाशमय शब्द 'आजादी' के पीछे छिपे बदसूरत, कपटी और निर्मम दुनिया को बेनकाब किया। उन्होंने यह तर्कपूर्ण तरीके से और अनुभव के आधार पर किया है। सबूतों का जो अंबार उन्होंने अपना मुकदमा तैयार करने के लिए जुटाया है, वह अकाट्य है। वास्तव में हिला देने वाला है। चोम्स्की की कार्यप्रणाली का आधार सैद्धांतिक नहीं, बल्कि शिद्दत के साथ राजनीतिक होता है। वह अपनी तहकीकात के सफर में, किसी अराजकतावादी की सत्ता के प्रति स्वाभाविक अविश्वास की भावना के साथ आगे बढ़ते हैं। वह हमें अमेरिकी प्रतिष्ठान के कीचड़ से उन गलियारों

की भूलभूलैया में ले चलते हैं जो सरकार, बड़े व्यापार और जनमत को नियंत्रित करने के धंधे को जोड़ते हैं।

चोमस्की हमें दिखाते हैं कि कैसे 'बोलने की आजादी', 'मुक्त बाजार' और 'स्वतंत्र दुनिया' जैसे मुहावरों का स्वतंत्रता या मुक्ति से कोई लेना-देना नहीं है। वह हमें दिखाते हैं कि अमेरिका द्वारा जिन असंख्य आजादियों का दावा किया जाता है उनमें कत्ल करने, तबाह करने, दूसरों पर अधिपत्य जमाने की स्वतंत्रता शामिल है। सारे संसार में तानाशाहों और अधिनायकों को वित्तीय मदद देने और संरक्षण देने की स्वतंत्रता है। आतंकवादियों को प्रशिक्षण देने, हथियार देने और शरण देने की आजादी है। लोकतांत्रिक तरीके से चुनी गई सरकारों को पलटने की आजादी है। जिस भी देश की सरकार से असहमति हो उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ने की आजादी है। और, सबसे भयावह है मानवता के खिलाफ 'न्याय' के नाम पर 'न्यायसंगतता' के नाम पर और 'स्वतंत्रता' के नाम पर ये सारे गुनाह करने की आजादी।

एटार्नी जनरल जॉन एशक्रॉफ्ट का कहना है कि अमेरिकी स्वतंत्रताएं "किसी सरकार की भेंट या दस्तावेज नहीं हैं, बल्कि... ईश्वर प्रदत्त हैं।" यानी, हमारा मुकाबला मूलतः एक ऐसे देश से है जिसको सीधा खुदा से फरमान मिला हुआ है। इससे संभवतः यह तो साफ हो ही जाता है कि अमेरिका जिन नैतिक मापदंडों से अन्य देशों को तौलता है उन्हें स्वयं पर क्यों लागू नहीं करता। (इस तरह की किसी भी कोशिश को 'नैतिक समतुल्यता' करार कर रोक दिया जाता है।) उसका तरीका स्वयं को एक अच्छी मंशा वाले जिन के रूप में प्रस्तुत करने का है जिसके सारे अच्छे कामों को अजनबी देशों के षड्यंत्रकारी मूल निवासियों द्वारा सदा गड़बड़ने की कोशिश चलती रहती है, जिनके बाजारों को वह मुक्त करने की कोशिश कर रहा है, जिनमें समाजों को वह आधुनिक बनाने की कोशिश कर रहा है, जिनकी औरतों को वह मुक्त करने की कोशिश कर रहा है, जिनकी आत्माओं को वह बचाने की कोशिश कर रहा है।

संभवतः अपनी दिव्यता के प्रति यही विश्वास यह स्पष्ट कर देता है कि क्यों अमेरिकी सरकार ने 'उनके भले के लिए' लोगों को कत्ल और नष्ट करने का जिम्मा

अपने ऊपर लिया हुआ है।

जब अफगानिस्तान के खिलाफ राष्ट्रपति बुश जूनियर ने अमेरिकी हवाई हमलों की घोषणा की तो कहा, "यह संयुक्त राज्य अमेरिका की घोषणा है, जो विश्व में सबसे अधिक स्वतंत्र राष्ट्र है, एक ऐसा देश जो नफरत, हिंसा, हत्यारों, बुराई को नकारने के आधारभूत मूल्यों पर बना है। और हम थकेंगे नहीं।"

अमेरिकी साम्राज्य एक बहुत ही क्रूर नींव पर खड़ा है: करोड़ों देशज लोगों का कत्लेआम, उनकी जमीनों की लूट और इसके बाद, इस जमीन पर काम करने के लिए अफ्रीका से लाखों लोगों को अगुवा करने और दास बनाने की कथा है। हजारों समुद्री यात्रा के दौरान, जब उन्हें जानवरों की तरह पिंजरे में डालकर एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप ले जाया जा रहा था, मर गए। "अफ्रीका से चुराकर अमेरिका में लाए गए"—बॉब मार्ले की *बफैलो सोल्जर्स* (भैंसे सैनिक) में कही न जा सकने वाली उदासी का पूरा का पूरा संसार है। इससे हमें आत्मसम्मान के नुकसान, जंगलों से अलग कर दिए जाने स्वतंत्रता के खोने और एक पूरी जाति के ध्वस्त हुए गौरव के बारे में पता चलता है। नरसंहार और दासप्रथा उस राष्ट्र की सामाजिक और आर्थिक नींव के आधार हैं जिसके आधारभूत मूल्य नफरत, कत्ल और बुराई को अस्वीकार करते हैं।

यह चोमस्की हैं, संयुक्त राज्य अमेरिका की नींव पर 'द मैन्युफैक्चर ऑफ कॉन्सेंट' निबंध लिखते हुए:

"कुछ हफ्तों पहले थैंक्सगिविंग के अवसरवाली छुट्टियों के दौरान मैं कुछ मित्रों और परिवार के साथ एक राष्ट्रीय उद्यान में टहल रहा था। हम एक कब्र के पत्थर के पास से गुजरे जिस पर लिखा था: "यहां एक इंडियन महिला, एक वॉमपैनोआग विश्राम कर रही है, जिसके परिवार और कबीले ने स्वयं को और अपनी जमीन को इसलिए बलिदान कर दिया कि एक महान राष्ट्र पैदा हो सकेगा और पनपेगा।"

निश्चय ही यह सही नहीं है कि देशज लोगों ने स्वयं को और अपनी जमीन को इस महान उद्देश्य के लिए बलिदान कर दिया था। बल्कि मानव इतिहास में नरसंहार की सबसे बड़ी घटना के दौरान उनका कत्लेआम किया गया, उन्हें बर्बाद किया गया और खदेड़ा गया,

जिसका जश्न हम हर अक्टूबर में मनाते हैं जब हम कोलंबस का—जो स्वयं एक भयावह नरसंहारक था—कोलंबस दिवस के रूप में सम्मान करते हैं।

सैकड़ों अमेरिकी नागरिक, अच्छी भावना वाले शालीन लोग, इस कब्र के पत्थर के पास से लगातार गुजरते हैं और इसे पढ़ते हैं, बिना किसी प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया के, सिवाय संभवतः संतुष्टि की इस भावना के आखिरकार हम देशज लोगों का उनके बलिदान के लिए उचित सम्मान कर रहे हैं...। ये लोग शायद अलग ढंग से प्रतिक्रिया करें अगर ये ऑश्चविट्ज या दचरू के भ्रमण पर जापाएं और वहां किसी कब्र पर लगे पत्थर पर यह लिखा पाएं कि: "यहां एक महिला विश्राम कर रही है, एक यहूदी, जिसके परिवार और लोगों ने स्वयं इस राष्ट्र के लिए जिसके परिवार और लोगों ने स्वयं को और अपनी संपत्ति को इसलिए दे दिया कि एक महान राष्ट्र पैदा हो सकेगा और पनपेगा।

संयुक्त राज्य अमेरिका अपने अतीत को कैसे पीछे छोड़ आया और इतना-इतना खुशनुमा नजर आ रहा है? अपने गुनाह कबूल करके नहीं, क्षतिपूर्ति करके नहीं, अश्वेत अमेरिकी या मूल अमेरिकी निवासियों से माफी मांग कर नहीं, और निश्चय ही अपने तौर-तरीके बदल कर नहीं (आज यह अपनी बर्बरता का निर्यात करता है)। अन्य बहुत देशों की तरह संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी अपने इतिहास को नए सिरे से लिखा है। लेकिन, जो अमेरिका को अन्य देशों से अलग करता है और इस दौड़ में आगे रखता है वह यह कि उसने विश्व की एक सफल और शक्तिशाली प्रचार फर्म—हॉलीवुड की सेवाएं ली हुई हैं। इतिहास को प्रचलित मिथकों के तौर पर बैस्ट सैलर के रूप में बेचने में अमेरिकी 'गुडनेस' (अच्छाई) दूसरे विश्वयुद्ध (जो कि अमेरिका के फासीवाद के विरुद्ध युद्ध के रूप में भी जाना जाता है) के दौरान चोटी पर थी। बिगुलों की आवाज और स्वागत गीतों के शोर-गुल में तथ्य दब गया है कि जब योरोप में फासीवाद का नंगा नाच अपने चरम पर था, तो अमेरिकी सरकार दूसरी ओर मुंह किए हुए थी। जब हिटलर यहूदियों का कत्लेआम कर रहा था, तब अमेरिकी नौकरशाही ने जर्मनी से भागे यहूदी शरणार्थियों को अमेरिका में घुसने नहीं दिया था। अमेरिका युद्ध में तभी कूदा जब

जापानियों ने 'पर्ल हार्बर' पर बमबारी कर दी थी। गौरवगान के हल्ले में डूबा, इसका सबसे बरबतापूर्ण कार्य, वास्तव में विश्व के इतिहास में सबसे कू रतम काम हिरोशिमा और नागासाकी के नागरिकों पर परमाणु बम डालना था। युद्ध समाप्त हो चुका था। वे लाखों जापानी जो मारे गए, अनगिनत अन्य जो कै सर से आने वाली कई पीढ़ियों तक विकलांग हो गए, विश्व शांति के लिए कोई खतरा नहीं थे। वे आम नागरिक थे। ठीक वैसे ही जैसे कि वर्ल्ड ट्रेड सेंटर और पेंटागन पर हुई बमबारी के शिकार आम नागरिक थे। उसी तरह जैसे कि अमेरिका के नेतृत्व में लगाई गई पाबंदियों के कारण इराक में मरने वाले हजारों लोग आमजन थे। हिरोशिमा और नागासाकी पर बमबारी अमेरिकी शक्ति के प्रदर्शन के लिए बहुत ही निर्ममता से सोच-समझ कर अंजाम दिया गया प्रयोग था। उस समय राष्ट्रपति ट्रूमैन ने इसे 'इतिहास की सबसे बड़ी घटना' कहा था।

हमें बताया गया कि दूसरा विश्व युद्ध "शांति के लिए युद्ध था।" परमाणु बम "शांति का हथियार था।" हमें यह समझाया जा रहा है कि परमाणु हथियारों के भय के कारण तीसरा विश्व युद्ध रुका हुआ है। (यह राष्ट्रपति बुश जूनियर के 'बचाव के लिए पहले हमले के सिद्धांत' के आने से पहले था।) क्या द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शांति हुई? सच है शांति तो थी (तुलनात्मक) योरोप और अमेरिका में—लेकिन क्या इसे विश्व शांति कहा जा सकता है? तब तक नहीं जब तक कि उन जगहों पर जहां अश्वेत जातियां (चिंक्स, निगर्स, डिंक्स, वॉग्स, गुक्स—क्रमशः चीनियों, अफ्रीकियों, एशियाइयों और अश्वेतों के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले अपमानजनक शब्द) रहती हैं उन क्षेत्रों में लड़े गए युद्ध मानने से ही इंकार कर दिया जाए तो।

दूसरे विश्व युद्ध से अमेरिका जिन देशों से या तो लड़ता रहा है या जिन पर उसने आक्रमण किया है उनमें—कोरिया, ग्वाटेमाला, क्यूबा, लाओस, वियतनाम, कम्बोडिया, ग्रेनाडा, लिबिया, अल सल्वाडोर, निकारगुआ, पनामा, इराक, सोमालिया, सूडान, यूगोस्लाविया और अफगानिस्तान शामिल हैं। इस सूची में अमेरिकी सरकार द्वारा अफ्रीका, एशिया और लातिन अमेरिका में की गई षड्यंत्रकारी कार्यवाहियां, उसके द्वारा रची गई तख्तापलट

की साजिशें और वे तानाशाह जिनको इसने हर तरह की मदद की तथा समर्थन दिया, भी शामिल होने चाहिए। इसमें शामिल होना चाहिए इस्राइल का अमेरिकी समर्थन से चलाया गया लेबनान का युद्ध, जिसमें हजारों लोग मारे गए। इसमें शामिल होना चाहिए पश्चिम एशिया के संघर्षों में अमेरिका द्वारा निभाई जाने वाली मुख्य भूमिका जिसमें इस्राइल के फिलिस्तीनी क्षेत्र पर किए गए अवैध कब्जे के खिलाफ लड़ते हुए हजारों लोग मारे गए। इसमें शामिल होना चाहिए पश्चिम एशिया के संघर्षों में अमेरिका द्वारा निभाई जाने वाली मुख्य भूमिका भी शामिल होनी चाहिए जिसमें दस लाख से ज्यादा लोग मारे गए। इसमें वे प्रतिबंध और रोकें भी शामिल होनी चाहिए इसमें वे प्रतिबंध और रोकें भी शामिल होनी चाहिए जिनके कारण प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हजारों लोग मारे गए और इराक में जो सबसे प्रखर रूप में सामने आया।

यह सब जोड़ कर देखा जाए तो स्पष्ट तौर पर ऐसा प्रतीत होता है जैसे तीसरा विश्व युद्ध हुआ और अमेरिकी सरकार उसके मुख्य नायकों में थी (या है)।

चोम्स्की के संग्रह *फॉर रिजन्स ऑफ स्टेट* में अधिकांश निबंध अमेरिका के दक्षिणी वियतनाम, पूर्वी वियतनाम, लाओस और कम्बोडिया में आक्रमण के बारे में हैं। यह युद्ध 12 साल से कुछ ज्यादा ही चला। 58 हजार अमेरिकी ने पांच लाख पैदल सेना उतारी। 60 लाख टन से ज्यादा बम गिराए। लेकिन अगर आप हॉलीवुड की फिल्में देखते हैं तो विश्वास नहीं करेंगे कि तब भी अमेरिका युद्ध हार गया।

युद्ध दक्षिण वियतनाम में शुरू हुआ और पूर्वी वियतनाम, लाओस और कंबोडिया तक फैल गया। सैगोन में एक कठपुतली शासन थोप कर अमेरिकी सरकार कम्युनिस्ट विद्रोही वियतकांग गुरिल्लाओं से लड़ाई में उलझ गई जो कि दक्षिणी वियतनामी के ग्रामीण इलाकों में घुसपैठ कर चुके थे, जहां कि गांव वाले उन्हें शरण दे रहे थे।

ठीक इसी बात को, 1979 में रूस ने जब अफगानिस्तान में प्रवेश किया, दोहराया 'मुक्त दुनिया' में ऐसा कोई नहीं है जिसे इस बात को लेकर किसी तरह की शंका हो कि रूस ने अफगानिस्तान पर आक्रमण किया था। ग्लानसोस्त के पश्चात यहां तक कि सोवियत

संघ ने एक विदेश मंत्री ने भी यह माना कि अफगानिस्तान पर आक्रमण "गैरकानूनी और अनैतिक" था। लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका में इस तरह कभी कोई आत्मनिरीक्षण नहीं हुआ। 1984 में चकित करने वाले रहस्योद्घाटन में चोम्स्की ने लिखा:

पिछले 22 सालों से मैं मुख्य धारा की पत्रकारिता या अध्ययनों में अमेरिका द्वारा 1962 में (या कभी) दक्षिण वियतनाम द्वारा 1962 के विरुद्ध आक्रमण या हिंद-चीन में अमेरिकी चढ़ाई पर कुछ संदर्भ ढूंढ रहा हूँ, पर मुझे सफलता नहीं मिली है। इतिहास में ऐसी किसी घटना का कोई उल्लेख नहीं है। उल्टा अमेरिका द्वारा दक्षिण वियतनाम की बाहरी शक्तियों द्वारा समर्थित आतंकवादियों (यानि वियतनाम) के विरुद्ध दी गई सुरक्षा का उल्लेख है।

इतिहास में ऐसी कोई घटना नहीं है।

1962 में अमेरिकी वायुसेना ने दक्षिण वियतनाम के ग्रामीण इलाकों पर बमबारी शुरू की, जहां 80 फीसदी जनता रहती थी। यह बमबारी दस साल से ज्यादा समय तक चलती रही। हजारों लोग मारे गए। योजना यह थी कि बमबारी इतने बड़े पैमाने पर हो कि लोग डर कर गांव से शहर की ओर भागें जहां लोगों को शरणार्थी शिविरों में धर लिया जाए। सैम्यूअल हंटिंगटन ने इसे 'शहरीकरण' का नाम दिया है। (जब मैं वास्तुकला की छात्रा थी तो मैंने भी शहरीकरण के बारे में पढ़ा था। पर मुझे याद नहीं आ रहा है कि हवाई बमबारी भी पाठ्यक्रम का हिस्सा थी।) हंटिंगटन जो आज *क्लैश ऑफ सिविलिजेशन* (सभ्यताओं का संघर्ष) नामक निबंध के कारण प्रसिद्ध हैं—उस समय दक्षिण पूर्व एशिया विकास सलाहकार गुपु के वियतनामी अध्ययन की परिषद के अध्यक्ष थे। चोम्स्की ने उन्हें यह कहते हुए उद्धृत किया है कि वियतकांग "एक शक्तिशाली ताकत हैं उसे तब तक नहीं उखाड़ा जा सकता जब तक कि उनका क्षेत्र बना रहता है।" हंटिंगटन आगे सलाह देते हैं, "मशीनी और परंपरागत ताकत का सीधा प्रयोग"—दूसरे शब्दों में जन-युद्ध को मिटाने के लिए जनता को ही मिटा दो। (या संभवतः इस सिद्धांत को अद्यतन करें तो—सभ्यताओं के टकराव से बचने के लिए, सभ्यता को ही नेस्तनाबूद कर दिया जाए।)

यहां अमेरिका की मशीनी शक्ति की सीमा पर उस समय के एक विश्लेषक की टिप्पणी

देखें—“अमेरिका की मशीनों के साथ दिक्कत यह है कि वे साम्यवादी सैनिकों को मारने का काम करने में बहुत सफल नहीं हैं सिवाय स्कार्चर्ड अर्थ (जमीन के एक पूरे हिस्से के चपे-चपे को ध्वस्त करने) नीति के हिस्से के तौर पर जिससे बाकी सब कुछ भी तबाह हो जाता है।” इस समस्या का अब समाधान कर लिया गया है। कम विध्वंसक बम बनाकर नहीं, बल्कि ज्यादा कल्पनाशील भाषा द्वारा। “बाकी सब कुछ भी तबाह हो जाता है” कहने से ज्यादा शालीन तरीका भी है। वह वाक्य है ‘समानांतर क्षति’।

और यहां अमेरिका की ‘मशीनों’ के बारे में (जिन्हें हंटिंगटन ने ‘आधुनिकता लाने वाले यंत्र’ कहा है और पेंटागन के अधिकारी जिन्हें ‘बॉम-ओ-ग्राम्स’ पुकारते थे) कि वे क्या कर सकती हैं, आंखों देखा हाल है। यह टी.डी. है। सारे आदमी लाओस में जार्स के मैदान के ऊपर उड़ रहे हैं।

चाहे लाओस में युद्ध कल खत्म हो जाए, लेकिन उसके पारिस्थितिकी संतुलन को स्थापित करने में कई वर्ष लगेंगे। मैदान के पूरी तरह से बर्बाद शहरों और गांवों को बसाने में भी इतना ही समय लगेगा। अगर यह हो भी गया तो भी, सैकड़ों हजार जिंदा बमों, बारूदी सुरंगों और बूबी ट्रैप्स के कारण ये मैदान शायद काफी समय तक आदमी को बसने के लिए खतरनाक साबित हों।

हाल ही में जार्स के मैदानों के ऊपर से की गई उड़ाने ने यह खुलासा कर दिया है कि तीन साल से भी कम सहय की अंधाधुंध अमेरिकी बमबारी एक ग्रामीण इलाके का उसके बाशिंदों के हटा दिए जाने के बावजूद क्या हाल कर सकती है। बड़े क्षेत्रों में समशीतोष्ण मूल रंग-चमकीला हरा-गायब हो गए हैं और इसकी जगह काले तथा चमकीले मैटलिक रंगों ने ले ली है। बचे हुए पर्णसमूहों में से अधिकांश का इनके विनाश के लिए डाले गए रसायनों के कारण बढ़ना रुक गया है और वे मलिन हो गए हैं।

आज इस मैदान के उत्तरी पूर्वी छोरों का प्रधान रंग काला है। घास और नीचे उगने वाले झाड़-झंखाड़, जो मैदान व इसकी कई संकीर्ण घटियों को ढकती है, को जानले के बराबर नापाम डाला जाता है। लगता है आग लगातार जलती रहती है जिससे आयताकार काले टुकड़े बन जाते हैं। उड़ाने के दौरान नई-नई की गई

बमबारी के कारण उड़ते धुएं के गुच्छे देखे जा सकते हैं।

स्पष्ट है कि कम्युनिस्ट नेतृत्व के कब्जे वाले इलाके से मैदान को आने वाले मुख्य मार्गों में बड़ी निर्दयता से बिना रुके बम बरसाए जाते हैं। वहां और मैदान के चारों ओर का रंग मुख्यतः पीला हो गया है। सारी वनस्पति नष्ट कर दी गई है। बमों के कारण बने गड्डों की गिनती नहीं है... इस क्षेत्र पर इतनी बार बम बरसा दिए गए हैं कि वह उत्तरी अफ्रीकी के मरुस्थल का तूफान प्रस्त इलाके -सा मथा हुआ उबड़-खाबड़ रेगिस्तान लगता है।

दक्षिण-पूर्व की तरफ और आगे शियांग खुवांगविले—जो कि साम्यवादी लाओस का घनी आबादी वाला शहर था—खाली और बर्बाद पड़ा है। मैदान के उत्तर की ओर का छोटा-सा पर्यटन स्थल खांग खे भी बरबाद कर दिया गया है। किंग कांग हवाई हड्डे के करीब प्रमुख रंग है पीला (खुदी हुई मिट्टी के कारण) और काला (नापाम के कारण) जिस पर लाल और नीले रंग चमकदार धब्बे नजर आते हैं जो कि सामान गिराने के लिए इस्तेमाल पैराशूट हैं।

रहे-सहे स्थानीय लोगों को हवाई साधनों की ओर ठेला जा रहा था। छोड़े हुए सब्जी के बगीचे जिन की सब्जियां अब कभी नहीं तोड़ी जाएंगी, खाली करवा दिए गए उन घरों के पास उगे हुए थे, जिनमें मेजों पर खाने की प्लेटें सर्जों हुई थीं और दीवारों पर कलैंडर अभी भी लटक रहे थे।

(युद्ध की लागत में जिन्हें भी कभी शामिल नहीं किया गया उनमें मरी हुई चिड़ियाएँ, झुलसे हुए जानवर, कत्ल हुई मछलियां, भस्म हुए कीड़े, जहरीला हुआ पानी, और नष्ट हुई वनस्पति हैं। मानवजाति की अन्य प्राणियों व वनस्पतियों के प्रति, जिनके साथ वह इस धरती का हिस्सेदार है, उद्दत व्यवहार की शायद ही कभी चर्चा होती हो। इन सब को बाजार और सिद्धांत की लड़ाई में भुला दिया गया है। यह उद्दतता ही शायद मानवजाति के विनाश का चरम कारण साबित होगी।)

फॉर रिजन्स ऑफ स्टेट (राज्य के कारणों के लिए) का मुख्य निबंध का शीर्षक है *द मैटिलिटि ऑफ बैकरूम बॉयज* (पीछे के कमरों में बैठने वालों की मानसिकता)

जिसमें चोम्स्की पेंटागन पेपर्स का एक विस्तृत और अद्भुत विश्लेषण करते हैं। वह बतलाते हैं कि ये पेपर्स “कानून भंग कर के अंतरराष्ट्रीय मामलों में ताकत के इस्तेमाल करने की साजिश का दस्तावेजी सबूत प्रस्तुत करते हैं कि पेंटागन पेपर्स में हालांकि उत्तर वियतनाम में बमबारी पर चर्चा की गई है पर दक्षिण वियतनाम के अतिक्रमण का शायद ही कहीं उल्लेख हो।

पेंटागन पेपर्स बांध लेने वाले हैं, हिंद-चीन में अमेरिका के युद्ध के इतिहास के रूप में नहीं, बल्कि उन दिमागों को समझने के लिए गहन दृष्टि प्रदान करने के कारण जिन्होंने उस की योजना बनाई और अंजाम दिया। उन विचारों को जो प्रस्तुत किए गए, वे सुझाव जो पेश किए गए, और वे प्रस्ताव जो लाए उन सबके बारे में जानना बहुत रोमांचक है। ‘एशियन माइंड-अमेरिकन माइंड’ (एशियाई दिमाग-अमेरिकी दिमाग) नामक एक खंड में चोम्स्की दुश्मन की मानसिकता पर हुई चर्चा को परखते हैं जो “संपत्ति के नाश और जिंदगियों के नुकसान को बड़े विरक्त भाव से स्वीकार करता है,” जबकि “हमें जिंदगी, खुशी, संपत्ति, शक्ति चाहिए” और हमारे लिए ‘मौत और पीड़ा अगर दूसरे रास्ते मौजूद हैं तो समझदारी का चुनाव नहीं है।’ इसलिए हमें पता चलता है कि संभवतः गरीब एशियाई क्योंकि खुशी, संपत्ति और सत्ता के मायने समझ नहीं पाते हैं अमेरिका को “इस रणनीतिगत तर्क को परिणिति जो कि नरसंहार है, तक ले जाने (के लिए)” आमंत्रण देते हैं। लेकिन फिर ‘हम’ इससे बचने की कोशिश करते हैं क्योंकि “नरसंहार एक ऐसा बोझ है जिसे ढोना आसान नहीं है।” (अंततः निश्चय ही ‘हम’ ने आगे कदम बढ़ा कर नरसंहार किया और दिखाया ऐसा मानो नरसंहार कभी हुआ ही न हो।)

पेंटागन पेपर्स में निस्संदेह कुछ नरम प्रस्ताव भी हैं।

बस्तियों के लक्ष्यों पर बमबारी न केवल विदेशों में बल्कि देश में भी नुकसानदेह वितृष्णा पैदा करेगा, बल्कि युद्ध को बढ़ा कर चीन और सोवियत संघ तक बढ़ाने का भी खतरा पैदा कर सकता है। हां! अगर बांध और जलाशयों की तबाही को ठीक से अंजाम दिया गया तो ऐच्छिक परिणामों की आशा की जा सकती है। इस पर ध्यान से विचार होना चाहिए। ऐसा विध्वंस लोगों को मारता या डूबता नहीं है। धान के खेतों में हल्का पानी भर देने से यह आगे चल कर अगर खाद्यान्न नहीं उलब्ध करवाया गया तो बड़े पैमाने

पर भुखमरी (दस लाख से अधिक ?) की ओर ले जाता है—जिसे उपलब्ध कराने की पेशकश हम 'बातचीत की मेज पर' कर सकते हैं।

चोम्स्की अमेरिकी सरकारी अफसरान के फैसले करने के तरीके की परत-दर-परत उघाड़ते जाते हैं, जिसके मूल में हृदयहीन अमेरिकी युद्ध तंत्र है जो कि पूरी तरह से युद्ध के यथार्थ से दूर है और सिद्धांतों की पट्टी बांधे लाखों लोगों, नागरिकों, फौजियों, औरतों, बच्चों, गांवों, पूरे शहरों, पूरे पर्यावरण तंत्र को—बर्बरता के तरीकों को विज्ञान की मदद से और तेज कर नष्ट करने में लगा है।

एक अमेरिकी पायलट से नापम बम के आनंद के बारे में सुनिए:

हम दो के पर्दे के पीछे काम करने वालों से बहुत प्रसन्न हैं। शुरू का माल इतना तेज नहीं था—अगर गुक (एशियाई लोग) फुर्तिले हुए तो उसे नोच कर फेंक सकते थे। इसलिए उन लोगों ने इसमें पॉलिस्ट्रीन मिलाना शुरू किया—अब यह कंबल पर गू की तरह चिपक जाता है। पर अगर गुक पानी में कूद जाएं तो वह जलना बंद कर देता था इसलिए उन्होंने इसमें विली पीटर (सफेद फॉसफोरस) मिलाना शुरू कर दिया जिससे कि यह बेहतर जले। अब यह पानी में भी जलेगा। और इसकी एक बूंद ही काफी है। अब यह हड्डी तक जला रहेगा इस तरह वे हर हाल में फॉसफोरस के जहर से मरेंगे ही।

इस तरह खुशकिस्मत गुकों को उन्हीं के भले के लिए मौत के घाट उतारा गया। कम्युनिस्ट बनने से बेहतर मरना है (बैटर डैड दैन रैड)।

हॉलीवुड के असाधारण सम्मोहन और अमेरिकी मीडिया के चुंबकीय आकर्षण को आभार कि इतने वर्षों बाद, दुनिया इस युद्ध को एक अमेरिकी कहानी की तरह देख रही है। हिंदचीन की शमशीतोष्ण हरीभरी धरती ने अमेरिका को अपनी हिंसा की फंतासियों का खेल खेलने अपनी नवीनतम तकनीक को जांचने, सिद्धांत को फैलाने, अपनी अंतरात्मा को जांचने अपने नैतिक-द्वंद्व से गुजरने और अपने अपराधबोध से निपटने (या इसका दिखावा करने की) उत्तम पृष्ठभूमि प्रदान की। वियतनामी, कंपूचियाई, लाओसवासी सब मात्र एक पटकथा के मोहरे थे। नामहीन, चेहरे विहीन, चुंधी आंखों वाले ह्यूमेनोइड (मानव

जैसे लगने वाले प्राणि)। वे आदमी मात्र थे जो मर गए। गुक।

हिंद-चीन पर आक्रमण से अमेरिकी सरकार ने जो एक मात्र सही पाठ पढ़ा, वह यह कि अमेरिकी सैनिकों और अमेरिकी जिंदगियों को खतरे में डाले युद्ध कैसे किया जाए। इसलिए अब ऐसे युद्ध देख रहे हैं जिनमें लंबी दूरी तरक मार करने वाले कूज मिसाइल, ब्लैक हॉक, बंकर भेदी बमों का इस्तेमाल हो रहा है। युद्ध जिनमें 'मित्र राष्ट्र' सैनिकों से ज्यादा पत्रकार गंवा रहे हैं।

दक्षिण भारत के केरल राज्य के एक बढ़ते बच्चे के रूप में—जहां 1959 में, जिस वर्ष में पैदा हुई, दुनिया की पहली लोकतांत्रिक तरीके से चुनी हुई साम्यवादी सरकार सत्ता में आयी—मैं गुक होने के कारण बेईतिहा परेशान रहती थी। केरल, वियतनाम के पश्चिम में कुछ ही हजार मील दूर स्थित है। हमारे यहां जंगल, और नदियां और धान के खेत और साम्यवादी भी थे। मैं सदा अपनी मां, भाई और खुद एक हथगोले से झाड़ी के पीछे उड़ा दिए जाने को च्विंगम चबाते बलिष्ठ भुजाओं वाले अमेरिकी मेराइन पृष्ठभूमि में बजते तीखे संगीत के साथ उड़ा दिया करते हैं। मैं सपने में देखती थी कि तरांग बांग से आती सड़क पर लिए गए प्रसिद्ध फोटोग्राफ की जलती हुई लड़की मैं ही हूँ।

एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जो कि अमेरिका और सोवियत संघ के प्रचार (वे कमोबेश एक-दूसरे को निष्प्रभाव कर देते थे) की नोक पर बड़ा हुआ हो, जब मैंने पहली बार नोम चोम्स्की को पढ़ा तो मुझे लगा कि उनकी साक्ष्यों की प्रस्तुति, इनका आकार, इसका अथक दाबव कुछ—क्या कहा जाए—पागलपन—सा है। उन्होंने जो साक्ष्य इकट्ठे किए थे उनका एक चौथाई भी मुझ यकीन दिलाने के लिए पर्याप्त था। मुझे सदा हैरान होती थी कि उन्हें इतना काम करने की कू। जरूरत है। पर अब मैं समझती हूँ कि चोम्स्की के काम का आकार और गहराई उस प्रचार मशीन जिससे उनका सामना है, के आकार, गहराई और निष्ठुरता का बैरोमीटर हैं। वह उस लकड़ी करने वाले कीड़े की तरह हैं जो मेरी भरी किताबों की अलमारी के तीसरे खाने में रहता है। रात-दिन मैं उसके लकड़ी सबा कर चूर-चूर करते जबड़े की आवाज सुनती हूँ। ऐसा लगता है जैसे वह साहित्य से पूरी तरह असहमत है और वह उस

ढांचे को ही ढाहे देना चाहता है जिस पर यह टिक है। मैं उसे चोम्स्की कहती हूँ।

एक अमेरिकी होकर अमेरिका में काम करना अमेरिकियों को अपना दृष्टिकोण समझाना सख्त लकड़ी में सुरंग बनाने जैसा ही होगा। चोम्स्की उन कुछ लोगों से हैं जो एक पूरे उद्योग से लड़ रहे हैं। और यह इनको न केवल प्रखर अपितु निडर योद्धा (हिरोइक) भी बना देता है।

कुछ साल पहले जेम्स पैक के साथ एक कार्मिक साक्षात्कार में चोम्स्की ने हिरोशिमा पर बमबारी की अपनी यादों पर बातचीत की। वह तब 16 साल के थे।

“मुझे याद है कि मैं किसी से बिल्कुल बात नहीं कर सका। वहां कोई नहीं था। मैं अकेला चल पड़ा। मैं उस समय एक ग्रीष्मकालीन शिविर में था, और मैं जंगल की ओर निकल गया था और कुछ घंटे वहीं रहा था तभी मुझे इसके बारे में पता-चला। मैं इस बारे में कभी किसी से बात नहीं कर सका और कभी किसी की प्रतिक्रिया को भी नहीं समझ सका। मैं बिल्कुल अकेला महसूस करता रहा।

उस एकांत ने, हमारे समय के महानतम और क्रांतिकारी जन-विचार को जन्म दिया। जब अमेरिकी साम्राज्य का सूरज ठलेगा, जैसे कि उसे ढलना है, और ढलना भी चाहिए, नोम चोम्स्की का काम बचा रहेगा।

यह सदा इस निर्मम, मैकेवलीय साम्राज्य की ओर, जो कि उतना की क्रूर, अहंकारी और पाखंडी है जितना कि जिसकी जगह इसने ली है, एक अभियोगी अंगुली बनकर उठा रहेगा। को उतना ही बर्बर, भी और बहरूपिया करार देगी जितने कि वे थे जिनका स्थान इसके लिये है। (मात्र फर्क यह है कि जिस प्रकार की तकनीकी ताकत अमेरिका के पास है, वह ऐसा प्रलय ला सकती है जो इतिहास में कभी नहीं देखा गया और मानव जाति उसकी कल्पना नहीं कर सकती।)

एक संभाव्य गुक के रूप में, और कौन जानता है कि वह एक समर्थवान गुक ही हों, शायद ही कोई दिन गुजरता हो—जब मैं किसी न किसी कारण—'चोम्स्की जिंदाबाद न सोचती हूँ। ■

अनु.: उषा चौहान

(नवंबर, 2003)



## प्रतिरोधों और जनसंघर्षों में धारावाहिकता है

विख्यात बांग्ला लेखिका और समाजिक कार्यकर्ता महाश्वेता देवी सेकृपाशंकर चौबे की बातचीत।

प्रश्न: आदिवासियों के जनसंघर्षों और प्रतिरोध की उनकी संस्कृति के बारे में आपके विचार क्या हैं ?

उत्तर: मैं प्रतिरोध की संस्कृति को प्रतिरोध की चेतना कहना चाहूंगी। आदिवासियों में यह चेतना आरंभ से रही है। यह देखकर मुझे हैरानी होती है कि अंग्रेजों के खिलाफ 1857 का संग्राम भी काफी महत्वपूर्ण था, किंतु उसे प्रथम स्वतंत्रता संग्राम कैसे कहा जा सकता है ? मैं अपनी ही औपन्यासिक कृति *शालगिरह की पुकार* पर का उल्लेख करना चाहूंगी। इसमें मैंने 1750 और उसके बाद के संथाल विद्रोह को रेखांकित किया है और बताया है कि किस तरह अंग्रेजों के खिलाफ संथालों में असंतोष फैल रहा था। दूसरी तरफ, मुनाफे के लिए अंग्रेज अकाल और भूख की तिजारत कर रहे थे और अपने शासन-क्षेत्र का विस्तार कर रहे थे। बिहार, बंगाल के संथालों से अपना लोहा मनवाने और संथाल आदिवासियों की स्वतंत्र प्रवृत्ति पर काबू पाने के लिए अंग्रेजों ने जंगल के उत्पादों और धान-चावल की खरीद शुरू की। उन्होंने बाजार को हथियार बनाया, तो संथाल भड़क उठे और उस विद्रोह की कमान संभाली—संथाल परगना के आदि विद्रोही तिक्का मांझी ने। संथाल जीवन और उसके ऐतिहासिक संग्राम की गाथा *शालगिरह की पुकार* पर मैं है।

उसी संग्राम की कड़ी अगली शताब्दी में बिरसा मुंडा के उलगुलान से जुड़ती है। बिरसा ने उन्नीसवीं सदी के मोड़ पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध जन-जातीय विद्रोह का बिगुल बजाया था। बिरसा का विद्रोह सिर्फ अंग्रेजी शासन के विरुद्ध नहीं था, अपितु समकालीन सामंती

व्यवस्था के विरुद्ध भी था। 100 साल से भी पहले बिरसा मुंडा ने जल, जंगल और जमीन को लेकर अपने पिछड़े हुए समाज के बीच एक गौरव चेतना और संघर्ष का जज्बा पैदा किया था। मैं जोर देकर कहना चाहती हूँ कि बिरसा अपने समय से बहुत आगे था। आज समूची दुनिया को जल, जंगल और जमीन को लेकर जूझना पड़ रहा है यानी बिरसा के उलगुलान में परोक्ष तौर पर समूची दुनिया को आज शरीक होना पड़ रहा है। जनसंघर्षों और प्रतिरोध की संस्कृति ने आदिवासियों के जीवन में जो सबसे बड़ा परिवर्तन किया, वह था आत्मगौरव के लिए चेतना का विकास। यह बहुत बड़ी उपलब्धि है।

1857 के प्रतिरोध की चेतना के बारे में आप क्या सोचती हैं ?

1857 के विद्रोह को मैं जनक्रांति मानती हूँ। उसमें राजा और प्रजा (जनता) ने कंधे से कंधा मिलाकर अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध संघर्ष किया था। जनता के उस सशस्त्र प्रतिरोध को कभी छोटा नहीं किया जा सकता। 1857 पर मेरे चार उपन्यास हैं। पहला है—*झांसीर रानी*, जो 1956 में आया। वह मेरी पहली किताब है। उस जीवनीमूलक उपन्यास को लिखने के लिए मैंने लक्ष्मीबाई के बारे में व्याप्त तरह-तरह की किंवदंतियों के घटाटोप को पार कर तथ्यों और प्रामाणिक सूचनाओं का संग्रह किया। इस पुस्तक को कोलकाता में बैठकर नहीं, बल्कि सागर, जबलपुर, पूना, इंदौर, ललितपुर के जंगलों, झांसी, ग्वालियर, कालपी में घटित तमाम घटनाओं यानी 1857-58 में

इतिहास के मंच पर जो कुछ घटा, उन सबके साथ चलते हुए लिखा।

1857 पर मैंने दूसरी किताब लिखी—*नटी*। यह *झांसीर रानी* की ही पृष्ठभूमि में लिखी गई थी। 1857 पर मेरी तीसरी किताब है—*जली थी अग्निशिखा*। ह्यूरोज ने ही कहा है कि समय और युग की सभी रूढ़ियों को तोड़कर लक्ष्मीबाई ने अपने आपको एक योद्धा और सक्षम सेनानायक सिद्ध किया था। ह्यूरोज के इस कथन को मैंने इस किताब में उद्धृत किया है। रानी ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध युद्ध किया था। रानी की प्रतिरोध की इस भूमिका को कभी छोटा नहीं किया जा सकता। युद्ध में कूद पड़ने पर रानी ने समझ लिया था कि वह सिर्फ झांसी के लिए नहीं लड़ रही है। उस युद्ध के पीछे उनका कोई क्षुद्र स्वार्थ नहीं था। रानी के प्रति मेरे आग्रह का सबसे बड़ा कारण झांसी की रानी के दृष्टांत से प्रेरित होकर मध्य भारत में एक जनविद्रोह का, प्रतिरोध की एक चेतना के गढ़ का उठना है। शक्तिरूपिणी दुर्गा का तो लोग वर्ष में एक बार आह्वान करते हैं, किंतु कहानियों, गानों और गाथाओं में अनेक मनुष्यों के मन में रानी लक्ष्मीबाई की आज भी नित्य पूजा, नित्य आराधना होती रहती है। 1857 पर मेरी चौथी किताब है—*अमृत संचय* जिसमें 1857 के संग्राम और प्रतिरोध की संस्कृति के कई स्वर सुने जा सकते हैं।

जनसंघर्षों के फलस्वरूप आदिवासियों की जीवनशैली और स्थिति में क्या परिवर्तन आया है ?

आदिवासियों के जीवन में आत्मगौरव का बोध तो बढ़ा है, किंतु आज भी भारत और दुनिया के आदिवासी, सभ्य समाज द्वारा तरह-तरह से शोषित और उत्पीड़ित हैं। भारत में ही देखो, आदिवासियों के हित में कई कानून बने, पर कितने लागू हुए ? क्या बंधु आदिवासी मुक्त हो गए ? बेगी प्रथा समाप्त हुई ? इसीलिए शोषण के खिलाफ जब आदिवासी समाज में हिंसा का ज्वार उभरता है, तब दिल्ली हतप्रभ रह जाती है, क्योंकि आदिवासियों के बारे में दिल्ली की समझ अंग्रेजों जैसी है। 200 से अधिक जनजातियों के समुदाय हैं, जिनकी जनसंख्या आठ करोड़ है। जो यायावर हैं।

वे घुमंतू प्रवृत्ति और पुलिस दमन के कारण मतदान नहीं कर पाते। 1871 में ब्रिटिश शासन ने इन्हें अपराधी घोषित किया था तथा क्रिमिनल ट्राइब्स ऐक्ट पास किया था— हालांकि सब जनजातियां नहीं थीं—कुछ तो केवल जातियां थीं। 1952 में भारत सरकार ने उन्हें अनधिसूचित किया किंतु 1959 में हबीचुअल ऑफेंडर्स ऐक्ट पास किया, जो कि 1871 के कानून की ही पुनरावृत्ति थी, मामूली से शाब्दिक फेर-बदल के साथ। अब पुलिस और समाज, दोनों के हाथों उनका दमन होता है। अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़ी जातियों के लिए योजनाएं लागू नहीं होतीं। इसलिए अब 82 साल की उम्र में मैं निराश हो गई हूँ। मैं सरकार से आग्रह करती हूँ कि उन्हें एक साधारण 'कैटेगरी'—अनधिसूचित समुदाय के अंतर्गत लाया जाए जिनमें अनुसूचित जातियां, अनुसूचित जनजातियां तथा अन्य पिछड़ी जातियां हों, लेकिन घुमंतू जातियों के लिए उप-परियोजना हो। उन्हें आम शिक्षा तथा स्वास्थ्य संबंधी सुविधाएं प्रदान कर विकास के घेरे में लाया जा सकता है। अनौपचारिक व्यावसायिक प्रशिक्षण केंद्र भी खोले जा सकते हैं। आजादी के 60 साल बाद भी यदि आदिवासी हाशिये पर हैं, तो इसे हम सच्ची आजादी कैसे कह सकते हैं? आज भी हकीकत यह है कि तथाकथित सभ्य समाज में सबसे निचले स्तर के जो मनुष्य हैं, उनमें भी गई-गुजरी दशा आदिवासियों की है। आदिवासियों की इंसान की आकृति भर है। उन्हें सभ्य समाज ने इंसान की गरिमा और मर्यादा नहीं दी। उन्हें इंसान किसी ने नहीं माना। उन्हें दो-पाया जानवर माना गया। सभ्य समाज, पुलिस प्रशासन, राजनीतिक दल सभी उसका शिकार कर रहे हैं। इसीलिए मैंने उनके बीच काम करना मुनासिब समझा।

*आदिवासियों के बीच आपके कामकाज की शुरुआत कब और कैसे हुई?*

देखो, 1965 में ही मेरा मैकलुक्सगीज जाना शुरू हुआ और वहां से पलामू आना-जाना शुरू हुआ। वर्ष में दो बार तो वहां निश्चित ही जाती थी। यह क्रम दस वर्ष चला। उसी दौरान बंधुआ मजदूरों के बीच

काम शुरू किया। 1981 में पलामू में हमने पलामू जिला बंधुआ मुक्ति समिति बनाई और लगातार संघर्ष किया। मैं आदिवासियों के जितने निकट गई, उनके संघर्षों से उतनी ही जुड़ती गई। बाद में लगा कि एक जगह स्थिर हो जाना चाहिए, तो पुरुलिया के खेड़िया शबर आदिवासियों के बीच स्थिर हो गई। लेकिन कुछ साल पहले गुजरात और महाराष्ट्र के गैर अधिसूचित घुमंतू जनजातियों के बीच भी काम शुरू किया। आज भी मैं कई जनसंगठनों से जुड़ी हूँ। वे जनसंघर्ष कर रहे हैं। बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश के आदिवासी इलाकों में चरम दरिद्रता है। जब तक उनमें दरिद्रता रहेगी, भूख रहेगी, पेयजल समस्या रहेगी, अस्पताल और शिक्षा की सुविधा नहीं रहेगी, शोषण-दमन-उत्पीड़न रहेगा, वे जनसंगठनों के जरिए संघर्ष करते रहेंगे। वे आज भी संघर्ष कर रहे हैं और मुझे लगता है कि 18वीं शताब्दी से लेकर आज तक के जनसंघर्षों में एक धारावाहिकता है। उसी धारावाहिकता की कड़ी सिंगूर और नंदीग्राम से भी जुड़ती है।

*सिंगूर और नंदीग्राम में प्रतिरोध की जो संस्कृति दिखी, उस पर तो सत्तात्र हावी रहा, क्या आपको ऐसा नहीं लगता?*

याद रखो, सरकारी दमन के बाद भी नक्सल आंदोलन खत्म नहीं किया जा सका। सिंगूर में किसानों की जमीन जबरन अधिगृहीत की गई और किसानों ने जब प्रतिरोध शुरू किया, तो उन्हें दबाने के लिए पुलिस बल का प्रयोग किया गया। अब तो टाटा की लखटकिया 'नैनो' का निर्माण भी वहां शुरू हो गया है। जिस दिन रतन टाटा दिल्ली में इस कार का प्रदर्शन कर रहे थे, उसी दिन उस कार का पुतला सिंगूर में जलाया जा रहा था। रतन टाटा ने 'नैनो' का उपहार कई जानें लेकर, कइयों को हताहत कर दिया है। सिंगूर में जमीन अधिग्रहण का विरोध कर रही युवती तापसी मल्लिक की बलात्कार कर हत्या कर दी गई। जमीन जाने के गम में सिंगूर के कई किसानों ने आत्महत्या कर ली।

आज भी सिंगूर में जब सरकार ने जमीन का जबरन अधिग्रहण किया, तो नंदीग्राम ने उसका जवाब दिया। वहां के

लोगों ने रास्ते काट डाले और वहां के प्रतिरोध को दबाने के लिए बर्बर बुद्धदेव भट्टाचार्य को पुलिस फायरिंग करानी पड़ी। उससे भी बात नहीं बनी, तो अपने सशस्त्र कैडरों से नवंबर में सफाया अभियान चलाया। 200 से ज्यादा लोग हताहत किए गए। कई महिलाओं के साथ बलात्कार हुआ। किंतु जिन्होंने प्रतिरोध करते हुए नंदीग्राम में अपनी जानें दीं, उन्हें हम शहीद मानते हैं। नंदीग्राम में जगह-जगह हमने शहीद वेदी बनाई है। हर शहीद की स्मृति में हम वहां अस्पताल बना रहे हैं। नंदीग्राम सूमची दुनिया के लिए आज प्रतिवाद का प्रतीक है।

*तसलीमा नसरीन को जिस तरह कोलकाता से बाहर किया गया, उस पर आपकी क्या टिप्पणी है?*

दो महीने से तसलीमा नसरीन को बंदी जीवन यापन करना पड़ रहा है। वाममोर्चा सरकार को खुश रखने के लिए और मुस्लिम वोटों को ध्यान में रखते हुए केंद्र सरकार ने उसे बंदी बना रखा है। इस घटना से भारत की धर्मनिरपेक्षता कलंकित हुई है, लोकतंत्र कलंकित हुआ है। तसलीमा को स्वाभाविक जीवन यापन करने देने और उसे कोलकाता लौटाने की मांग को लेकर हम निरंतर संघर्ष कर रहे हैं। हम उसे लौटाए जाने तक अपना संग्राम जारी रखेंगे।

*हम फिर आदिवासियों पर लौटते हैं। 18वीं शताब्दी में आदिवासियों में प्रतिरोध की जो संस्कृति थी, क्या आज के संघर्षों में वैश्वीकरण के फलस्वरूप उनमें वही जज्बा रहेगा या प्रतिरोध के नए स्वरूप बनेंगे और उनका प्रतिरोध भी बाजार के असर में आ जाएगा?*

वैश्वीकरण ने आदिवासी जीवन को प्रभावित करना शुरू किया है। विकास के नाम पर उनका विस्थापन हो रहा है। हर कालखंड में आदिवासियों ने अपनी संस्कृति को बचाकर रखा है। अब उनकी संस्कृति पर भी हमला बोला जा रहा है। उनकी सदियों की आजमाई जीवनशैली को बदला जा रहा है। उन्हें 'सभ्य' बनाया जा रहा है। यह कतई वांछित नहीं है। ■

(फरवरी, 2008)

# सावित्रीबाई फुले : आधुनिक भारत की पहली विद्रोही कवयित्री

## ■ सिद्धार्थ

सावित्रीबाई फुले अपनी रचनाओं में एक ऐसे समाज और जीवन का सपना देखती हैं, जिसमें किसी तरह का कोई अन्याय न हो, हर इंसान मानवीय गरिमा के साथ जीवन व्यतीत करे। बेहतर समाज और सबके लिए खूबसूरत जिंदगी के मार्ग में उन्हें सबसे बड़ी बाधा ब्राह्मणवाद-मनुवादी व्यवस्था और इसके द्वारा रची गई जाति-पाति और स्त्री-पुरुष के बीच भेद-भाव दिखाई देता था। उन्होंने अपनी कविताओं में सबसे ज्यादा चोट मनुवाद, जाति-पाति के भेद और स्त्री-पुरुष के बीच की असमानता पर किया है।

सावित्रीबाई फुले आधुनिक भारत की प्रथम भारतीय महिला शिक्षिका थीं, इस तथ्य से हम सभी वाकिफ हैं, लेकिन बहुत कम लोग हैं, जो इस तथ्य से परिचित होंगे कि वह आधुनिक भारत की पहली विद्रोही महिला कवयित्री और लेखिका थीं। उनकी कविताओं का पहला संग्रह, *काव्य फुले* 1854 में प्रकाशित हुआ था। तब वे महज 23 वर्ष की थीं। इसका अर्थ है कि उन्होंने 19-20 वर्ष की उम्र से ही कविताएं लिखनी शुरू कर दी थीं। उनका दूसरा कविता संग्रह *बावनकशी सुबोध रत्नाकर* नाम से 1891 में आया। कविता के अलावा उनके तीन पत्र अत्यंत चर्चित हैं। जो उन्होंने जोतिराव फुले को लिखे थे। उन्होंने विभिन्न अवसरों पर भाषण दिए। इन भाषणों में भी उनका चिंतक और लेखक व्यक्तित्व निखरकर सामने आता है। इसके अलावा उन्होंने छात्रों को शिक्षित करने के लिए संगीत नाटिका भी तैयार की। इस संगीत नाटिका में पच्चीस छात्राओं का समूह संवाद करता था।

सावित्रीबाई फुले अपनी रचनाओं में एक ऐसे समाज और जीवन का सपना देखती हैं, जिसमें किसी तरह का कोई अन्याय न हो, हर इंसान मानवीय गरिमा के साथ जीवन व्यतीत करे। बेहतर समाज और सबके लिए खूबसूरत जिंदगी के मार्ग में उन्हें सबसे बड़ी बाधा ब्राह्मणवाद-मनुवादी व्यवस्था और इसके द्वारा रची गई जाति-पाति और स्त्री-पुरुष के बीच भेद-भाव दिखाई देता था। उन्होंने

अपनी कविताओं में सबसे ज्यादा चोट मनुवाद, जाति-पाति के भेद और स्त्री-पुरुष के बीच की असमानता पर किया है। 'शूद्रों का दर्द' शीर्षक कविता में वह लिखती हैं कि शूद्रों को हजारों वर्षों से ब्राह्मणों ने षड्यंत्र रचकर अपने जाल में फंसा रखा है। ब्राह्मणों ने शूद्रों और अतिशूद्रों का शोषण-उत्पीड़न करने और उनके ऊपर अपना वर्चस्व कायम रखने के लिए यह सारा षड्यंत्र रचा है। ब्राह्मणों ने शूद्रों को गुलाम बनाए रखने के लिए तमाम ग्रंथ रचे, जिसमें *मनुस्मृति* सबसे कुख्यात है। मनुस्मृति में साफतौर पर कहा गया है कि ब्रह्मा ने शूद्र के लिए सिर्फ एक कर्म निर्धारित किया है कि वह विनम्र होकर तीन वर्णों— ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करे—

*एकं एव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।*

*एतेषां एव वर्णानां शुरुषां अनसूयया ।<sup>2</sup>*

सावित्रीबाई फुले ब्राह्मणवादी धर्मग्रंथों के इन षड्यंत्रों को अच्छी तरह समझती थीं। उन्होंने अपनी कविता 'शूद्रों का दर्द' में लिखा है कि—

*शूद्रों का दर्द*

*दो हजार वर्ष से भी पुराना है*

*ब्राह्मणों के षड्यंत्रों के जाल में*

*फंसी रही उनकी 'सेवा'<sup>3</sup>*

उनकी कविताएं इस बात की साक्षी हैं कि उन्हें इस बात का गहरा अहसास था कि शूद्रों की पराधीनता, दुर्दशा और गरीबी के लिए उनकी अज्ञानता, रूढ़िवादिता और

परंपराओं की बेड़ियां जिम्मेदार हैं। इस स्थिति ने उन्हें इस हालात में पहुंचा दिया है कि वे गरीबी के तेजाब से झुलस रहे हैं। वह लिखती हैं—

*शूद्रों एवं अतिशूद्रों की*

*दरिद्रता के लिए जिम्मेदार है*

*अज्ञानता, रीति-रिवाज, रूढ़िवाद*

*परंपराओं की बेड़ियों में बंधे-बंधे*

*पिछड़ गए सबसे, परिणाम*

*गरीबी के तेजाब से झुलस गए<sup>4</sup>*

जोतिराव फुले, डॉ. आंबेडकर और पेरियार की तरह सावित्रीबाई फुले को भी इस बात का बहुत दुख होता था कि शूद्रों-अतिशूद्रों के लिए बेहतर जीवन के सारे सपने मर गए हैं, उनके भीतर जीवन जीने का उत्साह और उमंग नहीं बची है। उन्होंने मान लिया है कि दुख, अपमान और पराधीनता ही उनकी नियति है। उन्होंने ब्राह्मणों की इस बात को मान लिया है कि बिना किसी इच्छा के कर्म करते जाओ, चाहे तुम्हें इसका फल मिले या ना मिले। वह अच्छी तरह समझती थीं कि शूद्रों-अतिशूद्रों के कर्मों का सारा फल ब्राह्मण हड़प लेते हैं और बिना फल की चिंता किए खटते रहने का उपदेश देते हैं—

*शूद्रों एवं अतिशूद्रों की*

*दरिद्रता के लिए जिम्मेदार है*

*अज्ञानता, रीति-रिवाज, रूढ़िवाद*

*परंपराओं की बेड़ियों में बंधे-बंधे*

*पिछड़ गए सबसे, परिणाम*

*गरीबी के तेजाब से झुलस गए*

*सुख-सम्मान का कोई अहसास नहीं*

*न कोई आशा और इच्छा*

*दुखों को आत्मसात करके सुखी समझा*

पोंगा पंडित साधु संत मांगे भीख  
घूमे गली-गली मेहनत करना छोड़  
दे उपदेश जग को  
करे फल की आस बिना काम  
पुण्य और स्वर्ग का लालच दिखा के  
डॉ. आंबेडकर ने पशुवत जिंदगी के लिए दुख प्रकट किया और धिक्कारा भी। सावित्रीबाई फुले भी अज्ञानतावश पशु जिंदगी जीने के लिए शूद्रों-अतिशूद्रों को धिक्कारती हैं—

*जीवन स्वीकारते पशु समान*

*पशुवत जिंदगी को ही सुख समझते*

*है ना यह घोर अज्ञान ।<sup>5</sup>*

महाराष्ट्र में ब्राह्मणवादी पेशवाई शासन में मनु की संहिता का कठोरतापूर्वक पालन होता था। जोतिराव फुले और सावित्रीबाई फुले द्वारा खोले गए एक स्कूल में पढ़ने वाली एक अछूत लड़की ने एक निबंध में लिखा कि पेशवा के शासन में अछूतों के साथ कैसा निर्मम और क्रूर व्यवहार होता था। किस तरह पेशवा के शासन की समाप्ति और ब्रिटिश राज कायम होने के बाद एक हद तक मुक्ति मिली। उस अछूत लड़की ने लिखा “ इसके पूर्व ( ब्रिटिश शासन से पहले ) हमें इमारतों की नींव में जीवित गाड़ दिया जाता था... हमें पढ़ने-लिखने की अनुमति नहीं थी।... ईश्वर ने अंग्रेजों के राज को दान के रूप में दिया है और हमारी शिकायतों का निवारण हुआ है। कोई भी हमें उत्पीड़ित नहीं करता। कोई भी फांसी पर नहीं लटकता। कोई भी हमें जीवित नहीं गाड़ता। हमारी संतान अब जीवित रह सकती है। हम कपड़े पहन सकते हैं, अपने तन को कपड़ों से ढंक सकते हैं। हर एक को अपनी आय के अनुसार जीने की स्वतंत्रता है। कोई रुकावट नहीं, कोई प्रतिबंध नहीं। यहां तक कि गुलटेकाडी का बाजार भी हमारे लिए खुला है।”<sup>6</sup>

फुले, पेरियार और आंबेडकर का भी मानना था कि शूद्रों-अतिशूद्रों और महिलाओं की दुर्दशा का कारण अज्ञानता है। फुले लिखती हैं—

*विद्या बिना मति गई  
मति बिना नीति गई  
नीति बिना गति गई  
गति बिना वित्त गया  
वित्त बिना शूद्र टूटे  
इतने अनर्थ  
एक अविद्या ने किए*

डॉ. आंबेडकर शिक्षित बनो का नारा देते हैं। सावित्रीबाई फुले भी अपनी कविताओं में मनुवादी बेड़ियों को तोड़ने और शिक्षित बनने का आह्वान करती हैं। वह कहती हैं कि सदियों से शिक्षा से वंचित अज्ञानता के शिकार शूद्रों, इतिहास ने तुम्हें बड़ा अच्छा असवर प्रदान किया है। अंग्रेजों ने ब्राह्मण पेशवाओं का अंत कर दिया है, जिन्होंने तुम्हारी शिक्षा पर प्रतिबंध लगा रखा था। वह कहती हैं, उठो पेशवाओं का अंत हो चुका है। यह अच्छा अवसर है जब तुम अपनी गुलामी की परंपरा तोड़ने का, लेकिन इसके साथ ही वह इस

बात के लिए भी चेताती हैं कि तुम मनुवादी शिक्षा मत लेना—

*उठो, अरे अतिशूद्र तुम  
यह गुलामी की परंपरा की  
मनुवादी पेशवा मर-मिट चुके  
खबरदार मत लेना— मनु विद्या तुम।<sup>7</sup>*

अंग्रेजों के कारण शूद्रों, अतिशूद्रों और महिलाओं को शिक्षा का अवसर मिला था। इस शिक्षा ने इन तबकों के लिए मुक्ति का द्वार खोला था, क्योंकि मनुवादी-ब्राह्मणवादी शिक्षा नहीं थी, जो ऊंच-नीच की शिक्षा देती है। अंग्रेजी शिक्षा समानता, तर्क और न्याय की शिक्षा देती थी। इसी शिक्षा के चलते जोतिराव फुले और सावित्रीबाई फुले जैसे महान समाज सुधारक पैदा हुए थे। अंग्रेजी शिक्षा ने डॉ. आंबेडकर जैसे महान व्यक्तित्व का निर्माण किया था। सावित्रीबाई फुले अंग्रेजी शिक्षा के महत्त्व को खूब अच्छी तरह समझती थीं। उन्होंने अपनी कई कविताओं में अंग्रेजी शिक्षा की तारीफ की है। वह अंग्रेजों को ज्ञानदाता के रूप में संबोधित करती हैं। हम सभी जानते हैं कि शूद्रों, अतिशूद्रों और महिलाओं के लिए शिक्षा का द्वार अंग्रेजों ने खोला था। अपनी एक कविता में सावित्रीबाई कहती हैं—

*ज्ञानदाता अंग्रेज जो आए  
अवसर पहले ऐसा न पाया  
जागृत हो, अब उठो भाइयों  
उठो, तोड़ दो परंपरा को  
शिक्षा पाने उठो भाइयों<sup>8</sup>*

वह धिक्काराती हुई, समझाती हुई कहती हैं—

*बिना ज्ञान के सब व्यर्थ हो जाता है  
बुद्धि के बिना हम पशु बन जाते हैं।*

वह अंग्रेजों द्वारा शिक्षा का द्वार सबके लिए खोलने को एक सुनहरे अवसर के रूप में देखती हैं और कहती हैं कि इस शिक्षा को ग्रहण करके अपनी दुर्दशा का अंत करो—

*अब निठल्ले मत बैठो, जाओ, शिक्षा पाओ  
पीड़ितों और बहिष्कृतों की दुर्दशा का अंत करो।*

*सीखने का तुम्हें एक सुनहरा अवसर है  
मिला*

*तो सीखो और तोड़ दो जाति व्यवस्था की  
जंजीरों को।*

*फेंक डालो शीघ्र ब्राह्मणों के धर्मग्रंथों को ?  
आधुनिक अंग्रेजी ज्ञान को सावित्रीबाई  
फुले माता का दर्जा देती हैं। उनकी एक कविता*

का शीर्षक है— ‘स्नेहमयी मां’। इसमें इसके पहले के ज्ञान को मूर्खों का ज्ञान कहती हैं। आधुनिक ज्ञान सत्य से अवगत करता है—  
*अंग्रेजी मां, अंग्रेजी मां  
शूद्रों का उद्धार करे तू, मनोभावना से।  
अंग्रेजी मां, नहीं अब मुगली शासन  
नहीं है पेशवाई या, मूर्खों का भी शासन  
स्नेहमयी अंग्रेजी मां, देती सत्य-ज्ञान हमें  
तू  
शूद्रों का भी तू ही जीवन है।*

*अंग्रेजी मां तोड़-मोड़े पशुवत भावना को,  
तू ही देती मनुष्यता मां,  
हम जैसे शूद्र जनों को।<sup>10</sup>*

शूद्रों-अतिशूद्रों की गुलामी और दुर्दशा के साथ सावित्रीबाई फुले ने अपनी कविताओं में महिला की स्थिति का अत्यंत मार्मिक वर्णन किया है। वह लिखती हैं कि महिलाएं सुबह से शाम तक खटती हैं, जबकि बहुत सारे पुरुष मुफ्तखोर की तरह बैठे रहते हैं। वह प्रकृति से उदाहरण देकर बताती हैं कि पशु-पक्षियों में भी नर-मादा मिलकर काम करते हैं, तो स्त्री-पुरुष एक साथ मिलकर काम क्यों नहीं करते? वह ऐसे निकम्मे पुरुषों को धिक्कारती हुई कहती हैं। ‘क्या उन्हें मनुष्य कहा जाए?’ शीर्षक कविता में उन्होंने इस स्थिति का इस प्रकार वर्णन किया है—

*पौ फटने से गोधुली तक, महिला करती  
श्रम  
पुरुष उसकी मेहनत पर जीता है, मुफ्तखोर  
पक्षी और जानवर भी मिलकर काम करते  
हैं*

*क्या इन निकम्मों को मनुष्य कहा जाए ?<sup>11</sup>  
स्त्री-पुरुष संबंधों और पुरुष के व्यभिचारी  
और धोखेबाज चरित्र को सावित्रीबाई फुले ने  
अपनी कविता ‘भौरा और कली’ के माध्यम  
प्रस्तुत किया है। भौरा को पुरुष के प्रतीक के रूप  
में प्रस्तुत किया है और स्त्री को फूल के रूप में।  
यह ब्राह्मणवादी-सामंती मानसिकता के  
अधिकांश पुरुषों के चरित्र को उजागर करके  
रख देती है—*

*वह उसके सुंदर रूप को मसल डालता है,  
वह तूफान के मानिंद उस पर टूट पड़ता है,  
वह उसके मधु को सोख लेता है,  
और फिर उस निष्प्राण कलांत, शरीर को  
टुकरा देता है  
कौन सी कली ?*

वह पूछता है, पुराने को भूलना और नए को  
ढूँढना उसका काम है,

धोखे और स्वच्छंदता की यह दुनिया,  
मैं भौचक्की हूँ इसे देखकर, सावित्री  
कहती हैं।<sup>12</sup>

सावित्रीबाई फुले अपनी कविताओं में  
इतिहास की ब्राह्मणवादी व्याख्या को चुनौती  
देती हैं। वह कहती हैं कि शूद्र ही इस देश के  
मूलनिवासी और वीर योद्धा थे और यहां के  
शासक थे। उनका समाज अत्यंत समृद्ध समाज  
था। बाद में आक्रामणकारियों ने शूद्र शब्द को  
अपमानजनक बना दिया। वह 'शूद्र शब्द का  
अर्थ' कविता में लिखती हैं कि—

'शूद्र' का असली अर्थ था मूलनिवासी,  
परंतु शक्तिशाली विजेताओं ने 'शूद्र' को  
बना दिया एक गाली।

ईरानियों और ब्राह्मणों, ब्राह्मणों और अंग्रेजों,  
सब पर अंतिम विजय प्राप्त की शूद्रों ने,  
क्रांतिकारी थे वे।

मूलनिवासी थे समृद्ध,

वे 'भारतीय' के नाम से जाने जाते थे।

ऐसे वीर थे हमारे पूर्वज,

और हम इन लोगों के वंशज हैं।

वह साफ शब्दों में कहती हैं कि यह भारत  
देश यहां के मूल निवासियों का देश है। वही  
इस धरती के असली हकदार हैं—

भारत किसी का नहीं है,

ना ईरानियों का, ना योरोपीयों का, ना तातारों  
का और ना हूणों का,

उसकी नसों में बहता है यहां के  
मूलनिवासियों का रुधिर।

अपनी कविताओं में सावित्रीबाई फुले  
इतिहास और मिथकों की ब्राह्मणवादी  
व्याख्याओं को चुनौती देती हैं। वह 'राजा बली  
की स्तुति' शीर्षक कविता में बताती हैं कि  
ब्राह्मणवादी शूद्रों-अतिशूद्रों के उदार और महान  
राजा बली के साथ छल करने वाले और धोखे  
से उनके राज्य छीन लेने वाले वामन का  
गुणगान करते हैं। दलित-बहुजन परंपरा राजा  
बली को महान राजा के रूप में याद करती है।  
सावित्रीबाई फुले भी उनकी महानता और  
उदारता को याद करती हैं और बताती हैं कि  
उनका राज्य कितना समृद्धशाली था। उनके  
लिए सारी प्रजा एक समान थी। कोई अन्याय  
नहीं था, कोई दुख नहीं था। राजा बली को याद  
करने के साथ ही उनकी पत्नी को भी याद  
करती हुई कहती हैं कि पति-पत्नी दोनों एक

साथ सुख से रहते थे—

बली राज्य का शासक था पुण्यात्मा  
दानव-राज,

बली उदार था और उसके प्रजाजन थे  
प्रसन्न,

उन्हें किसी चीज की कमी न थी,

उसके राज में सभी थे संतुष्ट, तीनों लोक  
उसके गुण गाते थे,

उसके स्वतंत्र देश में वैज्ञानिक विमर्श होते  
थे,

पवित्र यज्ञ की ज्वाला हमेशा रहती थी  
प्रकाशित,

दान में दिया जाता था सोना,

रत्न जड़ित मुकुट पहनकर शाही युगल,  
करता था दान पुण्य,

उनकी पत्नी विन्ध्यावली हमेशा उनके  
साथ रहती थीं,

आइए, हम उस शासक युगल को याद करें

और मिलकर उसकी प्रशंसा के गीत गाएं

हे पावन नेक आत्मा, राजा बली,

लोग प्रतिदिन करते हैं आपकी स्तुति।<sup>13</sup>

वह अपनी कविताओं में कबीर की तरह  
हिंदू धर्म के ढोंग-पाखंड को भी उजागर  
करती हैं। वह कहती हैं कि जिस पत्थर को  
सिंदूर लगाकर भगवान बना दिया गया है,  
वास्तव में वह पत्थर है। वह विभिन्न देवी-  
देवताओं पर आस्था और विश्वास को नकारती  
हैं। वह कबीर की तरह तर्क करती हैं कि यदि  
मनौती मानने से, चढ़ावा चढ़ाने से और पत्थर  
पूजने से बच्चे पैदा होते, तो फिर स्त्री और पुरुष  
को शादी करने की क्या जरूरत पड़ती ?  
सावित्रीबाई पूरी तरह से वैज्ञानिक चेतना से  
लैश थीं। वह किसी भी चीज को स्वीकार  
करने को तैयार न थीं, जो तर्क पर आधारित न  
हो और विज्ञान जिसका समर्थन न करता हो।  
'मन्नत' शीर्षक कविता में कबीर की तरह  
उन्होंने ढोंग-पाखंड की धज्जियां उड़ा दीं—

पत्थर को सिंदूर लगाकर जिसे बना दिया  
देवता

असल में था, वह पत्थर ही

इसी कविता में वह आगे लिखती हैं—

मन्नत करे, कटवाये बकरा

फिर चढ़ावा चढ़ावें

पत्थरों के देवता पर

मनौती करें पुत्र के जन्म पर

पत्थर पूजने से होते बच्चे

फिर क्यों नर-नारी रचाये शादी ?<sup>14</sup>

सावित्रीबाई फुले भारतीय पुनर्जागरण की  
कवयित्री हैं। योरोपीय पुनर्जागरण के  
दार्शनिकों ने यह सवाल उठाया था कि  
मानवीय गरिमायुक्त जीवन किसे कहे ? किस  
जीवन को मानवीय जीवन कहे ? किसे  
पशुवत जीवन कहते हैं ? भारत में ब्राह्मणवाद-  
सामंतवाद ने अधिकांश लोगों के जीवन को  
पशुवत जीवन बना दिया था। सावित्रीबाई फुले  
की कविताएं 'इंसान कौन और कौन नहीं है'  
इसका विस्तृत विमर्श प्रस्तुत करती हैं। 'उसे  
इंसान कहे क्यों ?' शीर्षक कविता में कौन  
इंसान है, कौन नहीं ? किसका जीवन इंसानी  
है, किसका पशुवत, इस पर प्रश्न उठाती हैं।  
वह कहती हैं कि जिसके पास ज्ञान नहीं है,  
शिक्षा नहीं है, उसका जीवन पशुवत है, लेकिन  
इसके साथ वह यह भी कहती हैं कि यदि कोई  
व्यक्ति ये दोनों चीजें प्राप्त कर ले, लेकिन  
उसके आधार अपना जीवन न जीये, तो उस  
व्यक्ति का भी जीवन पशुवत है—

ज्ञान नहीं, विद्या नहीं

पढ़ने-लिखने की इच्छाशक्ति नहीं,

बुद्धि होकर उस पर चले नहीं, ऐसे व्यक्ति

को कैसे इंसान कहे ?

रविदास और कबीर की तरह सावित्रीबाई  
फुले भी श्रम न करने वाले व्यक्ति को इंसान  
मानने को तैयार नहीं थीं। वह बिना श्रम किए  
बैठकर खाने वाले निठल्ले व्यक्ति के जीवन  
की तुलना पशु से करती हैं—

जो करे न जरा श्रम

ज्योतिष पर करे भरोसा

स्वर्ग-नरक के चक्कर में दिन-रात घिरे  
फिरे

वैसे तो निठल्ला पशु भी न कोई

उसे भला कैसे इंसान कहे ?

ब्राह्मणवाद-सामंतवाद-दासता और  
गुलामी पर टिका समाज था। आधुनिक समाज  
का सबसे बड़ा मूल्य आजादी है। आधुनिक  
युग का इतिहास ही आजादी के संघर्ष का  
इतिहास है। हर व्यक्ति की स्वतंत्रता ही  
आधुनिकता का सबसे बड़ा मूल्य है। फुले,  
आंबेडकर और पेरियार की तरह सावित्रीबाई के  
लिए भी आजादी सबसे बड़ा मूल्य थी। शूद्रों-  
अतिशूद्रों की ब्राह्मणशाही से आजादी। स्त्रियों  
की पुरुषों के वर्चस्व से आजादी। वह बार-बार  
अपनी कविताओं में इस तथ्य को रेखांकित  
करती हैं कि जिस व्यक्ति को गुलामी का दुःख  
न हो और आजादी की चाहत न हो, उस

व्यक्ति को इंसान नहीं कहा जा सकता है-

जिसे न हो गुलामी का दुःख  
न हो अपनी आजादी छिनने का मलाल  
न आवे कभी समझ इंसानियत का जज्बा  
उसे भला कैसे कहें इंसान हम ?<sup>15</sup>

सावित्रीबाई फुले की कविताएं आधुनिक चेतना से लैश हैं। आज भी जहां स्त्रियां गहनों के पीछे भागती रहती हैं, उसे अपना आभूषण समझती हैं। इन आभूषणों को पहनकर सुंदर दिखना चाहती हैं। इसके उलट उनकी कविताएं स्त्री का सबसे बड़ा गहना शिक्षा मानती हैं। वह कहती हैं, स्वाभिमान की जिंदगी जीने के लिए एक लड़की के लिए शिक्षा सबसे आवश्यक चीज है। वह लड़कियों का आह्वान करती हैं कि पाठशाला जाओ और खूब पढ़ो-लिखो-

स्वाभिमान से जीने हेतु  
बेटियों पढ़ो-लिखो खूब पढ़ो  
पाठशाला रोज जाकर  
नित अपना ज्ञान बढ़ाओ  
हर इंसान का सच्चा आभूषण शिक्षा है  
हर स्त्री को शिक्षा का गहना पहनना है  
पाठशाला जाओ और ज्ञान लो<sup>16</sup>

दुर्भाग्य है इस देश का, उनके इस आह्वान के 100 वर्षों बाद भी महिलाओं का एक बड़ा हिस्सा निरक्षर है और गुलामों की स्थिति में है। आज भी वह पशुवत् जिंदगी ही जी रहा है, किसी भी तरह से उसके जीवन को मानवीय गरिमायुक्त जीवन नहीं कहा जा सकता है।

सावित्रीबाई महिलाओं को आह्वान करती हैं कि चलो, चले शिक्षा ग्रहण करें। शिक्षा ही अज्ञानता और गरीबी की जंजीरों को तोड़ सकती है। सदियों के दुःख और संताप को खत्म कर सकती है, पिछड़ेपन को दूर कर सकती है। वह कहती हैं, सभी लड़कियों को शिक्षा पाना ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लेना चाहिए। अपनी इस बात को लड़कियों के दिलो-दिमाग में उतार देने के लिए वह रोज सामूहिक तौर पर लड़कियों से अपने द्वारा रचे गए इस गीत का गान कराती थीं-

विद्या मां के दर पर  
चलों चलें शिक्षा पाने  
विद्या की देवी की वंदना करें  
चलों मांगे उनसे ज्ञान का आशीर्वाद  
गरीबी और अज्ञानता के जंजीरों से हम  
जकड़े

मिलकर सब जंजीरें तोड़ डालें  
सदियों से व्याप्त अनपढ़ता, अज्ञानता  
पिछड़ेपन की चादर उतार फेंकें  
चलो चलें उन्नति की ओर<sup>17</sup>

सभी आधुनिक दार्शनिकों ने कहा है कि अज्ञानता ही अंधकार है। सावित्रीबाई 'अज्ञानता' शीर्षक से अपनी कविता में यह प्रश्न उठाती हैं कि आखिर इंसान का सबसे बड़ा दुश्मन कौन है ?

एक ही दुश्मन अपना  
खदेड़ दें उसे हम, सब मिलकर  
उससे ज्यादा खतरनाक न कोई  
खोजो खोजो मन के भीतर झांकों

वह खुद ही बताती हैं कि इंसान का सबसे बड़ा दुश्मन अज्ञानता है। हम सभी जानते हैं कि ब्राह्मणों और उनके धर्मग्रंथों ने शूद्रों-अतिशूद्रों और महिलाओं को शिक्षा के अधिकार से वंचित किया था क्योंकि वे जानते थे कि अज्ञान और अशिक्षित व्यक्ति को ही गुलाम बनाकर रखा जा सकता है। सदियों तक उसका शोषण-उत्पीड़न किया जा सकता है। इसी कारण से सावित्रीबाई अज्ञानता को सबसे खतरनाक दुश्मन घोषित करती हैं-

चलो मैं बताती हूं  
उस दुष्ट खतरनाक दुश्मन की पहचान  
ध्यान से सुनों उस दुश्मन का नाम  
उस दुश्मन का नाम है, 'अज्ञान'<sup>18</sup>

आधुनिक भारत का इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि शूद्रों-अतिशूद्रों और महिलाओं की मुक्ति का द्वार आधुनिक शिक्षा ने खोला। जोतिराव फुले, शाहूजी महाराज, डॉ. आंबेडकर और पेरियार जैसी महान विभूतियां भी इसी आधुनिक शिक्षा की देन थीं। महाराष्ट्र में सावित्रीबाई फुले, ताराबाई शिंदे और पंडिता रमाबाई जैसी महान विदुषी महिलाएं इसी आधुनिक शिक्षा से पैदा हुईं, जिन्होंने वर्ण-जाति व्यवस्था और महिलाओं की दासता के खिलाफ अथक संघर्ष किया। सावित्रीबाई आधुनिक शिक्षा को सूरज की रोशनी की तरह मानती थीं। उनका कहना था कि इस शिक्षा ने अछूत कहे जाने वाले महार की जिंदगी में भी रोशनी ला दी। हम सभी जानते हैं कि डॉ. आंबेडकर इसी अछूत कही जाने वाली महार जाति में पैदा हुईं थे लेकिन आधुनिक शिक्षा ने उन्हें

विश्व के सर्वश्रेष्ठ महामानवों में एक बना दिया। 'जोतीबा से संवाद' शीर्षक अपनी कविता में वह शिक्षा और ज्ञान की तुलना सूरज की रोशनी से करते हुए कहती हैं-

सुनिए, देखिए जोतीबा  
चंद्र अस्त हुआ तो सूर्योदय हुआ  
प्रातः का अद्भुत उजियारा

कहे जोतीबा सावित्री से  
सच कहा तुमने, पीछे हटा अंधेरा  
देखो ज्ञान के उजियारे में

शूद्र-अतिशूद्र, महार सचमुच जाग गए हैं<sup>19</sup>  
सावित्रीबाई फुले की कविताएं आधुनिक जागरण की कविताएं हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में ब्राह्मणवाद-मनुवाद को चुनौती दी। शूद्रों-अतिशूद्रों और महिलाओं की मुक्ति का आह्वान किया। उनकी कविताएं इस बात की प्रमाण हैं कि वह आधुनिक भारत की प्रथम विद्रोही कवयित्री हैं। ■

#### संदर्भ

1. सावित्रीबाई फुले रचना समग्र, संपादक, रजनी तिलक।
2. मनुस्मृति
3. सावित्रीबाई फुले रचना समग्र, वही, पृ. 59।
4. वही, 'पर निर्भर शूद्र', पृ. 64
5. वही पृ. 65
6. एक बिसरी समाज सुधारक, सावित्रीबाई फुले का जीवन और संघर्ष, संपादक, बृज रंजन मनी, पैमिला सरदार, गेल ऑप्वेट, 'एक अध्यापिका और अधिनायिका', पृ.36-37
7. वही, पृ.73
8. वही, पृ.73
9. वही, पृ.73
10. वही, पृ. 75-76
11. ललिता धारा, प्रेम, स्त्रीवाद और सामाजिक क्रांति की कवि सावित्रीबाई फुले, फारवर्ड प्रेस।
12. वही।
13. सावित्रीबाई फुले रचना समग्र, संपादक, रजनी तिलक पृ.60
14. वही, पृ.57
15. वही पृ.69-70
16. वही, पृ.74
17. वही पृ. 76
18. वही पृ. 77
19. वही पृ.79-80

(जनवरी, 2019)

# भूगोल और स्मृतियों की परिधियां

विद्रोह, संस्कृति और स्मृति : 1968 से 2018

## ■ पंकज बिष्ट

यह ऐसा विद्रोह था जो हमारी भी कामना थी। जवान होना और विद्रोह की कामना न होना, किसी अभिशाप से कम नहीं है। अंग्रेजी कवि विलियम वर्डस्वर्थ की एक लंबी कविता की पंक्तियां हैं: “ब्लिस वाज इट इन दैट डॉन टु बी एलाइव, बट टु बी यंग वाज वेरी हैवन।” यह कविता पहली फ्रांसीसी क्रांति का यशोगान है। इस बात का प्रमाण कि क्रांति का आकर्षण क्या होता है। शायद इसलिए भी कि हर क्रांति मानव समाज की गत्यात्मकता का प्रमाण है और परिवर्तन की कामना की अभिव्यक्ति भी।

कला और साहित्य के आत्ममुग्ध संसार का अपना ही ब्रह्मांड है, पर रचनात्मकता किसी उन्माद में नहीं जी सकती। उसका प्रयत्न निरंतर इससे उभरने की कोशिश रहता है। इसीलिए फ्रांस ऐसी जगह है जिसे मात्र उसके बौद्धिक नकचढ़े पन के लिए खारिज नहीं किया जा सकता।

यह अचानक नहीं है कि पेरिस पिछली सदी के शुरु से ही दुनिया भर के लेखकों और कलाकारों के आकर्षण का केंद्र रहा है। इवान तुर्गनेव, ऑस्कर वाइल्ड, हेनरी जेम्स, मिलान कुंडेरा, जेम्स बाल्डविन और रिचर्ड राइट जैसे लेखक यहां रहे हैं। 1920 के दशक में अर्नेस्ट हेमिंग्वे, जेम्स जॉयस, इजरा पाउंड और फोर्ड मैडोक्स फोर्ड आदि ने इस शहर को अपना अड्डा बनाया। मजे की बात यह है कि अपनी अराजक जीवन शैली के कारण यह पीढ़ी ‘लॉस्ट जनरेशन’ (बर्बाद पीढ़ी) भी कहलाती थी। पर रचनात्मकता के स्तर पर इसकी कई महत्वपूर्ण उपलब्धियां रही हैं।

लेटिन क्वार्टर की किताबों की एक दुकान प्रसिद्ध है। नाम है शेक्सपीयर एंड कंपनी। इसे अमेरिकी महिला सिलविया बीच ने 1919 में खोला था। यह दुकान लॉस्ट जनरेशन के लेखकों का अड्डा थी। हेनरी जेम्स का प्रसिद्ध उपन्यास यूलिसिस पहले सिलविया बीच ने ही छपा था। यह दुकान फ्रांस पर जर्मनी के कब्जे के दौरान बंद कर दी गई। 1964 में एक और अमेरिकी जॉर्ज व्हाइट ने सिलविया बीच

को श्रृद्धांजलि के तौर पर अपनी दुकान का नाम शेक्सपीयर एंड कंपनी रख लिया और तब से यह इसी नाम से चलती है। यह दुकान लेखक बनने के महत्वाकांक्षियों की शरण स्थली है। दुकान के काम में हाथ बंटाने के एवज में वे यहां रह सकते हैं। वहां कई बिस्तर लगे रहते हैं। दुकान में लिखा है, ‘अजनबियों को न दुतकारें, ऐसा न हो कि वे छद्मवेश में देवदूत हों’।

इस मौके पर कुछ जाने-माने भारतीयों को भी याद कर सकते हैं, जो पेरिस में रहे और जिनका संबंध हिंदी से भी रहा। लेखकों में कथाकार निर्मल वर्मा को याद किया जा सकता है जो कुछ समय पेरिस रहे और वह वहां से अंग्रेजी अखबार *टाइम्स ऑफ इंडिया* के लिए लिखते रहें। उनसे पहले उनके बड़े भाई राम कुमार ने, जो मूलतः चित्रकला के प्रशिक्षण के लिए वहां गए थे, वहां से कई लेख हिंदी में लिख कर भेजे हैं। उनमें एक, जो उनकी जॉर्ज लुकाच से बातचीत है, अमृत राय संपादित *हंस* में प्रकाशित हुआ था (उन्हें श्रृद्धांजलि के तौर पर यह *समयांतर* में गत वर्ष प्रकाशित किया गया था।) एक और चित्रकार जिनका हिंदी से निकट का संबंध रहा है, सैयद हैदर रजा लगभग आजीवन पेरिस में रहे। वह अंतिम वर्षों में जरूर भारत आ गए थे। वैसे आधुनिक भारतीय चित्रकला का सबसे बड़ा नाम अमृता शेरगिल ने चित्रकला की शिक्षा वहीं पाई थी।

छात्र आंदोलन: आधी सदी के फासले पर यह महज इत्तेफाक है कि अपने जीवन में मैं पहली बार, फ्रांस ही क्या, योरोप ही सन् 2018 के लगभग अंतिम चरण में जा पाया। मेरी धारणा रही है कि हमारे समाज में योरोप पहले ही जरूरत से ज्यादा घुसपैठ कर चुका है और हम पर हावी है। निश्चय ही वह हमारे समाज में परिवर्तन और उन्नति का कारण बना है, पर इसके साथ ही उसने हमारी सोच को ही नहीं कल्पना को भी बंदी बना लिया है।

निश्चय ही इसका बड़ा कारण ब्रिटेन है पर जो भी ब्रिटेन में है, हमारे यहां वह उसके घटिया रूप में है। यानी हमने प्रेरणा नहीं ली है, सिर्फ नकल की है। संभव है मेरी इस उदासीनता का कारण अपने ही देशवासियों के प्रति गुस्सा हो या फिर यह मेरा अतिरिक्त किस्म का जातीयता बोध हो, जो कुछ मायनों में भाजपाई राष्ट्रीयता का ही एक और पक्ष माना जा सकता है। पर इसके असली कारणों में 1857 से लेकर 1947 तक का भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन, फ्रेंच फैनन, चिन्हू आ एचेबे और न्यूगूमी वांग थो जैसे अफ्रीकी लेखकों से प्रेरित चेतना के नतीजे को शामिल किया जा सकता है।

जो भी हो हम पेरिस में कम महत्वपूर्ण वर्ष में नहीं थे। यह छात्र आंदोलन की अर्द्ध सदी का वर्ष था। दुर्भाग्य से समयान्तर में चाहते हुए भी इस अवसर पर, मई में तो क्या उसके बाद भी, कुछ छप नहीं पाया। सत्य यह है कि मैं जिस फ्रांस को जानता था या जानता हूँ वह आज भी पेरिस तक सीमित है। बाॅस्टील, नात्रेदम, लैटिन क्वार्टर्स, सोरबोन तथा नान्त्रे और वारसाइल जो इस महानगर की परिधि से लगा है। रही-सही कसर नवंबर में पूरी हो गई। पर हम सितंबर के अंत में ही लौट आए थे। यानी हमारे लौटने के डेढ़ माह बाद तथा 1968 के छात्र आंदोलन के 50 वर्ष और छह महीने बाद पेरिस एक बार फिर उबल पड़ा था।

आधी सदी! यह खासा लंबा अरसा है, अगर एक आदमी के जीवन के पैमाने पर देखें। पर मास मीडिया और सोशल मीडिया के आज के दौर में जब प्रद्यौगिकी ने समय और दूरी की अवधारणा को ही ध्वस्त कर दिया हो तब वे घटनाएं, जिनसे आपका सरोकार था या जो आपके जीवन के सपने से

जुड़ी रही हों, प्रसंगानुकूल जगह-जगह टुकड़ों-टुकड़ों में ही सही, साक्षात् प्रकट होने लगती हैं।

उस समय हमारी एमए प्रथम वर्ष की परीक्षाएं खत्म हो चुकी होंगी। तभी फ्रांस से खबरें आने लगी थीं। इससे पहले अमेरिका से आई हों, जहां आंदोलन मार्च में ही शुरू हो चुका था, पर ध्यान फ्रांस पर ही गया। सच यह है कि आंदोलन ब्रिटेन, जर्मनी, इटली, ब्राजील, पोलैंड, पाकिस्तान, मैक्सिको और स्कैंडिनेवियाई देशों सहित दुनिया में, जहां-तहां फूट पड़ा था। निश्चय ही इसके सामाजिक-आर्थिक कारण थे, वरना बिना किसी नेतृत्व और संगठन के इतना व्यापक नहीं हो सकता था। पर फ्रांस की बात ही और थी। वहां आंदोलन सबसे प्रचंड था और सबसे आकर्षक भी। इसलिए नहीं कि सार्त्र और बोउवार जैसे लोग ही इससे जुड़े थे बल्कि सारा मजदूर वर्ग इसके साथ हो गया था। यह बिना हथियार उठाए, बिना राजनीतिक नेतृत्व के कू दाता था।

यह ऐसा विद्रोह था जो हमारी भी कामना थी। जवान होना और विद्रोह की कामना न होना, किसी अभिशाप से कम नहीं है। इस विद्रोह से 166 वर्ष पहले लिखी अंग्रेजी कवि विलियम वर्डस्वर्थ की एक लंबी कविता की पंक्तियां हैं: *ब्लिस वाज इट इन दैट डॉन टु बी एलाइव, बट टु बी यंग वाज वेरी हैवन* (उस सुबह जीवित होना परम सुख था, लेकिन युवा होना तो स्वर्गिक ही।)। यह कविता पहली फ्रांसीसी क्रांति का यशोगान है। इस बात का प्रमाण कि क्रांति का आकर्षण क्या होता है। शायद इसलिए भी कि हर क्रांति मानव समाज की गत्यात्मकता का प्रमाण है और परिवर्तन की कामना की अभिव्यक्ति भी।

मैं भी उन सौभाग्यशालियों में से हूँ जो 1968 में उस उम्र में था, जिसे वर्डस्वर्थ ने 'बट टु बी यंग वाज वेरी हैवन' कहा है, और छात्र भी। मेरी ही उम्र के युवाओं ने अमेरिका से लेकर फ्रांस तक के, दुनिया भर के, सत्ताधारियों की चूलें हिला दी थीं। उस दौर के दो युवा, जिनका मैं भक्त हो चुका था, और जिनके नाम भुलाए नहीं भूलते, उनमें पहला था 22 वर्षीय जर्मन मूल का छात्र डेनियल कोहन बेंदित। शुरुआत यौन संबंधों की स्वतंत्रता की मांग को लेकर पेरिस के

बाहरी इलाके से लगे नान्ने विश्वविद्यालय से हुई जहां छात्रों (लड़के-लड़कियों) की मांग थी कि उन्हें साथ रहने की इजाजत हो। पर जल्दी ही मसला दमनात्मक सामाजिक संबंधों से खाये-पीये-अघाए लोगों के कुल्हड़ में हुल्लड़ विद्रोह से बढ़कर आर्थिक मसलों पर पहुंचा और मंहगाई, बेरोजगारी, वेतन जैसे मसले इससे जुड़े। फिर देश भर में जो हड़ताल हुई उसमें एक करोड़ दस लाख मजदूरों ने भाग लिया। पूरा देश ठप हो गया और दूसरे विश्वयुद्ध का नायक राष्ट्रपति 'जर्नल' द गाल लगभग भागने के कगार पर पहुंच गया। यानी जिसे तोप के गोले नहीं भगा पाए उसे जनता की हुंकार ने थरा दिया। फ्रांसीसी सरकार ने घुटने टेके और मजदूरों की कई मांगों को माना और इस तरह फ्रांसीसी राज्य का समाज कल्याणात्मक रूप और मजबूत बन पाया। इसने दुनिया के लिए कल्याणकारी राज्य की रूपरेखा निर्धारित की।

छात्रों के इस आंदोलन ने जो रूप लिया वह अपने आप में चकित करने वाला था। यह साम्राज्यवाद विरोधी ही नहीं बल्कि युद्ध विरोधी भी था। यह चे ग्वारा, हो ची मिन्ह, माओ त्से तुंग से प्रेरणा ले रहा था। वियतनाम में साम्राज्यवादी अमेरिका द्वारा किए जा रहे युद्ध अपराधों का भरपूर विरोध कर रहा था।

### वह लड़का जो आदर्श था

यहां वह अपना दूसरा समकालीन लड़का याद आ रहा है, जो अपनी ओजस्विता, बौद्धिकता और वक्तृत्व प्रतिभा में अद्वितीय था। इंग्लैंड में पढ़ने वाला वह लड़का मेरी ही तरह, पर मुझे से सिर्फ तीन वर्ष पहले, औपनिवेशिक भारत में पैदा हुआ था। नाम था तारिक अली। उन दिनों वह लंदन से एक पत्रिका का संपादन करता था, जिसका नाम भूलना आसान नहीं है। नाम था *ब्लैक ड्वार्फ* (काला बौना)। वैसे उससे सौ साल पहले भी इंग्लैंड से इसी नाम की एक पत्रिका निकला करती थी जो व्यंग्य की थी और तब संभवतः इस नाम के पीछे उन श्वेतों का, अश्वेतों से तुलनाकर मखौल उड़ाना था, जो पत्रिका के व्यंग्य के शिकार होते होंगे। पर 20वीं सदी के *ब्लैक ड्वार्फ* के पीछे अश्वेतों की चेतना के पदार्पण की घोषणा थी। महत्त्वपूर्ण यह है कि तारिक

अली उस विरोध में सबसे मुखर स्वरो में थे। उनकी प्रतिष्ठा का अंदाज इस बात से लगाया जा सकता है कि वियतनाम में की जा रही अमेरिकी बर्बरता के खिलाफ स्थापित बट्टेंड रसेल के ट्रॉब्यूनल में उन्हें गवाही देने बुलाया गया था। कहने की जरूरत नहीं है कि पत्रकार पिता और वामपंथी कार्यकर्ता माता के इस बेटे का वामपंथी चिंतन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान है और आज भी, जब तारिक 75 वर्ष के हो गए हैं, उनकी सक्रियता बनी हुई है। उनकी मार्क्सवाद से लेकर राजनीति तक पर दर्जनों किताबें हैं और वह एक अर्से से *न्यू लैफ्ट रिव्यू* के संपादक मंडल से जुड़े हैं।

इस दौर को लेकर दो जो और चीजें मुझे याद हैं, उनमें एक किताब और दूसरी फिल्म है। पहले किताब की बात। छात्र आंदोलन के ही दौर का एक और महत्त्वपूर्ण नाम है रिगीस देब्रे। तब वामपंथी झुकाव वाले फ्रांसीसी देब्रे 1960 में हवाना में दर्शनशास्त्र के अध्यापक थे। स्पष्ट है कि वह छात्र आंदोलन की देन नहीं थे पर उथल-पुथल से भरे इस दौर में सक्रिय थे। 1967 में जब चे ग्वारा को बोलिविया में मार डाला गया तो उस दौरान रिगीस वहीं थे और पकड़े गए थे। उन पर चे का साथी होने के अपराध का मुकदमा चला और 30 वर्ष की सजा हुई। उन की मुक्ति के लिए सार्त्र, मादम बोउवार, आंद्रे माल्रो और यहां तक कि फ्रांस के राष्ट्रपति द गाल तक ने फरियाद की, तब जाकर तीन साल बाद उन्हें मुक्त किया गया। देब्रे के मुकदमे के दौरान उन्हें समर्थन देने कई अन्य लोगों के साथ तारिक अली भी पहुंचे थे। वहां कहा गया उनका एक वाक्य अमर है। उन्होंने कहा था, *“अगर आप लोग मुझे सारी रात इसी तरह यातनाएं देते रहे तो सुबह तक मैं स्पेनिश बोलने लगूंगा और फिर जीवन भर आपका आभारी रहूंगा।”* उनका अकेला वाक्य तत्कालीन बोलिवियाई सरकार के वास्तविक चरित्र को गंगा कर देता है।

रिगीस देब्रे ने इसी दौरान एक पतली-सी किताब लिखी। नाम था: *रिवोल्यूशन इन द रिवोल्यूशन?*। उन दिनों की यह चर्चित किताब लातिन अमेरिका के गुरिल्ला युद्ध का सैद्धांतीकरण है, जिसे तब हर क्रांति प्रेमी



ढूँढ-ढूँढ कर पढ़ा करता था। कई वर्ष बाद जब इसका पेपरबैक संस्करण आया तो मैंने भी खरीदा। यह किताब मेरे छोटे से संकलन में सजी रहती थी। एक दिन योगेश गुप्त, जिनका उन दिनों हमारे यहां खूब आनाजाना था, हजार बार मना करने के बावजूद उसे ले गए।

मैं किताब भूल नहीं पाता हूँ। अभी भी वह ठीक से पढ़नी बाकी है। खैर, दुनिया अब तक कहीं की कहीं निकल गई है, दोनों स्तरों पर, निजी और सार्वजनिक। इसलिए अब उसकी वैसी याद नहीं आती।

सातवें दशक का अंतिम दौर वह था जब हमारे देश में भी विद्रोह की आहट सुनाई देने लगी थी। यह बात और है कि उसका स्वरूप कुछ और था। यद्यपि वह विश्वव्यापी छात्र आंदोलन के, जब हमारे देश में कुछ नहीं हुआ, एक वर्ष बाद उभरा था, पर उसमें छात्रों ने बड़ी संख्या में भागीदारी की थी। महत्त्वपूर्ण यह था कि इनमें सेंट जेवियर्स, प्रेसीडेंसी और सेंट स्टिफेंस जैसे देश के जाने-माने शीर्ष (एलीट) कॉलेजों तक के छात्र शामिल थे। पूंजीवादी देशों के छात्र विद्रोह की तुलना में यह कई गुना शक्तिशाली था। इसीलिए नहीं कि इसमें अभिजात्य कॉलेजों के छात्र शामिल थे, बल्कि इसलिए कि इसकी जड़ें भारतीय ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्रों में गहरी थीं और इसका नेतृत्व भी वहीं से उभरा था। यह आज, पांच दशक बाद भी, कई धाराओं के रूप में जारी है। मैं नक्सबाड़ी आंदोलन की बात कर रहा हूँ जो इधर 'अर्बन माओइस्ट' नाम देकर बदनाम किया जा रहा है।

### विद्रोह की चमक

निश्चय ही 68 का पश्चिम का छात्र विद्रोह ज्यादा आकर्षक और चमकीला था। उसकी शुरुआत अनपेक्षित रूप से यद्यपि यौन स्वतंत्रता की मांग से शुरू हुई पर उसने अंततः फ्रांस के सामाजिक और राजनीतिक ढांचे को हिला कर रख दिया था। इस आंदोलन की वैश्विक स्तर पर व्यापकता असल में पूंजीवादी देशों के संकट से जुड़ी थी। पूंजीवाद इस तरह के संकटों से निकलने का कोई न कोई रास्ता खोज लेता है। और छात्र आंदोलन को लेकर भी यही हुआ।

इतना व्यापक आंदोलन मात्र एक माह में खत्म हो गया।

वैसे बड़ी बात यह है कि फ्रांसीसी समाज की शायद यह भी विशेषता है कि वह इस तरह के बड़े-बड़े झटकों से सीख कर (या पचाकर?) आगे बढ़ने की क्षमता रखता है। यह देश अपने वैचारिक और सामाजिक व्यवहार में संभवतः इसीलिए दुनिया, बल्कि कहना चाहिए पूंजीवादी दुनिया, का नेतृत्व तो करता ही है।

### रेगिस्तान का बीयाबान

अब बात फिल्म की।

मैं जिस फिल्म की बात करना चाहता हूँ, वह प्रशांत महासागर के दूसरी ओर के छात्र आंदोलन पर बनी लगभग क्लासिक फिल्म है। पर देखने की बात यह है कि इसका निर्देशक ही नहीं, निर्माता भी इतावली था। फिल्म का नाम था *जेब्रिस्की पॉइंट* और यह 1970 में प्रदर्शित हुई थी। निर्देशक थे सुप्रसिद्ध फिल्मकार माइकेल एंजेलो एंतेनोनी और निर्माता कार्लो पोंटी, जानी-मानी इतालवी फिल्म अभिनेत्री सोफिया लारां के पति। *जेब्रिस्की पॉइंट* मैंने कब देखी ठीक से याद नहीं। संभवतः 71 या 72 का वर्ष रहा होगा। फिल्म की कहानी एक ऐसे युवा पर केंद्रित है जो देश की राजनीतिक-सामाजिक उथल-पुथल से बेचैन छात्र है और व्यवस्था के खिलाफ जल्दी-से जल्दी कड़े से कड़ा विरोध करना चाहता है। एक मायने में वियतनाम युद्ध की अदृश्य छाया भी फिल्म में मौजूद है, जो उस दौरान लड़ा जा रहा था और जिसमें बड़ी संख्या में अमेरिकी युवा मर रहे थे। यह हिप्पी आंदोलन के प्रमुख कारणों में से एक था। अमेरिकी युवाओं पर अनिवार्य सैन्य सेवा (कांस्क्रिप्शन) का दबाव इस कदर था कि लाखों युवा देश छोड़कर भाग लिए थे।

इस प्रसंग के अवांतर होने के बावजूद इसे समझना इसलिए जरूरी है कि इसके बिना तत्कालीन अमेरिकी समाज और वहां की राजनीतिक उथल-पुथल को समझा नहीं जा सकता।

*जेब्रिस्की पॉइंट* के नायक की हताशा और बेचैनी का यह कम बड़ा कारण नहीं हो सकता। यद्यपि फिल्म में यह इस रूप में

कहीं नजर नहीं आती। फिल्म दिखलाती है कि नायक अपने साथी आंदोलनकारी छात्रों को छुड़वाने जाता है और वहां कुछ ऐसा होता है कि गोली चलती है और एक सिपाही गिरता है। निश्चित नहीं है कि गोली किसने मारी, पर नायक का हाथ भी अपनी पिस्तौल की ओर जाता जरूर दिखलाई देता है। इसके बाद वह भागता है और एक छोटे हवाई जहाज को बिना इजाजत ले कर उड़ता हुआ डे थ वैली (कैलिफोर्निया) के रेगिस्तान में मंडराने लगता है। वहां एक वीरान सड़क पर एक अकेली कार को जाता देख उत्सुकतावश नजदीक जाता है और पाता है कि बिना छतवाली कार में अकेली लड़की चली जा रही है। लड़की रेगिस्तान के एक लक्जरी रिजॉर्ट को जा रही है, जिसका खरबपति मालिक उसका प्रेमी जैसा कुछ है। लड़का जहाज से अपनी टी शर्ट फेंकता है और लड़की उसकी हरकतों से आकर्षित होती है। अंततः नायक हवाई जहाज को उतार देता है। वे दोनों मिलते हैं। लड़का बतलाता है कि वह क्यों भागा है। लड़की को उसकी पुलिस दमन और अन्याय की बातें सुनकर आश्चर्य होता है। वह कहती भी है कि मैंने तो ऐसा कहीं कुछ देखा नहीं। खैर इस दौरान वे उस रेगिस्तान में प्रेम करते हैं और वह लड़के को जहाज के लिए तेल दिलवाती है, जिससे कि वह वापस जा सके। लड़का जहाज लेकर वापस उड़ जाता है और लड़की रिजॉर्ट की ओर चली जाती है।

दूसरी ओर, हवाई अड्डे पर पुलिस लड़के का इंतजार कर रही है और उसके उतरते ही रनवे पर बिना हवाई जहाज के रुकने का इंतजार किए, गोली चला देती है। लड़की रिजॉर्ट में पहुंच कर टीवी पर उस घटनाक्रम के सीधे ब्रॉडकास्ट को देख रही होती है और उस लड़के के, जो अभी कुछ ही समय पहले उसके साथ था, जिसने उससे प्रेम किया था, मारे दिए जाने पर स्तब्ध रह जाती है।

अचानक लड़की जैसे किसी सपने से बाहर आती है। वह रिजॉर्ट से निकलती है और कार में बैठ लौट जाती है। थोड़ी दूर चलकर वह कार रोककर उतरती है। मुड़कर देखती है। पीछे रिजॉर्ट नजर आता है कि

तभी विस्फोटों का सिलसिला शुरू होता है और थोड़ी ही देर में पूरा रिजॉर्ट धूँधूँ करता जलने लगता है। पर्दे पर रिजॉर्ट की चीजें चूर-चूर हो देर तक उतरती रहती हैं। निश्चय ही यह सब लड़की की कल्पना में होता है। स्पष्टतः फिल्म की प्रतिक्रियात्मकता कई स्तरों पर है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि फिल्म में हिप्पी आंदोलन या फिर अनिवार्य सैन्य सेवा का कहीं गलती से भी उल्लेख क्यों नहीं है? क्या इसलिए कि निर्देशक को आभास था कि अमेरिकी सत्ता किस हद तक जा सकती है? बाद में एफबीआई ने एंतेनोओनी की उनकी विचारधारा (स्पष्टतः वापपंथी) के कारण जांच की थी, पर उसके हाथ कुछ लगा नहीं। यह मैकार्थिसिजम का दौर नहीं था पर उसे गुजरे बहुत समय नहीं हुआ था।

### नदी के पार

सीन नदी पेरिस के बीच से बहती हुई अगल-बगल में ही दो द्वीप बनाती है। इनमें छोटे वाले का नाम है आइल सेंट-लूई सेंट और बड़े वाले का आइल द ले सीते। बड़े द्वीप के पूर्वी छोर पर नात्रेदेम गिरजा है। इसके सामने दूसरे किनारे पर है लेटिन क्वार्टर। यह फ्रांस पर रोमन साम्राज्य का अवशेष है। 19वीं सदी में जब पेरिस को ढहाकर नए सिरे से बसाया जा रहा था तब यह इलाका किसी तरह बच गया था। आज एफिल टावर और लूव्र के साथ ही यह इलाका भी उतना ही मशहूर है।

लेटिन क्वार्टर के हर पेड़, हर पत्ते, हर पत्थर, हर दीवार से बौद्धिकता टपकती है। बौद्धिकता की कागजी गंध नदी के दाहिने किनारे पर भी उतनी ही प्रचंड है जितनी कि उत्तरी किनारे पर स्थित गुरुवरों और शिष्यों की उस बस्ती में, जिसे देखने दुनिया के कोने-कोने से लोग आते हैं। टूरिस्ट कंपनियां इन अवाक पर्यटकों को कंडक्टेड टूर में फ्रांस की बौद्धिक, रचनात्मक और विद्रोह की दुनिया से रूबरू करवाने की मोटी फीस वसूलती हैं।

1968 का छात्र आंदोलन फ्रांस में चाहे नान्त्रे विश्वविद्यालय से शुरू हुआ हो पर उसने असली रंग यहीं यानी लैटिन क्वार्टर में दिखलाया, जहां पेरिस

विश्वविद्यालय था। वह जिस बिल्डिंग में था, वह सॉरबोन कहलाती है। कह नहीं सकता आजकल सॉरबोन विश्वविद्यालय का नाम दुनिया के दस शीर्ष विश्वविद्यालयों में है या सौ में, पर उसका नाम ही पढ़े-लिखों की दुनिया में झुरझुरी पैदा करने के लिए काफी है। सन् 1971 में इसका नाम बदला गया और इसके कई स्वतंत्र विश्वविद्यालय बना दिए गए। फिलहाल महत्त्वपूर्ण यह है कि 1968 का छात्र आंदोलन सिर्फ एक माह चलकर थम गया था पर मानने वाले मानते हैं कि उसकी धमक ने इतने गहरे पद चिह्न छोड़े हैं की उनकी छाप आज भी विशेषकर फ्रांस और पूरे पश्चिमी जीवन के हर क्षेत्र में देखी जा सकती है। सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र पर चाहे जितनी हो कला, साहित्य, संगीत और संस्कृति के क्षेत्र में यह कई गुना ज्यादा है। प्रसंगवश इस अंक के आवरण का चित्र जॉन मीरो का है, जिसका शीर्षक ही 'मई 1968' है।

नक्सलवादी या माओवादी आंदोलन मूलतः मार्क्सवाद पर आधारित है और वह अन्य साम्यवादी दलों से इस मायने में भिन्न है कि वह अपनी दिशा कम्युनिस्ट आंदोलन के एक नेता माओ त्से तुंग से लेता है। यह जरूरत पड़ने पर हिंसा का प्रतिरोध करने की बात करता है। यह बतलाना जरूरी नहीं है कि मार्क्सवाद यह मानता है कि समाज में तब तक समानता नहीं आ सकती जब तक कि आर्थिक संबंधों में समानता न हो। स्पष्ट है कि यह एक आदर्श लक्ष्य है, जो असंभव नहीं पर खासा कठिन है। और यही कारण है कि मार्क्सवादी संघर्ष आज भी दुनिया भर में जारी है।

मैंने पूरे मार्क्सवाद को इतना सरलीकृत, 1968 के एक उदाहरण से, अपनी बात को ठोस रूप देने के लिए किया है। सत्य यह है कि यह आंदोलन दुनिया भर में फैला और इसने स्थानीय स्तर पर कई छात्र नेताओं को जन्म दिया। डेनियल कोहन बेंदित उस दौर के अविवादित सबसे बड़े छात्र नेता कहे जाते हैं, तो रिगीस देब्रे आंदोलन से सीधे जुड़े न होने के बावजूद, उस दौर के विशिष्ट बुद्धिजीवी माने गए और एक रेडिकल बुद्धिजीवी के रूप में चर्चित रहे हैं।

पर बाद में जहां बेंदित जर्मन की ग्रीन पार्टी में शामिल हो गए और वहां की संसद के सदस्य निर्वाचित हुए, वहीं देब्रे फ्रांस के राष्ट्रपति फ्रैंक्वा मित्रां के सलाहकार के रूप में काम करते रहे। बहुत हुआ तो इन दोनों को उदारवादी बुद्धिजीवी जरूर कहा जा सकता है। पर यह भी किसी से छिपा नहीं है कि बौद्धिक उदारवादिता अंततः स्थापित व्यवस्था को ही मजबूत करती है। दूसरी ओर यदि कोई इस आंदोलन का एक मात्र बड़ा विचारक और बुद्धिजीवी, आज 50 वर्ष बाद, कहलाने का अधिकार रखता है तो वह केवल तारिक अली ही है, जो मूलतः मार्क्सवादी हैं। चाहे जो हो, आज भी मार्क्सवाद ही दुनिया को बदलने की सबसे मजबूत विचारधारा है। यह हमें समानता का रास्ता ही नहीं दिखलाती, उम्मीद भी जगाती है।

पर बात लेटिन क्वार्टर की हो रही थी, जहां पेरिस विश्वविद्यालय था और जो 68 के आंदोलन के दो वर्ष बाद पैंथियन-सॉरबोन विश्वविद्यालय कहलाया।

### पैंथियन की छत

सवाल है यह 'पैंथियन' है क्या बला? इसका अर्थ है देवालय या स्मारक भवन। दूसरे शब्दों में कब्रिस्तान (मकबरा) या समाधि भवन। इसके अंदर फ्रांस की उन महान विभूतियों को दफनाया गया है जिनका साहित्य, कला, विज्ञान और दर्शन में निर्विवाद योगदान है। यहां वाल्तेयर, रूसो, ह्यूगो, जोला, आंद्रे मार्लो चिरनिद्रा में सो रहे हैं। वैज्ञानिक मेरी क्यूरी और पियरे क्यूरी तथा लेखक एलकजेंडर ड्यूमा के अवशेषों को बाद में यहां लाया गया।

नदी के दाएं किनारे के नात्रेदेम गिरजाघर को देख कर याद आया कि इसी नाम का एक गिरजाघर हो चि मिन्ह सिटी (पुराना सैगोन) में भी है। उसका वास्तुशिल्प इससे मिलता-जुलता है, सिवाय इसके कि उसके दोनों चौकोर बुर्जों पर उठी हुई नुकीली छतें हैं। खैर नात्रेदेम से कुछ आगे पूर्व की ओर वह प्रसिद्ध जगह है जहां से पहली फ्रांसीसी क्रांति शुरू हुई। यह पेरिस का हृदय स्थल है। तब यहां बॉस्टील नाम की जेल थी, जिस पर क्रांतिकारियों ने 14 जुलाई 1789 को कब्जा किया और अंततः ढा दिया था।

मूलतः यह 14वीं सदी का महल था जिसे बाद में जेल में बदल दिया गया था। बॉस्टील के इसी चौक पर स्वतंत्रता का जश्न मनाया गया था और तब तय किया गया था कि यहां पर एक विजय स्तंभ लगाया जाएगा। पर उस समय वह नहीं बन पाया। इस बीच नेपोलियन ने सत्ता संभाली और फैसला किया कि चौक के बीच में एक आदमकद हाथी बनाया जाए। इस हाथी का प्लास्टर का मॉडल तो बना पर जैसा कि योजना थी, धातु का नहीं बन पाया। अंततः 1840 में 'जुलाई स्तंभ' नाम का स्मारक बना, जो चौक के केंद्र में खड़ा है। इसके ठीक सामने ऑपेरा बॉस्टील है।

साहित्य प्रेमियों के लिए यह विजय स्तंभ अतिरिक्त महत्त्व का है। विक्टर ह्यूगो ने अपने सुप्रसिद्ध उपन्यास *अभागो का भाग्य* (लॉ मिजराब) में उस हाथी को अमर कर दिया जो मॉडल से आगे नहीं बढ़ पाया और अंततः तोड़ दिया गया। उपन्यास में यह हाथी बेसहारा लड़के गवरोशे की शरण स्थली बनता है।

बॉस्टील चौक से अगर पश्चिम को बढ़ा जाए तो सेंट एंतोनी रोड पर कुछ आगे दाईं ओर मेशन द विक्टर ह्यूगो संग्रहालय है। पर जब हम वहां पहुंचे दुर्भाग्य से संग्रहालय में प्रवेश बंद हो चुका था। उसी दिशा में थोड़ा उत्तर की ओर पिकासो का संग्रहालय भी है। पर 19वीं सदी के महान मूर्तिकार अगस्त रोदिन का संग्रहालय सीन के बाएं किनारे पर है। अत्यंत सुंदर यह संग्रहालय रोदिन का घर था। रोदिन की सर्वाधिक चर्चित कृतियों में 'विचारक' नाम की मूर्ति है, जिसमें विचारमग्न एक आकृति कोहनी को घुटने पर टिकाए मुट्ठी से अपनी टोढ़ी संभाले है। यह आदमकद मूर्ति संग्रहालय के दाईं ओर के छोटे बगीचे में एक ऊंचे पैठरस्टल पर टिकी है। रोदिन की सैकड़ों कृतियां इस संग्रहालय में हैं। उन्होंने कई लोगों की मूर्तियां फर्माइश पर बनाई थीं, जो उनकी आजीविका थी। जो भी हो रोदिन ने कई समकालीन लेखकों की भी मूर्तियां (बस्ट) बनाई हैं। इनमें मोपांसा, बालजाक और ह्यूगो शामिल हैं। उनकी बनाई ह्यूगो की एक कृति लंदन के विक्टोरिया और एलबर्ट संग्रहालय में भी देखने को मिली। रोदिन वहां भी रहे थे।

## यहूदी मोहल्ला और पत्थर पर लिखी इबारतें

रास्ते में एक स्कूल की दीवार पर लगे पत्थर की पट्टी पर फ्रांसीसी में लिखी इबारत की ओर इशारा करते हुए हमारे मित्र हरित जोशी ने, जो यहां के एक विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं, शहर के बारे में बहुत-से महत्वपूर्ण तथ्यों के अलावा यह भी बतलाया कि इस पत्थर पर लिखा है कि नात्सी जर्मनी के फ्रांस पर आक्रमण के दौरान स्कूलों से कितने यहूदी बच्चों को नाजियों को सौंपा गया था। इस तरह की पट्टी हर उस स्कूल के बाहर लगी है जिससे यहूदी बच्चों को नाजियों को सौंपा गया। इन बच्चों की कुल संख्या चार हजार थी। कहने की जरूरत नहीं कि वे कभी लौटे नहीं। यह फ्रांस का पश्चाताप का अपना ही तरीका है, साथ में इस बात की चेतावनी भी कि ऐसा फिर कभी न हो।

मेशन द विक्टर ह्यूगो से भीड़ भरी सड़कों से गुजरते हुए उस इलाके में पहुंचने में देर नहीं लगती जो यहूदियों का मोहल्ला है। आज यह फैशन और फैशनेबुल लोगों का दुनिया का सबसे लोकप्रिय बाजार है। एलजीबीटी (लेस्बियन, गे, बाइसेक्सुअल एंड ट्रांसजेंडर - समलैंगिक स्त्री-पुरुष, सम-विषम लैंगिकों व पार लैंगिकों) का केंद्र। यहूदी विरोध, सब कुछ के बावजूद, पूरे योरोप में चाहे कितना ही दबा हुआ ही क्यों न हो, आज भी है। यद्यपि उसने दूसरा रूप ले लिया है। फ्रांस में मुस्लिम आबादी योरोप के किसी भी देश से ज्यादा है। इसका कारण है सबसे ज्यादा मुस्लिम देश फ्रांस के उपनिवेश थे। जिस तरह से पश्चिमी देशों ने इजराइल को अरब देशों, विशेष कर फिलिस्तीन पर थोपा और जिस तरह से आज भी उनका दमन हो रहा है, उसके चलते मुस्लिमानों द्वारा किया जाने वाला विरोध अक्सर फ्रांस में उभर कर सामने आता रहता है। दूसरे शब्दों में अब यहूदी विरोध का मोर्चा मुसलमानों के हाथ में है और योरोपियों का विरोध दबा हुआ है। या वे तमाशा देखते रहते हैं।

## पेरिस रहस्य

पुराना होने के बावजूद पेरिस अत्यंत नियोजित शहर है। बॉस्टील चौक वृत्ताकार

है, जिससे कई सड़कें निकलती हैं। केंद्रीय शहर में सड़कों के दोनों ओर समान ऊंचाई के चार मंजिले मकान हैं, जो अपने वास्तुशिल्प में कमोबेश एक से नजर आते हैं। इनकी मंजिलें आज के हिसाब से काफी ऊंची हैं। पत्थर से चिनी दीवारें सीमेंट, लोहे और कांच की अति से मुक्त हैं। इन मकानों में गए दिनों की ऐसी आभा है जो गैरजरूरी लिपा-पोती के बिना भी इन्हें आकर्षक बनाए हुए है।

असल में 19वीं सदी के मध्य से पूरे शहर को नए सिरे से बनाया गया। तब तक यह निहायत गंदा था। निर्माण का सिलसिला कुल मिलाकर 17 वर्ष तक इस गति से चलता रहा कि जनता हाय-हाय कर उठी थी। जो भी हो उस निर्माण ने इस शहर को अत्यंत व्यवस्थित आधुनिक शहर में बदल दिया। ध्यान देने की बात है कि यह फ्रांस के उपनिवेशवाद का दूसरा दौर था जब उसने पूर्वी एशिया और अफ्रिका के बड़े क्षेत्र को कब्जा लिया था। पेरिस के अलावा यह बात रोम और लंदन में भी दिखलाई देती है और पुनर्निर्माण का यह दौर लगभग सारे योरोप के उपनिवेशवादी देशों में समानांतर ही नजर आता है। यानी इसके लिए संसाधन उपनिवेशों से आ रहे थे।

ह्यूगो संग्रहालय न देख पाने का अफसोस रहा। ह्यूगो ऐसी शिखरयत हैं जिनकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उपस्थिति फ्रांस में जगह-जगह मिल जाती है। ह्यूगो की रचनाओं के साथ मुझे उनकी बेटी की याद आए बिना नहीं रहती। गोकि इसका बहाना दूसरा है। वह है फिल्म।

वैसे भी फ्रांस पर बात हो और फिल्में छूट जाएं तो समझो बात अधूरी रह गई। सिनेमा में 'नई लहर' गोकि योरोप के कई देशों, जैसे कि रूस, इटली, जर्मनी, हंगरी और चेकोस्लोवाकिया में भी नजर आई थी, पर उसका असली केंद्र फ्रांस ही था। हिंदी में उन दिनों नई लहर की खूब चर्चा होती थी और मुझे जैसे कई सामान्य फिल्म दर्शक एलन रेजने, गोदार, त्रूफो, शेबरोल और बेजिन आदि विशिष्ट नामों से परिचित हो गए थे। इसका भारतीय सिनेमा पर भी जबर्दस्त प्रभाव पड़ा और सत्यजित रे, मृणाल सेन, मणि कौल, कुमार शाहनी, अडूर गोपाल कृष्णन, जी अरविंदन और

गिरीश कसरावल्ली जैसे कई फिल्मकार अपनी एक से एक उत्कृष्ट फिल्म के साथ उभरे। हिंदी में इस पर चर्चा का श्रेय तत्कालीन साप्ताहिक *दिनमान* और विशेषकर उसके स्तंभकार नेत्रसिंह रावत को जाता है। मैंने फ्रांसीसी फिल्में गिनती की ही देखीं हैं। इनमें भी शेबरोल और त्रूफो की फिल्मों के अंग्रेजी संस्करण देखे, जो हॉलीवुड के वितरकों के माध्यम से प्रदर्शित हुए थे।

सन् 1976 के आसपास फ्रंक्वा त्रूफो की एक फिल्म अंग्रेजी में आई थी। दिल्ली में यह चाणक्य सिनेमा घर में, जो अब बंद हो चुका है, प्रदर्शित हुई। इसे भूलना मुश्किल है। नाम था *द स्टोरी ऑफ एडेल एच*। थोड़ा अजीब-सा नाम। रोमन अक्षर 'एच' के माध्यम से जो शब्द छुपाया गया था वह था 'ह्यूगो'। एडेल विक्टर ह्यूगो की दूसरी बेटी और पांच बच्चों में सबसे छोटी संतान थीं। फिल्म उसी के जीवन पर है। जहां तक विषय वस्तु का सवाल है वह फ्रांसेस वी गुएले की किताब *ल जर्नल द'एडेल ह्यूगो* पर आधारित है। गुएले ने 1955 में एडेल की संकेतों में लिखी गूढ़ डायरी ही नहीं खोजी थी, बल्कि उन संकेतों के अर्थ भी खोज निकाले थे। यह डायरी एक अत्यंत जटिल चरित्र की मानसिक स्थिति और मनोवैज्ञानिक उथल-पुथल का दस्तावेज है। एडेल अपने दुर्बोध, अवसाद भरे और त्रासद जीवन के कारण फ्रांसीसी समाज में उत्सुकता का विषय रही हैं। पर त्रूफो ने इस कारुणिक चरित्र का जैसा संवेदनशील और कलात्मक चित्रण इस फिल्म में किया है, उसका सानी कम ही देखने को मिलता है।

एडेल शुरू से ही कुछ आत्मकेंद्रित की थी। उसे संगीत से प्रेम था और वह घंटों पियानो बजाया करती थी। राजनीतिक उथल-पुथल के कारण ह्यूगो को 1856 से निर्वासन में रहना पड़ा था। इसने एडेल के अवसाद को बढ़ा दिया। यहां वह एक ब्रिटिश सैनिक लेफ्टिनेंट पिंसन के प्रति आकर्षित हो गई। पर राष्ट्रवादी ह्यूगो को उसका एक ब्रितानवी से विवाह का विचार पसंद नहीं आया। बाद में उसकी मां ने एडेल और पिंसन को समझा कर अलग होने के लिए राजी कर लिया। लेकिन इससे एडेल की हताशा चरम पर पहुंच गई और वह उल्टा

प्रेम में पूरी तरह दीवानी हो गई। इस बीच पिंसन की पलटन हे लीफेक्स, नोवा स्काटिया भेज दी गई। मौका लगते ही एक दिन एडेल भाग निकली और हे लीफेक्स, कनाडा पहुंच गई।

### प्रेम का पागल संसार

वहां किसी को बिना बताए कि वह कौन है, चुपचाप रहने लगी और लगातार पिंसन का पीछा करने लगी। सच यह है कि पिंसन को उससे कोई लगाव नहीं था। उसने एडेल को अपना पीछा छोड़ने और दूर रहने के लिए कई बार चेतावनी दी, पर वह नहीं मानी। इधर एडेल ने फ्रांस में अपने घरवालों को लिखा कि उसने पिंसन से विवाह कर लिया है। पर वास्तव में तब तक पिंसन शादी करके जिब्राल्टर जा चुका था।

हे लीफेक्स के आवास के दौरान वह अपने मनोभावों को लगातार कलमबद्ध करती थी और जरूरत के कागज आदि खरीदने जिस दुकान पर जाती थी उसका सहायक एडेल में रुचि लेने लगा। वह एडेल में अतिरिक्त रुचि के कारण इस बीच यह भी जान गया था कि वह किस की बेटी है। एक दिन उसने एडेल को उसके पिता की नवीनतम कृति *ला मिजराब* भेंट कर दी। इसका एडेल पर उल्टा असर पड़ा। वह अपने पिता के नाम की छाया से भी दूर रहना चाहती थी। वह नाराज हो गई और उस दुकान पर जाना ही छोड़ दिया।

पिंसन के चले जाने के बाद वह कुछ दिन हे लीफेक्स रही और फिर वहां से बारबडोस जा पहुंची, जहां पिंसन भेज दिया गया था। अब तक उसकी मानसिक स्थिति लगातार खराब होती जा रही थी और उसके पास पैसे भी नहीं रहे थे। पूरी फिल्म में वह जिस लाल चोगे को पहने रहती है वह अब तक बदरंग हो चुका था। अंततः वह पूरी तरह अपना मानसिक संतुलन खो बैठी और पूरे द्वीप में भटकने लगी। लोग उसे मादम पिंसन के नाम से जानते थे। श्वेत होने के कारण वह अश्वेतों से भरे उस शहर में अपने आप में आश्चर्य का कारण थी। अंततः यह बात पिंसन को पता चली कि एक योरोपीय औरत जो अपने को श्रीमती पिंसन बतलाती है पागल हो घूम रही है तो वह पता लगाने निकलता है।

### कथा के रूप में जीवन

फिल्म का अंत हिला देने वाला है। पिंसन देखता है कि सब कुछ से निरपेक्ष जो औरत बदरंग चोले में चली आ रही है वह वास्तव में एडेल ही है। वह कुछ दूर तक पीछा करता है। पर एडेल को कोई असर नहीं होता। अंततः पिंसन बढ़कर उसके सामने आ खड़ा होता है। वह प्रेमी जिसे खोजती हुई एडेल आधी दुनिया तय कर के आई थी, उसके सामने था पर वह उसे पहचानने की स्थिति में नहीं थी। आत्मलिप्त, बिना किसी भाव के वह आगे निकल जाती है। यहां पर फिल्म एक घोषणा के साथ खत्म हो जाती है।

त्रूफो ने कहीं कहा है, "मुझे वास्तविक जीवन की घटनाओं को ऐसी कथा बनाने की प्रक्रिया, जो मूल सामग्री की प्रमाणिकता को विकृत न करे, बहुत आकर्षित करती है।" इस फिल्म में भी वह वास्तविक कथा के प्रति पूरी तरह ईमानदार रहे हैं सिवा हे लीफेक्स के उस स्टेशनरी की दुकान में काम करने वाले सहायक के चरित्र के, जो एडेल के प्रति आकर्षित होता है। इस काल्पनिक चरित्र ने एक हद तक एडेल की त्रासदी को और गहरा दिया है। फिल्म के संदर्भ में एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि पूरी फिल्म में ह्यूगो विद्यमान हैं, पर वह नजर नहीं आते। इसका कारण यह है कि त्रूफो को फिल्म बनाने की इजाजत ह्यूगो के ट्रस्टियों ने इस शर्त पर ही दी कि फिल्म में उन्हें कहीं नहीं दिखलाया जाएगा।

अल्जीरियाई पिता और जर्मन मां की संतान फिल्म की नायिका इजाबेला अडजानी फ्रांस की प्रतिभाषाली अभिनेत्रियों में मानी जाती हैं। इस फिल्म में उन्हें देखना एक उपलब्धि है। इजाबेला ने अपने सघन और संवेदनशील अभिनय से एडेल को अमर कर दिया है।

एडेल को बाद में फ्रांस लाया गया, जहां उसे मानसिक रोगों के आश्रय में रख दिया गया। यही बात फिल्म के अंत की घोषणा बतलाती है। वह विक्टर ह्यूगो की अकेली ऐसी संतान थी जो अपने पिता के बाद मरी। उसकी मृत्यु 85 वर्ष की अवस्था में 1915 में हुई और उसे पेरिस से दूर विलेक्वूर चर्चयार्ड में परिवार के अन्य सदस्यों के साथ दफना दिया गया। ■

(जनवरी, 2019)

## आग का सैलाब

### ■ अमिताव घोष

इस बार के ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किए गए अंग्रेजी उपन्यासकार और निबंधकार अमिताव घोष की आईबिस और अफीम युद्ध त्रयी का ये तीसरा उपन्यास है। इससे पहले **सी ऑफ पाँपिज** और **रिवर ऑफ स्मोक** शीर्षकों से पहले दो उपन्यास हैं जो पाठकों में काफी लोकप्रिय हुए हैं। **फ्लड ऑफ फायर** के एक हिस्से का अनुवाद यहां पेश है— इसके जरिए लेखक की भाषाई कलात्मकता, उत्तरआधुनिक वर्णन की करामात और गद्य की महाकाव्यात्मकता का अंदाजा भी लगा सकते हैं। तीनों उपन्यास एक तरह से उपमहाद्वीपीय उछाड़-पछाड़ और औपनिवेशिक कालखंड का गहन शोधपूर्ण, पारदर्शी और खुरदुरा कथानक रचते हैं। अमिताव यूं तो दक्षिण एशियाई खासकर भारत की समकालीन राजनीतिक घटनाक्रमों, सत्तासंघर्षों और सामाजिक आंदोलनों और हिंसाओं पर मुखर टिप्पणीकार नहीं रहे हैं, लेकिन जलवायु परिवर्तन जैसे मुद्दों पर उनका एक प्रखर विरोध रहा है। इस पर उनकी एक चर्चित किताब भी है जिसमें जलवायु परिवर्तन यानी क्लाइमेट चेंज की भयावहताओं, कारणों और आसन्न खतरों को चिह्नित किया है। **फ्लड ऑफ फायर** का यह अंश पेंगुइन प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पुस्तक से साभार लिया गया है। अनुवाद तथा प्रस्तुति: शिवप्रसाद जोशी

हवलदार केसरी सिंह एक ऐसा सिपाही था जिससे पलटन की अगुवाई करना पसंद था, खासकर इस तरह के दिनों में, जब उसकी बटालियन एक ऐसे इलाके से मार्च करते हुए गुजर रही थी जो पहले से ही कब्जे में आ चुका था और अग्रिम दल (एडवांस गार्ड) का काम पलटन की पताकाएं लहराना और सड़क किनारे जमा हुई भीड़ के सामने अपनी सर्वोत्तम परेड पेश करना ही रह गया था।

सड़क किनारे खड़े हुए गांव वाले साधारण लोग थे और वे फटी आंखों से हैरानगी के साथ केसरी को घूर रहे थे— ये जानने के लिए केसरी को उनकी आंखों में देखने की जरूरत नहीं थी। असम के इस दूरदराज के हिस्से में ईस्ट इंडिया कंपनी के सिपाहियों की आमद एक असाधारण घटना थी: बंगाल नेटिव इन्फन्ट्री (पैदल सेना-अनु.) की 25वीं रेजिमेंट की पूरी पलटन को देखना— जो 'पच्चीसी' के नाम से मशहूर थी और धान के खेतों से होकर गुजर रही थी— ये शायद एक विहंगम तमाशा था, जो शायद उनमें से अधिकतर लोगों को एक साल या एक दशक में ही देखने के लिए मिलता होगा।

केसरी को सड़क किनारे जमा दर्जनों लोगों को देखने के लिए सिर्फ आगे की ओर ही देखना था: किसान, बूढ़ी औरतें, चरवाहे और बच्चे। वे देखने के लिए दौड़े दौड़े आ रहे थे, मानो डरते हों कि ये तमाशा छूट न जाए: इस बात का तो उन्हें जरा भी अंदाजा न था कि ये दर्शनीय नजारा अभी घंटों जारी रहने वाला था।

केसरी के घोड़े के ठीक पीछे, पैदल चलते हुए रसद गार्ड थे। उनके पीछे छावनी के चाकर थे। ये नाम गलत दिया गया था क्योंकि वे असल में फौज के आगे चलते थे और संख्या में उनसे ज्यादा थे। वे दो हजार थे और सिपाही थे सिर्फ छह सौ। उनका काफिला एक चलते-फिरते शहर की तरह था, बैलगाड़ियों की कतार एक लंबी रेलगाड़ी की तरह दिखती थी जिसमें हर किस्म के लोग सवार थे— पंडित और ग्वालिनें, दुकानदार और अनाज विक्रेता बंजारे, यहां तक कि वेश्याओं की एक टोली भी। जानवर भी बहुत सारे थे— भेड़ों, बकरियों और बैलों का शोर भरा झुंड। दो हाथी भी थे, जिन पर अधिकारियों का सामान लदा था और साथ-साथ उनकी मेस का फर्नीचर भी। मेज

और कुर्सियां उनमें बंधी थी और उनके पाए हवा में लटके थे, जैसे उलटे लटके गुबरैले हों, पंख फैलाए कुलबुलाते और कांपते हुए से। एक यात्रारत मंदिर भी था, छकड़े के ऊपर रखा उसके साथ खिसकता हुआ।

ये सब गुजरा तो ढोल की लयबद्ध आवाज सुनाई दी और धूल का एक बादल प्रकट हुआ। मैदान ढोल की आवाज के साथ गूंज उठा। सिपाहियों की पहली रैंक नजर आई। कदमताल करती हुई ये टुकड़ी काली टोपियों और चमकती संगीनों की एक लंबी घुमावदार नदी थी। ये नजारा देखकर गांव वाले डर के मारे ओट के लिए भागने लगते थे। वे पेड़ों और झाड़ियों की पनाह लेकर देखने लगे: सिपाहियों का मार्चपास्ट और उनके आगे आगे चलते बांसुरी वादक और ड्रम बजाने वाले...

बंगाल नेटिव इन्फन्ट्री की परेड के इस नजारे से तुलना के लायक कुछ ही तमाशे होंगे। पलटन के हर सदस्य को यह बात पता थी। इंडिया वालों को, नाचने वालियों को, साइसों को, मेस के लोगों को, बेरी वालों, भिश्तियों को— लेकिन सबसे ज्यादा यह बात कोई जानता था तो वो था हवलदार केसरी सिंह, जो सबसे आगे चल रहा था। उसका चेहरा बटालियन के निशान की तरह काम करता था।

केसरी की यह धारणा थी कि बढिया नुमायश भी सिपाहीगिरी का ही एक हिस्सा है और इसमें उसे कोई शर्मिंदगी नहीं होती थी कि खासकर उसके चेहरे—मोहरे की वजह से ही उसे ज्यादातर मार्च की अगुवाई के लिए चुना जाता था। इस बात का इल्जाम उस पर नहीं धरा जा सकता कि लड़ाइयों के इतने वर्षों ने उसके चेहरे पर घावों के पैबंद चिपका दिए थे— कि वह अपनी शकलसूरत दुरुस्त नहीं रख पाया था— ऐसा नहीं था कि उसने तलवार की ऐसी खरोंच लगाने के लिए किसी को कहा हो कि उसके निचले होंठ फूल जाएं, न ही वो जख्म भी उसने खुद ही कर दिया था, जो उसके गालों की चमड़े जैसी काली त्वचा पर उकेरा हुआ था मानो करीने से उभारा गया टैटू।

लेकिन ऐसा भी नहीं था कि केसरी का चेहरा पलटन का सबसे रोबदार चेहरा हो। वो जब चाहे निश्चित रूप से डरावना दिख सकता था। उसकी शमशीर जैसी मूंछें और घनी भवें थीं, लेकिन और भी लोग थे जो इस मामले में उससे कहीं बढ़कर थे। यह रेजिमेंट की वर्दी पहनने का उसका ढंग था जिसके चलते वह किसी से

दबता न था: उसकी जाँघों का भार इतना था कि उसकी पतलून का काला कपड़ा दूसरी चमड़ी की तरह उनसे चिपक गया था, उसकी मर्दानगी को उभारता हुआ; उसका सीना अच्छा-खासा चौड़ा था और उसके कंधों पर लगे 'डैने' गहनों जैसे नहीं बल्कि हथियार जैसे दिखते थे; और पलटन में ऐसा कोई आदमी नहीं था जिस पर चमकीले पीले रंग के अस्तर वाला छोटा कसा हुआ गहरा लाल कोट फबता हो। मधुमक्खियों के छत्ते जितनी लंबी काली टोपी पहनकर, यह सोचने वाला वह अकेला नहीं था कि वो उसके ही सिर पर सबसे ज्यादा जंचती थी।

केसरी जानता था कि बटालियन के दूसरे एनसीओ (नॉन कमीशंड ऑफिसर - अनु.) के बीच यह मुद्दा आक्रोश का भी था कि उसके साथियों की अपेक्षा ज्यादातर उसे ही टुकड़ी की अगुवाई के लिए चुना जाता था। लेकिन उनकी शिकायतों से उसे कोई खास चिंता नहीं होती थी: वह सहयोगियों की राय को ज्यादा तवज्जो देने वाला इंसान नहीं था, वे बुझे हुए सुस्त लोग थे। और उसे यह स्वाभाविक ही लगता था कि वे उस जैसे किसी आदमी से ईर्ष्या करें।

पलटन में सिर्फ एक ही सिपाही था जिसकी केसरी बड़ी इज्जत करता था और वह थे सूबेदार निर्भय सिंह। बटालियन में सबसे ऊँची रैंक वाले भारतीय वही थे। यह पद उन्होंने अपनी शिखिसयत के दम पर हासिल किया था और अपने पारिवारिक संपर्कों से भी। सूबेदार निर्भय सिंह की पलटन पर ऐसी पकड़ थी कि बटालियन का कमांडर मेजर विल्सन भी उनसे उलझने में हिचकता था।

सिपाहियों की निगाह में, सूबेदार निर्भय सिंह न सिर्फ उनके सबसे सीनियर एनसीओ थे बल्कि उनके लिए पितातुल्य भी थे, क्योंकि तीन पीढ़ियों से पलटन की जान रहे राजपूत खानदान के वह वंशज थे। उनके दादा दफादार थे, जिन्होंने साठ साल पहले रेजीमेंट को खड़ा करने में मदद की थी: वह उसके पहले सूबेदार थे और उनकी औलादों ने उनके बाद यह पद संभाला था। मौजूदा सूबेदार ने भी यह रैंक, दो साल पहले ही रिटायर हुए अपने बड़े भाई सूबेदार भैरों सिंह से विरासत में पाई थी।

उनका जमींदार परिवार था, बनारस के नजदीक गाजीपुर कस्बे के बाहरी इलाके में। चूंकि बटालियन के ज्यादातर सिपाही उसी

इलाके से आते थे और उसी जाति के थे, इसलिए अनिवार्यतः कई तो सूबेदार के घराने से ही पक्का ताल्लुक रखते थे- दरअसल उनमें से ज्यादातर उन लोगों के बेटे थे जिन्होंने सूबेदार के पिता और दादा के अधीन काम किया था।

पलटन के चुनिंदा सदस्यों में केसरी भी था जिसे यह लाभ हासिल नहीं था। उसकी पैदायश नयनपुर गांव की थी जो बटालियन के प्रभाव क्षेत्र की दूरस्थ परिधि में पड़ता था और सूबेदार के परिवार से उसका एकमात्र रिश्ता उनकी छोटी बहन के जरिए ही था, जो उसके एक भतीजे से ब्याही थी। यह शादी कराने में केसरी की बड़ी भूमिका थी और हवलदार की रैंक तक पहुंचने में इस रिश्ते का भी रोल था।

अब, उनचालीस की उम्र पर, पलटन में तेईस साल गुजारने के बाद, केसरी के पास भरीपूरी नौकरी के अच्छे खासे दस या पंद्रह साल बचे थे और उसे पूरी उम्मीद थी कि वह जल्द ही, सूबेदार निर्भय सिंह के समर्थन से जमादार की रैंक हासिल कर लेगा। और उसके बाद, वक्त आने पर, हर हाल में उसे बटालियन का सूबेदार बनना था: वह एक भी ऐसे सीनियर सिपाही को नहीं जानता था, जो उसकी बराबरी का हो, न तो अक्लमंदी में, न ताकत में और न ही अनुभव में। यह तो सिर्फ उसी का वाजिब हक था।

पिछले सात महीनों के दरम्यान जैकरी रीड इतनी सारी उलटबांसियों में घिरा रहा था कि उसने खुद को यह यकीन भी दिलाने की कोशिश नहीं की थी कि उसके कठिनाई भरे दिन लगभग पूरे हो चुके थे, कि तभी एक रोज उसने कलकत्ता गजट में उस जांच से जुड़ी एक रिपोर्ट देखी जिसने उसे बरी कर दिया था।

5 जून 1839

...और सप्ताह की उल्लेखनीय घटनाओं की यह समीक्षा, हाल की एक न्यायिक जांच के बारे में बताए बिना पूरी नहीं होगी जिसमें बाल्टीमोर, मैरीलैंड के रहने वाले 21 साल के नाविक जैकरी रीड को, गए साल सितंबर महीने में आईबिस जहाज में हुए अप्रिय घटनाक्रम से जुड़े मामले में, सभी आरोपों से बरी कर दिया गया है।

कलकत्ता गजट के नियमित पाठकों को याद दिला दें कि 'आईबिस' मॉरीशस के रास्ते पर था और उसमें दो अभियुक्तों और कुलियों

की एक खेप सवार थी। जहाज में मची गड़बड़ में आप्रवासियों के मुख्य सरदार की हत्या कर दी गई थी जिसका नाम भैरों सिंह था, जो बंगाल नैटिव इन्फनट्री का पूर्व सूबेदार था और जिसे अपनी बहादुरी के लिए कई इनामअसबाब हासिल थे।

हत्याकांड के कुछ समय बाद ही, आईबिस एक भीषण तूफान की चपेट में आ गया था। बाद में यह पाया गया कि पांच लोगों के गिरोह ने जहाज के सह-कप्तान श्री जॉन क्राउल को भी मार डाला था। और फिर एक लंबी नाव पर सवार होकर भाग निकले थे। इनका रिंगलीडर नाविक दल का मुखिया था, अराकान इलाके का यह एक 'मग' था (बर्मा के अराकान लोगों के लिए योरोपियाई संबोधन - अनु.) और उसके गैंग में जहाज के दो अभियुक्त भी शामिल थे, उनमें से एक, रसखाली का पूर्व राजा नील रतन हालदार था (राजा के मुकदमे और उन पर लगे फर्जीवाड़े के आरोपों से जुड़ी जो सनसनी शहर के रिहाइशी हल्कों में पिछले साल फैली थी, कोई शक नहीं कि कलकत्ता के अधिकांश योरोपीय निवासियों की स्मृति में ताजा होगी)।

तूफान से पस्त आईबिस खुशकिस्मत था कि उसे दो मस्तूलों वाले अमबोयना जहाज ने तलाश कर लिया था, जो जानमाल के ज्यादा नुकसान के बगैर, आईबिस को पोर्ट लुइस तक एस्कॉर्ट कर लाया। जहाज के पहुंचने पर कुलियों के साथ आ रहे गार्डों ने श्री रीड के खिलाफ शिकायत दर्ज कर दी। उनका आरोप था कि उन्होंने पांच बदमाशों को भागने में मदद की जिनमें से गाजीपुर का एक कुली था, सूबेदार का हत्यारा वही था। ये आरोप अत्यंत गंभीर थे, लिहाजा मामले को कलकत्ता में अधिकारियों को रेफर कर दिया गया, और श्री रीड को न्यायिक हिरासत में वापस भारत भेज दिया गया।

श्री रीड की बदकिस्मती थी कि उन्हें बंगाल पहुंचने के बाद कई महीनों का इंतजार करना पड़ा। इसकी एक बड़ी वजह यह भी थी कि प्रमुख गवाह और आईबिस के कप्तान श्री चिलिंगवर्थ बीमार थे। चलने-फिरने की उनकी असमर्थता की वजह से, हमें बताया गया है कि, जांच की कार्यवाही लगातार टलती रही।

जांच बार-बार टल रही थी। इसी दौरान एक दिन जैकरी ने गंभीरता से सोचा कि सब छोड़-

छाड़ कर भाग जाता हूँ। कलकत्ता छोड़ना मुश्किल नहीं था: वह किसी की कैद में नहीं था और उसे बंदरगाह में किसी एक जहाज पर नाविक के रूप में आसानी से जगह मिल जाती। इनमें से कई जहाजों पर काम करने वालों की कमी थी और वह जानता था कि बहुत ज्यादा पूछताछ के बिना उसे रख लिया जाता।

लेकिन जैकरी ने एक बॉन्ड साइन किया था जिसमें उसने जांच कमेटी के सामने उपस्थित रहने की शपथ ली थी और उस शपथ को भंग करने का मतलब था खुद को अभियुक्त बना डालना। दूसरी उतनी ही वजनदार बात उसके दिमाग में यह थी कि कड़ी मेहनत से हासिल किया हुआ अपना उपकप्तान का लाइसेंस उसने कलकत्ता में बंदरगाह प्रभारी के दफ्तर में सरेंडर किया हुआ था। लाइसेंस को छोड़ देने का मतलब था, वो सब भी खो बैठना जो उसने बाल्टीमोर छोड़ने के बाद कमाया था- आईबिस में रहते हुए- वो कमाई जो जहाज के बढ़ई से उपकप्तान की हैसियत तक पहुंचने के रूप में थी। और अगर वह नए कागज जुटाने अमेरिका लौट भी जाता तो यह बिल्कुल संभव था कि उसके पुराने रिकॉर्ड भी खंगाले जाते जिसके मायने ये होते कि उसे एक बार फिर अपने नाम के आगे 'अश्वेत' लिखा मिलता, और इस तरह जहाज के कप्तान का दर्जा पाने का रास्ता हमेशा के लिए बंद हो जाता।

जैकरी का स्वभाव ऐसा था कि उसमें आकांक्षा और निश्चय के तत्व अच्छे विवेक के चलते संतुलित रहते थे: अपनी अधीरता के सामने जल्दबाजी में घुटने टेकने के बजाय, वह जितना बेहतर हो सकता था सही कदम उठाता था, किडरपोर के पोत-कारखानों (शिपयार्ड) में बीहड़ नौकरियां करते हुए उसने गुजारा किया था, जांच शुरू होने का इंतजार करते हुए उसने पिस्सुओं से भरे बेहद सस्ते कमरों में रातें गुजारी थीं।

आईबिस मामले की जांच, टाउन हॉल में भारी भीड़ के बीच सार्वजनिक सुनवाई के साथ शुरू हुई थी। कमेटी की अध्यक्षता कर रहे थे, जाने-माने न्यायविद् और सुप्रीम कोर्ट के जस्टिस केंडलबुशे। पहले गवाह के रूप में श्री चिलिंगवर्थ बुलाए गए थे। उन्होंने श्री रीड के पक्ष में ठोस गवाही दी, उन्हें जहाज की यात्रा के दौरान हुई गड़बड़ियों के लिए बिल्कुल निर्दोष बताया और उसके लिए जहाज के सह-कप्तान दिवंगत श्री क्राउल को पूरी तरह

जिम्मेदार ठहराया। उन्होंने कहा कि, वह शख्स एक कुख्यात उद्धंड और बदतमीज स्वभाव का था और उसने जहाज की गतिविधियों को संचालन बहुत गलत ढंग से किया था, जिससे कुलियों और नाविक दल में असंतोष पनपा।

इसके बाद पेश हुए श्री डाउटी, जो पहले बंगाल रिवर पायलट सर्विस से जुड़े थे। श्री डाउटी ने भावपूर्ण शब्दों के साथ श्री रीड के चरित्र के उत्कृष्ट गुणों के गवाही दी, उन्होंने ऐलान किया कि श्री रीड बिल्कुल ऐसे गोरे युवा की तरह के हैं जिनकी इस समय पूरब में सख्त जरूरत है: ईमानदार और मेहनतकश, व्यवहार में खुशदिल और मिजाज में विनम्र।

दयालु, चिड़चिड़ा बूढ़ा डाउटी! कलकत्ता में इंतजार की लंबी अवधियों में, श्री डाउटी ही अकेले व्यक्ति थे जिन पर जैकरी भरोसा कर सकता था। यह सुनिश्चित करने के लिए कि मामले से जुड़ी फाइल कहीं किनारे न रख दी गई हो या भुला न दी गई हो, सप्ताह में एक बार, और कभी दो बार, वह जैकरी के साथ बंदरगाह के प्रभारी के दफ्तर गए थे।

कमेटी के सामने फिर दो शपथपत्र पेश किए गए, पहला श्री बेंजामिन बर्नहम ने पेश किया, जो आईबीस के मालिक हैं। श्री बर्नहम गजट के पाठकों के लिए सुपरिचित हैं। वह इस शहर के अग्रणी व्यापारियों में से हैं और मुक्त व्यापार के जोशीले समर्थक हैं।

शपथपत्र को पढ़ने से पहले, जस्टिस केंडलबुशे को मालूम हुआ कि श्री बर्नहम इन दिनों चीन में हैं वरना वह जांच कमेटी के सामने जरूर पेश होते। ऐसा लगता है कि इस साल के शुरू में वह एक संकट में फंस गए जो केंटन के नवनियुक्त गर्वनर, कमिश्नर लिन की उलजलूल कार्रवाइयों से अचानक ही उन पर आ पड़ा। संकट अभी खत्म नहीं हुआ है लिहाजा लगता है कि श्री बर्नहम दिव्य साम्राज्य के किनारों पर अभी कुछ दिन और रहेंगे। महारानी के प्रतिनिधि और दूत, कैप्टन चार्ल्स इलियट उन्हें अपना विवेकपूर्ण मशविरा देंगे।

श्री बर्नहम का शपथपत्र श्री रीड के अच्छे चरित्र के बारे में एक ठोस साक्ष्य के रूप में पाया गया। उन्हें एक ईमानदार कार्यकर्ता, साफ और साहसी, शख्सियत में मुकम्मल और नैतिकताओं में ईसाई बताया गया। शपथपत्र पढ़े जाने के बाद जस्टिस केंडलबुशे यह टिप्पणी करते हुए सुने गए कि श्री बर्नहम की गवाही,

कमेटी के समक्ष आवश्यक रूप से एक प्रभाव छोड़ती है, क्योंकि वह लंबे समय से सामुदायिक लीडर और चर्च के स्तंभ हैं, और अपने परोपकार के अलावा मुक्त व्यापार की भावनापूर्वक कालत के लिए जाने जाते हैं। उन्होंने श्री बर्नहम की पत्नी श्रीमती कैथरीन बर्नहम का उल्लेख करने की उपेक्षा भी नहीं की, जो शहर की प्रमुख मेजबान के नाते और कई सुधारकार्यों की प्रमुख समर्थक होने के नाते अपने स्तर पर प्रतिष्ठित हैं।

दूसरा शपथपत्र श्री बर्नहम के गुमाश्ता (जहाज पर मालिक का प्रतिनिधि- अनु.) बाबू नोबकिसिन पंडेर का था। वो घटना के समय आईबीस पर मौजूद था, जहाज में लदे माल की देखरेख का प्रभारी वही था। वो भी इस समय श्री बर्नहम के साथ चीन में हैं।

बाबू की गवाही हर लिहाज से श्री चिलिंगवर्थ के घटना के बारे में दिए गए बयान की पुष्टि करने वाली पाई गई थी। हालांकि उसकी शब्दावली सबसे अलग थी, विचित्र अभिव्यक्तियों से भरी हुई। जो इस शहर के बाबुओं को बहुत प्रिय हैं। श्री रीड को एक गेंतू (हिंदू- अनु.) देवता का देदीप्यमान दूत बताकर श्री बर्नहम के गुमाश्ता ने अपनी कल्पना की उड़ान में खुद को एक खांटी दीवाना साबित कर दिया था।

जैकरी को याद आया कि जब श्री केंडलबुशे वो फैसला पढ़ रहे थे तो उसके चेहरे पर कैसी जलन मची थी। कमोबेश यही लगता था कि हमेशा ही रहस्यपूर्ण से लगते बाबू नोबकिसिन वहां खुद खड़े हैं- अपने भगवा लबादे में, अंधेड़ मोटी औरत की जैसी अपनी छायों को पकड़े हुए और अपने विशाल सिर को हिलाते हुए।

जैकरी उन्हें जब तक जान पाता, बाबू में एक चौंका देने वाला बदलाव आ गया था। वह लगातार औरतों जैसे हो रहे थे। खासकर जैकरी के संबंध में जिसे वह एक ऐसी निगाह से देखते थे जैसे अत्यंत स्नेह से भरी कोई मां अपने पसंदीदा बेटे को देखती है। जैकरी इससे बेशक हक्काबक्का रह गया था। लेकिन इस भावना के प्रति अहसान की वजह भी उसके पास थी। बाबू अपने अटपटेपन के बावजूद बड़े काम के आदमी थे और कई मौकों पर उसकी मदद के लिए आगे आए थे। ■

(जनवरी, 2019)

# समकालीन कला का दर्शन और मनोविज्ञान

■ शिव प्रसाद जोशी

असल में जिस भूमंडलीय आपाधापी के दौर में हम रह रहे हैं वहां कला को इतनी तेजी से देखा और बांचा जा रहा है कि कला के वास्तविक मूल्य और कलाकार की बुनियादी अभिलाषा पर गौर करने की फुर्सत भी मानो नहीं रह गई है। हम कला को जैसे गटक लेना चाहते हैं। पानी की तरह। एक झटके में। यह न सिर्फ कला की किसी कृति के साथ बल्कि उसे रचने वाले कलाकार के साथ भी नाईसाफी है।

कला के एक दर्शक और पाठक की हैसियत से कला को कुछ स्थापित और प्रचलित मापदंडों के दायरे में नहीं बल्कि उससे बाहर रहकर समझने की मेरी कोशिश है। कविता, संगीत और कला को समझने के नए रास्तों की तलाश इधर एक अरसे से करता आ रहा हूँ। कलाकर्म और कलाकार का ही नहीं, देखने का भी— एक दर्शन है। समकालीन समय में देखते हुए मुझे क्या महसूस होता है या आम दर्शक क्या सोचता है या ये सोचना कलाकार की रचना के साथ कितना तारतम्य बैठा पाता है, मेरी छानबीन का विषय यही है।

देश, समाज और राजनीति की तरह साहित्य और संस्कृति और कला की दुनिया में भी बड़े बदलाव आए हैं और नयापन आया है। भाषा की तरह कला में भी पारंपरिक औजारों के बदले नए औजार और नई विचार दृष्टि आई है। हम निरंतर एक नए पन की ओर अग्रसर हैं। समकालीन कला अपने फॉर्म, अपने विधान, अपने कंटेंट और अपनी पूरी विषयवस्तु में एक लंबी छलांग लगाकर एक नए धरातल पर आ गई है। आर्ट ऑन कैनवास से लेकर आर्ट ऑफ इंस्टालेशन, लाइव आर्ट, स्ट्रीट आर्ट, पब्लिक आर्ट, पॉप आर्ट, डिजिटल आर्ट, वीडियो आर्ट, सूचना प्रौद्योगिकी के नए मीडिया से जुड़े इंटरैक्टिव इंस्टालेशंस आदि नए प्रयोगों ने पूरे कला परिदृश्य में एक थ्रिलिंग और एक्साइटिंग एम्बियंस बना दिया है। एक नई हलचल और नया मॉमेंट हम देख सकते हैं और भारतीय कला और उससे जुड़े रचनाधर्मी भी इससे अछूते नहीं हैं।

मेरा तो मानना है कि समकालीन

सांस्कृतिक पर्यावरण में साहित्य, नृत्य, नाटक और संगीत से ज्यादा कला एक नई आधुनिकता ले आई है। इस कला में आप फोटोग्राफी और सिनेमा को भी जोड़ दें, तो हम कह सकते हैं कि इस नई कला को समझने के लिए उसके बारे में बताने के लिए उसकी समीक्षा करने के लिए शायद भाषाई मोर्चे पर हम पूरे तैयार नहीं हुए हैं। भाषा इस मामले में थोड़ा पीछे ही है। हां, यह बात अलग है कि एक नई भाषा इस नई कला के बगलगीर हुई है और एक आधुनिक कला भाषा उभर रही है। यह नव-आधुनिक कला भाषा होगी—न्यूओ—मॉडर्न, जिसकी जड़ें किसी नकार के नकार में नहीं बल्कि कला और दृष्टि की सच्ची मिट्टी और सच्ची जमीन में निहित होंगी। वहां परंपरा और आधुनिकता का एक अद्भुत लेकिन नया सामंजस्य होगा।

असल में जिस भूमंडलीय आपाधापी के दौर में हम रह रहे हैं वहां कला को इतनी तेजी से देखा और बांचा जा रहा है कि कला के वास्तविक मूल्य और कलाकार की बुनियादी अभिलाषा पर गौर करने की फुर्सत भी मानो नहीं रह गई है। हम कला को जैसे गटक लेना चाहते हैं। पानी की तरह। एक झटके में। यह न सिर्फ कला की किसी कृति के साथ बल्कि उसे रचने वाले कलाकार के साथ भी नाईसाफी है।

आज किसी नामचीन या उदीयमान या संघर्षरत कलाकार की सबसे बड़ी इच्छा क्या होगी? उसकी पेंटिंग्स या उसकी कला प्रस्तुति की चर्चा हो। उसका काम हाथों हाथ लिया जाए। वह कला बाजार में स्थापित हो। लेकिन

क्या वास्तव में एक जेनुइन कलाकार की बुनियादी इच्छाएं यही होती होंगी या उसकी बुनियादी इच्छा यह होती होगी कि उसकी कला के मर्म को समझने वाले ज्यादा से ज्यादा आएँ। वह किसी भी फॉर्म में काम कर रहा हो, किसी भी तकनीक का सहारा ले रहा हो, लेकिन जब कोई दर्शक उसकी रचना के सामने आकर खड़ा हो तो वह उसमें किसी एक ऐसे बुनियादी तत्व की शिनाख्त कर ले जो तत्व उस रचना के निर्माण का बुनियादी टूल रहा हो। क्या आत्मा वह टूल हो सकती है। क्या हम कलाकार की रचना में उसकी आत्मा की छवि को देख सकने का सामर्थ्य अपनी निगाह में ला सकते हैं।

कला की अपनी छवि सत्य होती है। क्या उस सत्य से दर्शक का साक्षात्कार हो पाता है। कविता हर जगह है। और इसी तरह कला भी हर जगह है। तो यह परसेप्शन की और फॉर्म की एक समूची सीरिज का विकास भी है, जो हमें हर ओर सुंदरता देखने की इजाजत देता है। अनीश कपूर का नाम किसी परिचय का मोहताज नहीं है। वह कहते हैं कि कला देखे जाने के बाद ही पूरी होती है। उनका आशय यह है कि सब कुछ आप ही न करें। ओवर प्रेजेंट न हो, अतिशय उपस्थिति न हो। खाली रहना और खाली रखना एक तरह से पूर्णता का ही चरण है। यह पूर्णता दर्शक के देखने से पूरी होती है। वह अपने अर्थ और आशय उसमें भरता जाता है।

हिंदी कवि रघुवीर सहाय अपनी एक कविता, कला क्या है, में कहते हैं :

कला और क्या है सिवाय इस देह मन  
आत्मा के

बाकी समाज है

जिसको हम जानकर समझकर

बताते हैं औरो को, वे हमें बताते हैं

कला की सच्चाई क्या है। असंभव की कामना। यह एक सौंदर्यपरक घटना से आगे का फलसफा है। कला इसलिए दिलचस्प है क्योंकि वह वह है जो वो है नहीं। यह विरक्ति का और उदासीनता का अमूर्तन है। आकृतिमूलक कला भी अद्भुत अमूर्तन हो सकती है। मिसाल के लिए जैसे अहसास का अमूर्तन। और कला अपने विषय से निर्धारित होते हुए नहीं बनी रहती। कला हर चीज को संबोधित है। वह अपने विषय के दायरे से बाहर निकलकर हमसे संबोधित होती है।



अपने ढंग से कला को देखना और समझना यही तो है। हर दर्शक की अपनी विवेचना है। यह विवेचना मुहैया कराने का काम भी वही कला करती है जिसे वह देख रहा है। वह उसमें अपने छवि सत्य की कुछ रंगते आरोपित करती हैं। हम इसी छवि सत्य से कला को समझने या उसे दाद देने की कोशिश करते हैं। सच्ची कला कविता की भाषा को आत्मसात करती है। भाषा वहां रंगों और रेखाओं में विलीन हो जाती है। जब हम उसे देखते हैं तो वापस हमारे पास एक भाषा आती है। यह एक नई रोशनी से भरपूर भाषा है।

सुविधा के लिए आप इसे कभी कविता, कभी संगीत, कभी नृत्य कह लेते हैं, लेकिन आप पाते हैं कि एक कोई बुनियादी अमूर्तन है जो हमारी निगाह में घूमते बिंबों की धुरी है। तभी तो शायद कहा गया होगा कि अमूर्तन कुछ घटाता नहीं है। कला में फॉर्मेशन भी एक तरह का डिफॉर्मेशन है।

साल्वादोर डाली ने कहा था, हर फूल जेल की किसी कोठरी में खिलता है। वह क्या कहना चाहते थे। उनका इशारा क्या कला की यातना और उससे छुटकारे की ओर था। या वह एक शाश्वत सत्य की ओर इशारा कर रहे थे जो फूल के खिलने में निहित है। या वह देखने वालों की निगाह के लिए कुछ चुनौती, टिप्स के रूप में दे रहे थे। ऐसा भी देख सको तो जानें। या वह यह बात कहकर दरअसल कुछ भी नहीं कहना चाह रहे थे। बस उनकी बात में हमें एक फूल, एक जेल, एक कोठरी, एक खिलना—यही देखना था और उन्हें जस—का—तस समझ लेना था। या इस बात का असल में कोई महत्त्व ही नहीं है और इसका महत्त्व सिर्फ इसलिए है क्योंकि इसे बोलने वाले साल्वादोर डाली हैं। मैं इस उत्तर आधुनिक सी दिखती बहस में नहीं जाना चाहता कि बात की अहमियत है या बात कहने वाले की। लेकिन मुझे यह लाइन बहुत हॉन्ट करती है और मैंने देर तक इसके बारे में सोचा। हो सकता है उपस्थित कला मर्मज्ञ इस बात को समझने के लिए कोई दूसरा ही सूत्र देखें।

जब मैं किसी पेंटिंग को देखता हूँ, कला दीर्घा में या संग्रहालय में या किताब में या इंटरनेट पर, तो मैं पहले ही झटके में उस पर टिप्पणी नहीं करने लायक नहीं हो पाता। परंपरागत कला समीक्षक की तरह टेक्नीक्स और संरचनाओं और तरतीबों और

रंगतों को डिफाइन करने से पहले मैं एक पेंटिंग में अंतर्निहित मर्म को ढूँढने की कोशिश करता हूँ। मैं रचनाकार के मनोविज्ञान में झाँकने का दुस्साहस करना चाहता हूँ। फ्रायड के हवाले से कहें तो जो वो अचैतन्य है हमारे भीतर—अनकॉन्सियस—उस स्थिति में भी कला को डिकोड करने की कोशिश करना चाहता हूँ। यही स्थिति एक आम दर्शक की होती होगी।

क्या उस रचना में कहीं किसी हिस्से में क्या मेरे लिए यानी एक दर्शक के लिए कोई टिप है, कोई संकेत, कोई सूत्र जिसकी मदद से मैं उसकी रचना प्रक्रिया की बीहड़ताओं और वीरानियों में कुछ हद तक दाखिल हो सकता हूँ। क्या मैं उन रंगों के पीछे किसी रंग तक जा सकता हूँ। अगर कोई एक बिंदु है तो क्या मैं उस बिंदु को पकड़ सकता हूँ। कोई दरार, कोई खोह, कोई अंधेरा दूसरी तरफ खुलता हुआ, कोई एक स्थिर या अस्थिर बिंब। कला दर्शक के रूप में मैं कभी सफल रहता हूँ, कभी विफल रह जाता हूँ। खलील जिब्रान ने कहा था, जो कुछ भी जाहिर और जाना परखा है, कला उस स्थिति से एक कदम उस तरफ बढ़ाती है जो रहस्यमय है और प्रच्छन्न यानी अप्रकट है।

और अगर कैनवास की कला न होकर इंस्टालेशन की कला है या नए मीडिया को माध्यम के रूप में बरत रही इंटरैक्टिव आर्ट है तो उसे देखने के मेरे पास क्या औजार हैं, क्या होने चाहिए? और कला संसार तो इधर कई कई रूपों में बिखरा हुआ है। इस अद्भुत फैलाव को देखने के लिए क्या मैं भाषा के सौंदर्य के सहारे कला के सौंदर्य की छानबीन कर सकता हूँ? क्या कला रचना को देखने के लिए मुझे भाषाई बनावट और बुनावट की कलाओं को जानना होगा? कहने का आशय यह है कि क्या पेंटिंग को देखने के लिए क्या आपको किसी और कला वस्तु की जरूरत है या पेंटिंग को देखने के लिए आपको बाकी सारे टूल छोड़कर आने होते हैं।

देखने की बात चली है तो मैं नए मीडिया और इंटरैक्टिव आर्ट पर कुछ बातें रखूंगा क्योंकि वहां देखने की गतिविधि, एक मुकम्मल भागीदारी की क्रिया का ही एक हिस्सा बन जाती है। नए मीडिया ने समकालीन कला को एक वास्तविक और एक आभासी संसार की अंतर्गुम्फित रचना प्रक्रिया

बना दिया है। वहां कंप्यूटर और इंटरनेट और कलाकार और उसकी टीम और ऑडियंस सब लोग मिलकर एक कला अनुभव का हिस्सा बन जाते हैं। यहां देखना भी एक रचनाकार की तरह देखना हो जाता है। न्यू मीडिया की कला का यह बुनियादी स्वभाव है कि वह दर्शक के लिए कोई एक निर्दिष्ट स्पेस मुहैया नहीं कराती है। ऐसी स्थिति में आप दर्शक के साथ कोई पैटरनल या निर्देशात्मक किस्म का सलूक नहीं करते रह सकते कि ऐसे देखो, यहां से देखो, यहां आओ, वहां जाओ। इंटरैक्टिव आर्ट में कलाकार जनता की भागीदारी पर भी निर्भर करता है, यह भागीदारी नहीं होगी तो फिर वो कला प्रस्तुति भी नहीं हो पाएगी।

इंटरनेट, सूचना प्रौद्योगिकी और अभियांत्रिकी के प्रयोगों ने कला की दुनिया में बड़े बदलाव ही नहीं किए हैं, वे उसे ऑडियंस के और करीब ले गए हैं। यहां पैसिविटी यानी निष्क्रियता या शिथिलता की कोई संभावना नहीं है। ऐक्टिव सेंडर है और ऐक्टिव रिसीवर है, जो फीडबैक के जरिए अगले ही पल ऐक्टिव सेंडर में भी तब्दील हो जाता है। यहां रचनाकार के साथ सह रचनाकार शामिल हैं। सूचना प्रौद्योगिकी के उपकरण और मशीनें हैं तो, कलाकार, इंजीनियर, ऑडियंस—भागीदार सब इस तरह से एक संबंध की शृंखला में आबद्ध हो जाते हैं कि हरेक का रोल दिखने लगता है—तय होना मैं नहीं कहूंगा क्योंकि यहां कुछ भी तय नहीं होता। इस तरह से कला किसी विशेष ऑब्जेक्ट की जगह एक अनिश्चित स्पेस बन जाती है जहां विषय और वस्तु, मानव और मशीन, शरीर और मस्तिष्क, स्पेस और टाइम यानी दिक् काल—ये सब एक नया सांस्कृतिक आकार ग्रहण करने लगते हैं। यह एक नई सांस्कृतिक जमीन पर एक नया सांस्कृतिक अनुभव बन जाता है।

तो क्या हम यह कहें कि यह नए मीडिया की खूबी है जिसने दीर्घाओं और संग्रहालयों से कला को निकालकर ऐन दर्शक के सामने स्थापित या गतिशील कर दिया है। या यह कला का ही अंतर्निहित यथार्थ है कि वह अंततः अपने दर्शक के पास ही लौट जाती है। माध्यम और उपकरण के रूप में नया मीडिया आज लाइव प्रस्तुतियों से लेकर, स्ट्रीट आर्ट, पब्लिक स्पेस प्रोजेक्टों, ऑडियो, वीडियो इंस्टालेशंस, विविध रूपों में हमारे सामने आ

गया है, लेकिन इस नए मीडिया के सोए हुए डायनेमिक्स को आखिर जगाती तो कला ही है। आखिर तकनीकी का ये अद्भुत, जादुई और कई मामलों में अदृश्य तार छेड़ने की जुर्रत तो कलाकार ही करता है।

नए मीडिया की इंटरैक्टिविटी की चारित्रिक विशेषता ने इस कला को पब्लिक मुहैया कराई है। इस अर्थ में यह अभूतपूर्व प्लेटफॉर्म है। कला चिंतक माइकेल रश ने अपनी किताब *न्यू मीडिया इन आर्ट* में कला इतिहास का एक सिलसिलेवार ब्यौरा पेश किया है कि कैसे अपने-अपने समयों के नए मीडिया का इस्तेमाल कलाकारों ने अपनी रचनाधर्मिता को नया आयाम देने के लिए किया है। कि कैसे रंग और काष्ठ की तरह कैमरा, कंप्यूटर, टीवी और इंटरनेट का इस्तेमाल कलाकारों ने किया है। इस तरह आधुनिक तकनीक एक मटेरियल की तरह उन्हें उपलब्ध रही है। हर दौर में कलाकार पारंपरिक और परिचित औजारों से इतर उपकरणों की खोज में गए हैं। माध्यमों की पारंपरिक हाइआरकी को त्यागते हुए कला को एक ऐसा नैरेटिव बनाया गया है— ऐसा आख्यान, जो जितना खुद को संबोधित है उतना ही सार्वभौम भी। पर्सनल और यूनिवर्सल के बीच चहलकदमी कलाकर्म का एक प्रमुख बिंदु रहा है। और इसी प्रक्रिया में निहित है दर्शक से संवाद, दर्शक को एक मौन निमंत्रण, देखने की एक अंतहीन और आकारहीन स्पेस का सृजन। दोस्तों, अपने-अपने वक्तों के महान कलाकारों ने स्पेस की इसी अवधारणा के तहत काम किया है।

आप कहेंगे... यह अजीब है, अंतहीन और आकार हीन का सृजन। लेकिन कला के दर्शन की यही खूबी है। वह भी अंततः एक संगीत या कविता ही है लिहाजा वह जितना बनाती जाती है उतना ही छोड़ती जाती है। इस तरह स्पेस फैलता ही जाता है और आकार कोई बनता नहीं। किसी एक तयशुदा फॉर्मूले से आप समकालीन कला को नहीं देख सकते— पढ़ भी नहीं सकते। जैसे आप समकालीन हिंदुस्तानी संगीत में ख्याल के हमारे सबसे बड़े उस्ताद अमीर खान की गायकी को एक ढंग से नहीं पढ़ सकते। कई लेयर्स में उन्हें सुनना और समझना होता है। उनकी गायकी एक अद्भुत कला इंस्टालेशन है। क्या कभी कोई उस संगीत को कला में ला पाएगा? क्या

अमीर खान की गायकी को देखना मुमकिन हो पाएगा?

अनीश कपूर कहते हैं कि वह दर्शक को लेकर बहुत चिंतित रहते हैं। कला आप अपने लिए रचते हैं, लेकिन दर्शक भी तो हैं। अनीश कपूर का काम देखने की प्रक्रिया को समझने का एक महत्वपूर्ण जरिया हो सकता है। किसी निश्चित स्थान से उनके काम को देखना, देखने का एक गलियारा बन जाता है। अगर आप इसे समकालीन कला कर्म के हवाले से देखें तो दर्शन का एक गलियारा न सिर्फ खुल जाता है बल्कि उसमें दाखिल भी होना पड़ता है। दर्शक को पेंटिंग के साथ या किसी भी कला कर्म के साथ एक रिश्ता निर्मित करना होता है। हर जेनुइन कलाकार का काम दर्शक के साथ एक अपनी ही तरह का रिश्ता बनाने का है। आप विभिन्न कलाकारों के काम को एक ही निगाह से नहीं देखते रह सकते। मैं इसे दृष्टि की बहुआयामिकता कहना पसंद करूंगा। और एक ही कलाकार की प्रस्तुति को देखने के कई आयाम हो सकते हैं। देखने के लिए यह तो करना ही पड़ेगा। शायरी में जिसे हम दीदार कहते हैं, कला में वही भावना चाहिए। वहां आप बौद्धिकता या जमाने भर के अमूर्तों का जामा ओढ़कर नहीं आ सकते हैं। वहां आप हो सकता है टहलते फिरते आ जाएं। अगर आप ऐसे आते हैं तो सच्ची कला आपको एक स्थिर और गंभीर दर्शक के रूप में तब्दील कर सकती है। आप हो सकता है रचना में ऐसे दाखिल हो जाएं, जैसे आपका ही जाना-पहचाना कोई गलियारा हो। कला को देखने के लिए एक बहुत ही साधारण हैसियत से आना होता है। इसी साधारणता में असाधारणता है।

बांग्लादेश में पैदा हुए और 50 के दशक में कलकत्ता आ गए विख्यात चित्रकार गणेश हलोई का एक साक्षात्कार मैंने कबाड़खाना ब्लॉग में पढ़ा था। वह कहते हैं, 'एक पेंटिंग क्या करती है? जब आप उसे देख रहे होते हैं वह आपको समय के बीच स्थिर थामे रहती है और जब आप उसे देखते जाते हैं वह आपको आगे पीछे ले जाने लगती है— भीतर से। आपको ऐसा जादू और कहां देखने को मिलेगा? पेंटिंग आपको आपके भावजगत में ले जाती है— जो आपकी अनुभूतियों का संसार है। कहानी या गीत को आपने पूरा सुनकर

समाप्त करना होता है, लेकिन किसी पेंटिंग के साथ आपकी प्रतिक्रिया देखने की प्रक्रिया के साथ शुरू हो जाती है।'

जब आप एक तयशुदा जेहन के साथ किसी कला को देखने आते हैं तो हो सकता है आपसे बहुत सी चीजें देखते हुए छूट जाएं, हो सकता है कि आप एक बहुत सीमित निगाह से देखते हुए लौट जाएं और उसी के आधार पर आकलन कर बैठें। जैसे कलाकर्म एक उद्दाम धीरज का इम्तहान है, कुछ वैसे ही इम्तहान से देखने वाले को भी गुजरना होता है। ऐसा न हो कि वह देखते हुए गुम ही हो जाए या एक स्थूल किस्म की वाह-वाह में लौट जाए। जेनुइन कला को एक सजग दर्शक की जरूरत है। जैसे एक जेनुइन कविता को सजग पाठक चाहिए। कलाकार के लिए यह एक बड़ी बात होगी अगर लोग उसकी कृति को एक ऑब्जेक्ट की तरह देखने के बजाय उसके समूचे पर्यावरण के साथ, उसके रंग, कोने, लाइनें, शेड्स के रूप में देखें। वे न सिर्फ उसकी तकनीक या उसकी जमीन देखें बल्कि अपनी कृति में उसका मंतव्य क्या है, उस तक पहुंचने की अपने अपने ढंग से कोशिश करें। मैं यह नहीं कहता कि कला कोई वक्तव्य देती ही होगी। हर कला बेशक बयान नहीं हो सकती लेकिन मजे की बात देखिए कि ऐसा कहने या ऐसा सोचने में ही एक बयान भी छिपा हुआ है। कुछ नहीं बताने, कुछ नहीं उद्घाटित करने का बयान। दर्शक के रूप में हमें कला में किसी उपस्थिति को और किसी अनुपस्थिति को, जो भी वहां है या नहीं है, उसे पकड़ना होता है।

कलाकार अपने ढंग से काम करते हैं। वे अपने ढंग से बिंब रचते हैं। हो सकता है वे प्रतिरोध के या नाखुशी के या आक्रोश के या उदासी के अध्यात्म के या ऊब के या खुशी के उत्साह के जीत के और उमंग के और यौन चेतना के बिंब हों। वहां उदासियां, नैराश्य, अकेलापन और आल्हाद घुलामिला रह सकता है। कला में एक खाली जगह और एक अकेले रंग और एक अकेली लकीर का भी दर्शक के लिए बड़ा महत्त्व है। लिहाजा वह किसी कृति को अपने विजन के पूरे इस्तेमाल के साथ देखे। जर्मन पेंटर ग्युंटर उम्बर्ग का कथन मैं आपके साथ शेयर करना चाहता हूँ। दर्शक—पेंटर सहसंबंध पर उन्होंने एक अहम बात कही है। "उस क्षण से अधिक वास्तविक कुछ नहीं है

जबकि दर्शक पेंटिंग से कुछ समझता है।' उम्बर्ग का कहना है कि चित्र का अस्तित्व पूरी तरह से दर्शक के संदर्भ में निहित है। कलाकृति के सामने दर्शक की स्थानिक, भौतिक, सांसारिक, और तात्कालिक उपस्थिति ही एक वास्तविक यथार्थ है। उस क्षण से अधिक यथार्थपरक कुछ नहीं है जब दर्शक पेंटिंग से कुछ अर्थ ग्रहण कर रहा होता है।

अगर हम किसी पेंटिंग को देख रहे हैं और वह वाकई जेनुइन काम है तो इस जेनुइनिटी की हमारी परिभाषा क्या है? हम कैसे जान सकते हैं कि वाकई यह एक अद्भुत रचना है जिससे हमारा साक्षात्कार हो रहा है? क्या कोई पेंटिंग इसलिए बुरी है या इसलिए खारिज की जा सकती है कि उसे दर्शक नहीं मिलते या उसे दर्शक समझने में असमर्थ रह जाते हैं? इसके लिए यूं तो आमफहम तरतीबें आजमाते हुए दर्शक जा सकते हैं, मसलन कैटालॉग पर सरसरी निगाह डाल लें, कुछ हल्का-फुल्का होमवर्क करके जाएं, कला की तकनीकी बारीकियों का उन्हें कुछ ज्ञान या अंदाजा हो, रंगों और लाइनों और टेक्सचर जैसी संरचनाओं के बारे में कुछ मालुमात हो, अपने आसपास, अपने सांस्कृतिक पर्यावरण और अपने समकालीन समय की भी उन्हें कुछ खबर हो जिससे वे कृति को जरूरत पड़ने पर रिलेट कर सकें। तो ये सब चीजें कला को देखते वक्त काम आ सकती हैं। लेकिन अगर हम कलाकार की रचना प्रक्रिया और उसकी कलाकृति को देखने की प्रक्रिया को बहुत गहराई से और अर्थपूर्ण तल्लीनता के साथ देखना चाहते हैं तो हमें शायद कुछ और ही टूल्स की जरूरत पड़ेगी। वे टूल्स, जैसा कि मैंने ऊपर इशारा किया है, अंतःचेतना और अचैतन्य से मिलेंगे। यहां तो आपको डूबना ही होगा, तभी आप पार हो पाएंगे। यह प्रक्रिया है ही ऐसी निराली। कहने का मतलब यह है कि आपके पास मोहब्बत का जज्बा और मोहब्बत की नजर होनी चाहिए।

कला के दिखने, समझ आने और बिकने को लेकर आज के दौर का एक चालू मुहावरा हो गया है जो दिखा नहीं वो बिका नहीं। तो इस देखने का क्या वाकई कला के देखे जाने से कोई संबंध है। कला तो दिख ही रही है फिर इस मुहावरे में यह दिखना क्या है? हम सब जानते हैं यह बाजार का मुहावरा है और देखने दिखाने की उसकी परिभाषाएं अपने मूल्यों से निर्धारित

होती हैं। वो अलग कसौटी है, हम उसकी चर्चा यहां नहीं करेंगे, हम तो असल में उस देखने की बात कर रहे हैं जिससे कला समृद्ध बनती है और मनुष्य भी समृद्ध बनता है। जब सब कुछ दिख रहा है और उसके बावजूद भी कुछ नहीं दिखता है तो खोट कहाँ है। लगता है लोगों का देखना अब कुछ-कुछ वैसा ही हो गया है जैसे टीवी सीरियल देखना या कोई फिल्मी गॉसिप वाली मैगजीन देखना या कोई मसालेदार फिल्म देखना या कार रेस देखना।

इसी में अब यह सवाल आता है कि क्या हम कला दर्शक नहीं बन पाए? क्या हमने कला के दर्शक नहीं बनाए? और इस 'क्या' के बाद एक बड़ा 'क्यों' भी है। अबिग व्हाई। व्हाई नॉट। ऐसा क्यों हुआ, यह देश तो अपनी सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों में सदियों से कलात्मक सौंदर्य पर न्यौछावर देश रहा है। इस महादेश की विराटता भौगोलिक ही नहीं संस्कृति और दर्शन की भी है। लोक रूपों ने इस महादेश का सृजन किया है। उन लोक रूपों में से एक कला भी है। तो ऐसे कला संपन्न देश में देखने की विपन्नता कै से आ गई? यह हमारे समकालीन समय का, आज का एक बड़ा सवाल है। दोस्तों, देखने की विपन्नता न होती तो आधुनिक भारतीय कला के बड़े उस्ताद मकबूल फिदा हुसेन को यूं अपमानित न होना पड़ता और हमें यूं शर्मिंदा। जो शर्म हमारी आत्मा में कभी न निकलने वाली कील की तरह पैबस्त हो गई है। हम इससे कभी निजात नहीं पा सकते। ब्रिटिश आर्टिस्ट और स्ट्रीट आर्ट के एक प्रमुख नाम 'बान्कसी', फासीवाद, पूंजीवाद, उपभोक्तावाद और हर किस्म की सत्ता संरचना की विरोधी अपने तीखे तेवर और डार्क ह्युमर वाली कला के लिए जाने जाते हैं। लेकिन उनकी स्ट्रीट आर्ट को निशाना भी बनाया जाता है। उन्हें विरूप कर दिया जाता है। इस तरह कई ऐसे देखने वाले हैं जिनका नजरिया ही नहीं नजर भी तंग है। सत्ताएं तो ऐसी कलाओं से क्रोधित रहती आई हैं।

कला कितनी ऊंचाइयां छू लें, बिक्री के रिकॉर्ड बन जाएं - टूट जाएं, लेकिन हम कला का पारखी और कला का प्रशंसक और कला का आदर करने वाला समाज बनने से फिर भी रह जाएंगे - ऐसा लगता है। आज की

भूमंडलीय सत्ता संरचना और इसके साथ गठजोड़ में शामिल मास मीडिया महत्वाकांक्षाओं ने हमारे देखने को, न देखने का अभ्यस्त बना दिया है। इस 'न देखने' में ही देखना बताया जा रहा है और कला को भी वहीं कहीं किसी भव्य कोने में स्थापित कर दिया गया है। कमोडिटीकरण की यह प्रक्रिया है ही ऐसी। वहां भावना से लेकर वस्तु तक सबका कमोडिटीकरण हो चुका है। यहां तक कि हमारे देखने का भी कमोडिटीकरण हो चुका है।

फिर एक सवाल हमारे सामने आता है। अगर कमोडिटी बन जाने से या उस प्रक्रिया का हिस्सा बन जाने से कला बची रह जाती है तो क्या हर्ज? हां ठीक है क्या हर्ज। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कला, कमोडिटी नहीं है। उसे कलाकार, कमोडिटी की तरह नहीं बनाता। उसे कला की ही तरह बनाता है। वह उसकी रचना है। कमोडिटी वह बाजार में बनती है। तो पहले यह बात साफ कर लें। मैं नहीं मानता कि कोई कलाकार अपना कोई रिमार्केबल काम इसलिए शुरू करता होगा कि जल्दी से उसे बाजार में पहुंचा जाए। बेशक कला को बाजार मिलना चाहिए। कोई हरगिज नहीं चाहेगा कि कला को एक जेनुइन आश्रय न मिले - ऐसा ठिकाना जहां वह अपनी सर्जना के नए आयामों की तलाश करते रह सके - कला को खरीदार भी चाहिए। कलाकार को गुजरबसर के लिए और अपना काम करते रहने के लिए संसाधन और धन चाहिए। कला को बाजार चाहिए, पूंजी चाहिए, स्पेस चाहिए - बेशक चाहिए लेकिन क्या बाजार ही कला का इकलौता हासिल है। अगर ऐसा नहीं है तो मैं इतना ही जोड़ूंगा कि कला अपनी शर्तों पर यह कर सकती है। क्या कला दुनिया में इतनी जिद है कि वह बाजार को अपनी शर्तों पर ले जाए। बाजार के लिए कला का जो आरोप है वह खारिज हो जाए और कला के लिए बाजार बने। जब ऐसा होगा तो शायद सच्चे देखने वाले भी जुटेंगे। कला का बाजार कोई हवा में नहीं बनता। उसकी भी वैसी ही ठोस भौतिक उपस्थिति होगी जैसी बाजार के लिए कला की होगी। कला के लिए पब्लिक सब्सिडी होनी ही चाहिए। जिस चीज को बाजार सपोर्ट नहीं करता, उस चीज को राज्य को सपोर्ट करना चाहिए। कलाकार का काम यह नहीं है कि पब्लिक जो मांगे वह पेश कर दे, उसका काम तो यह होता है कि वह पब्लिक को कुछ ऐसी

चीज दे जो वह नहीं जानती है कि उसकी है। जाहिर है एक शब्द में कहें तो वो चीज होगी- अभिरुचि।

इस तरह हो सकता है एंड ऑफ द डे- दो तरह की कलाएं आमने-सामने आ जाएं। ऐसे में कौन सी कला जीतेगी यह निर्भर करता है कि किसके पास देखने वालों का एक सार्थक जुड़ाव है। इस पर नहीं कि कितनों ने देखा-क्योंकि बाजार तो एक तय गणित से चलता है। वह कितना, कब और कौन के फेर में रहता है, लेकिन कला के लिए बाजार तभी बनेगा जब देखने वाले भी भरसक जुटेंगे और जो देखेंगे उसे समझेंगे। उनके पास कला के लिए न सिर्फ निगाह होगी बल्कि स्पेस और टाइम भी होगा। यह स्पेस टाइम जिसे हम कुछ देर के लिए दिक् काल के रूप में समझ लें, यही कला का सच्चा दर्शन है।

हमारे समकालीन सांस्कृतिक समय का एक यथार्थ यह भी है कि कला खरीदना तो सब चाहते हैं उसे देखना कोई नहीं चाहता। आखिर ऐसा क्यों है? अपने दौर के कला दिग्गज पॉल क्ली का एक कथन है कि “आर्ट डज नॉट रिप्रोड्यूस द विजिबल, इट मेक्स द विजिबल।” यानी कला दृश्यात्मकता का उत्पादन नहीं करती वह उसे बनाती है। क्या यह बात अपनी समकालीन समृद्धि में, हम भूल गए हैं या समझना नहीं चाहते हैं?

आखिर में, तमाम कलाएं यूं तो भूमंडलीय उन्मुक्तता में नजर आती हैं लेकिन गौर से देखें तो पता चलता है कि वे तो वहीं चक्कर काट रही हैं। इसकी एक वजह यह तो नहीं कि इस उन्मुक्त उड़ान के चारों ओर अदृश्य दीवारें खड़ी कर दी गई हैं। कला की मुक्ति और नवआधुनिकता इस बाड़े से बाहर छलांग लगाकर नए आसमानों की ओर उड़ान भरने में है। किंचित ही सही लेकिन एक ठोस संतोष यह है कि यह काम कभी रुका नहीं है। अपने-अपने वक्तों के यथार्थ से निर्मित कला की जिजीविषा, संघर्ष, स्वप्न, आकांक्षा और प्रतिरोध का यह विशाल, अद्भुत, इंटरैक्टिव और मानवीय इंस्टॉलेशन है। इसे कोई बाजार कभी विरूप या विस्थापित नहीं कर सकता। कभी झुका नहीं सकता। इस कला का दर्शन कभी नष्ट नहीं होता, नया ही होता जाता है। ■

(दिसंबर, 2014)

# आधुनिक भारतीय जीवन का चित्तरा

■ इरफान

*मकबूल फिदा हुसेन का यह जन्म शताब्दी वर्ष (2015) एक ऐसा मौका मुहैया करा रहा है जब उनके जीवन और कर्म के बारे में विस्तार से बातें की जा सकती हैं। उनके चित्रों की प्रदर्शनियों के जरिए उनके कलाकर्म के विभिन्न चरणों को सामने लाया जा सकता है और उनके व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं पर खुलकर बातें की जा सकती हैं। सवाल है क्या ऐसा हो पाएगा?*

आज अगर मकबूल फिदा हुसेन होते तो 100 साल के हो जाते। 17 सितंबर 1915 को महाराष्ट्र के छोटे से कस्बे पंढरपुर में पैदा हुए हुसेन ने एक कलाकार के रूप में अंतरराष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। अपने साठ सक्रिय वर्षों में हुसेन ने न जाने कितने ही अवसरों को अपनी विशेष उपस्थिति और छुवन से यादगार ईवेंट बना दिया। ईवेंट मैनेजमेंट नाम की इकाइयों के बनने और उभरने से बहुत-बहुत पहले वह एक ऐसे वनमैन ईवेंट ऑर्गनाइजर और मैनेजर थे जिसने अपनी शर्तों पर योजनाओं का खाका बनाया और उन्हें अपनी तरह से अमली जामा पहनाया। अपने हर किए और अनकिए काम के लिए खुद ही जिम्मेदारी लेने वाले हुसेन ने एक मस्तमौला कलाकार का जीवन जिया। 9 जून 2011 को लंदन में उन्होंने आखिरी सांस ली।

एक उत्सवधर्मी देश के रूप में हम जिस प्रकार शताब्दी वर्षों के आयोजनों में विशेष महारत रखते हैं, हमने उत्सवप्रेमी हुसेन को इस काबिल नहीं समझा है कि उनकी जन्म शताब्दी पर भी कुछ रंग बिखरे जा सकें।

हुसेन ने कठिनाइयों और वंचनाओं से कठिन संघर्ष किया था और इस तरह एक आत्मचेता व्यक्ति के रूप में खुद को संवारने में जीवन की पाठशाला ही उनकी प्राथमिक पूंजी थी। अब यह बात इतनी बार कही जा चुकी है कि “एक सिनेमा होडिंग पेंटर ने भारतीय कलाकर्म को विश्वस्तरीय पहचान दिलाई,” कि इस बात की आंतरिक ऊष्मा और गहन अर्थछविवां लगभग निरर्थक हो चुकी हैं या फिर चमत्कार के अर्थ में सिमटकर रह गई हैं।

शब्द, रूप, ध्वनि, गंध और रंग हुसेन के लिए कब कैसे खास होते गए यह बताना उनके लिए भी मुश्किल था, लेकिन ध्वनि के प्रति आग्रह से जुड़ा है उनकी जन्मतिथि का किस्सा। 1950 में

जब पहली बार हुसेन को पासपोर्ट के लिए आवेदन करना था तब उन्हें अपनी जन्मतिथि की जरूरत पड़ी, जिसे जानने का उनके पास एक ही साधन था कि इंदौर के उस स्कूल से जन्मतिथि का प्रमाणपत्र निकलवा लिया जाए जहां वह आठवीं कक्षा तक पढ़े थे। लेकिन पूछने पर पता चला कि तब फीस न जमा होने और ट्रांसफर सर्टीफिकेट न लेने की वजह से उनका नाम काट दिया गया था और उनसे जुड़े सभी दस्तावेज नष्ट कर दिए गए थे। अब उन्हें अपनी जन्म तिथि खुद ईजाद करनी थी। “मुझे पता था कि मेरी राशि सिंह है, इस तरह मैं सितंबर में पैदा हुआ होऊंगा, लेकिन अब सवाल तारीख और साल का था। पहले मैंने सोचा सितंबर के साथ सत्रह सही साउंड करता है तो 17 सितंबर 1917 को पैदा हो जाता हूँ, फिर ये ‘स’ की तीन बार बारंबारता कुछ जमी नहीं तो मैंने इसे 1915 कर दिया।”

बायस्कोप और माचिस के डिब्बों से पीप शो बनाने के बचपन के उनके शौक में छुपी थी उनकी फिल्मों की तलाश। हुसेन ने फिल्मों को अपनी अभिव्यक्ति का अभिन्न अंग बनाए रखा।

जीविकोपार्जन के लिए किए गए हर काम को उन्होंने सीखने का जरिया बनाया। दर्जी की दुकान पर तुरपाई करने के काम को उन्होंने कुरान के हाफजे से मुश्किल पाया। तब उनके पास ग्रामोफोन प्लेयर नहीं था, लेकिन चर्चिल के भाषण उन्हें बहुत आकर्षित करते थे।

हर पल कुछ नया सीखने और करने की अदम्य इच्छा ने हुसेन को सदा बेचैन रखा। संगीत, फोटोग्राफी, कैलीग्राफी, फर्नीचर और खिलौने डिजाइन करना और न जाने कैसे-कैसे हुनर उन्हें दिल के करीब लगते थे। बहुत कुछ कहने के बाद उतना ही कुछ अनकहा छोड़ देने वाले हुसेन को समझने के लिए उनके जीवन के आरंभिक लगभग 40 साल बहुत महत्वपूर्ण हैं। निजी और समाजी रूप से सघन घटनाओं

के विविध चरणों की अमिट छाप हुसेन के व्यक्तित्व पर रही। सत्य की तलाश उन्हें जीवन भर भटकती रही और इसी ने उनके भीतर के कलाकार को भारतीय मिथकों, परंपराओं, कथा-कहानियों और सांस्कृतिक विविधताओं से समृद्ध किया।

परंपरा को आधुनिक कला-भाषा में पिरोते हुए जब हुसेन ने अपने अनुभवों की दुनिया कैमरा पर उकेरी तो भारतीय आधुनिक कला का एक नया दौर शुरू हुआ। इस दौर को उनके समानधर्मा कलाकारों के साथ प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट ग्रुप का नाम दिया। समाज में मौजूद प्रगतिशील धारा से उनके जुड़ाव का चुनाव उनके सरोकारों और कलादृष्टि के बारे में बहुत कुछ कहता है जिसकी धारावाहिकता आगे तक बनी रही या नहीं, यह बहस का विषय हो सकता है लेकिन यह जरूर है कि हुसेन ने अपने समय के जरूरी सवाल को भी अपने कलाकर्म में हमेशा केंद्र में रखा।

नब्बे के दशक के बाद उनके खिलाफ अश्लीलता के आरोप सघन होते गए और देश की विभिन्न अदालतों में उनके खिलाफ मुकदमे दायर हुए जिनके लिए शहर दर शहर दौड़ना और अपना पक्ष रखना उनके काम और दिनचर्या पर प्रतिकूल असर डालने वाला सिद्ध हुआ। आखिरकार हुसेन ने 2006 में भारत छोड़ दिया और उनका समय विदेश में गुजरने लगा। जाने से पहले उन्होंने इन मुकदमों के बारे में दुखी होते हुए कहा था कि यह एक तरह का जजिया है जो उन पर थोपा जा रहा है। सभी मुकदमों को दिल्ली लाकर उनका निपटारा कराने की सभी आखिरी कोशिशों को कोई मंजिल नहीं मिल सकी। उनके लिए सरकारों और सहोदर लोग भी एक खास तरह के टेंडेपन के साथ चुप्पी साधे रहे। 2010 में कतर की नागरिकता लेने और अपना भारतीय पासपोर्ट सरेंडर करने के साथ ही भारत में उनके खिलाफ चल रहा भावनाओं का खेल भले ही निरर्थक हो गया हो, हुसेन को देश की मिट्टी सदा पुकारती रही। कहते हैं कि अपने बेटे ओवेस के साथ अपने जीवन के आखिरी वर्षों में ऐसी योजनाएं बनाया करते थे कि गुपचुप कोई फ्लाइट लेकर देश पहुंच जाया जाए और किसी चाय के ढाबे पर चाय की चुस्कियां लेते हुए वापस आ जाया जाए।

हुसेन को मुसलमान होने के नाते ही भारतीय देवी देवताओं का अपमान करने वाला बताया गया है। जबकि कोई पहला मुकदमा उनके खिलाफ इस वजह से किया गया था कि उन्होंने इंदौर के

किसी व्यवसायी को अपनी पेंटिंग्स बेचने से मना कर दिया था, क्योंकि उन पेंटिंग्स को वह वहां के किसी स्कूल को दान कर चुके थे। आहत सम्मान के कारण इस व्यवसायी ने तब ही हुसेन को धमकी दी थी कि वह उन्हें 'देख लेगा'।

उन्होंने इंदौर में अपने शुरुआती दिनों के दोस्त मानकेश्वर के साथ हिंदू मायथॉलॉजी और फिलॉसॉफी को ढंग से समझा था, जबकि उससे पहले वह बड़ौदा के बोर्डिंग स्कूल 'दारुल तोलेबा' में इस्लामी शिक्षाओं से समृद्ध हो चुके थे। सुनने में मंदर से जैसा लगने वाला यह स्कूल अब्बास तैयबजी जैसे स्कॉलर और समाज सुधारक की देखरेख में चलता था, जहां सभी धर्मों और संस्कृतियों की विशेषताओं से छात्रों को लैस किया जाता था।

हिंदू दर्शन में पुनर्जन्म के सिद्धांत से प्रभावित होकर हुसेन का झुकाव सूफिज्म और इल्म-ए-फिकाह की तरफ हुआ था। इल्म-ए-फिकाह उनके अनुसार शरीर और आत्मा के उत्स और उनके ब्रह्मांड के साथ संबंध पर रोशनी डालता था। इसमें उचित-अनुचित की शिक्षाओं और धार्मिक उपदेशों के बजाये मनुष्य के कृत्यों और उससे होने वाले प्रभावों को वृहत्तर अर्थों में समझने की कुंजी थी। यह व्यक्ति के निजी विश्वासों पर आधारित था। हुसेन को इसमें सबसे आकर्षक पहलू यह लगा कि इससे आप जीने का अपना तरीका इजाद कर सकते थे और उसके जरिए खुद को तलाश सकते थे। लगातार दो साल तक इस जीवन दृष्टि पर गंभीरता से अमल करते हुए "मुझे पहली बार भय और चिंताओं से मुक्ति का नया एहसास हुआ"। एक तरफ यह मुक्ति आपको धर्म और समाज के थोपे हुए बंधनों से आजाद करती है तो दूसरी तरफ आपके ऊपर एक नई जिम्मेदारी डालती है ताकि आप अपने लिए अनुशासन की अपनी ही एक प्रणाली तैयार करें और उस फ्रेमवर्क के भीतर अपनी वैयक्तिक पहचान गढ़ें। हुसेन ने इस आध्यात्मिक सोच को अपने जीवन का आधार बनाया। उनके अनुसार इस दर्शन का कोई धार्मिक रूप नहीं है, उपनिषदों में भी यह बात कही गई है। कठिन प्रशिक्षण से गुजर कर कुछ ही शिक्षार्थी इसे ग्रहण कर पाते हैं। हालांकि यह सब करते हुए हुसेन इस्लाम से डिगे नहीं। 'मैंने इस्लाम मतावलंबियों के हर उस विश्वास को चुनौती दी जो इसमें रूढ़ियों और मतान्धता की वकालत करते हैं और कुरान की मनमानी

व्याख्या करते हैं।' सब कुछ करते हुए हुसेन सुलेमानी समुदाय के अभिन्न अंग रहे।

शियाओं और सुन्नियों दोनों में अछूत समझे जाने वाले सुलेमानी लोग बोहराओं से टूटकर अलग हुए माने जाते हैं। आज उनकी लाख-डेढ़ लाख की आबादी की अपनी-अलग जीवन शैली है और जो कुरान की सरल व्याख्याओं पर आधारित है। आजादी के आंदोलन में यह समुदाय अपने नेता अब्बास तैयबजी की अगुवाई में अग्रणी भूमिका में रहा और विभाजन के समय भी इनमें से ज्यादातर को मुस्लिम लीग या इस्लामी देश पाकिस्तान का आइडिया आकर्षित नहीं कर सका।

हुसेन साहब बताते थे कि "सुलेमानी लोग सच्चे धार्मिक-विश्वासी लोग हैं और रूढ़िवाद और धर्मांधता उन्हें छूकर भी नहीं गई है। दूसरे धर्मों के प्रति द्वेष फैलाकर उनमें भावनाएं नहीं भड़काई जा सकती। उनके मौलवियों को गैरजूसरी सत्ता और अधिकार नहीं मिले हैं और वह अपनी गुजर बसर के लिए दूसरों की तरह ही काम धंधे करते हैं, वे विनम्र और खुश मिजाज लोग हैं। 1973 में ऐसे ही एक पेश इमांम को मैं अपनी एक नुमाइश दिखाने पंडोल आर्ट गैलरी ले गया था जहां लगी मेरी झड़ंग में काफी खुलापन और प्रयोग थे। उन्होंने न सिर्फ नुमाइश को ढंग से देखा और उसका लुत्फ लिया बल्कि बोले ये सब हमारी जिंदगी का हिस्सा क्यों नहीं है?"

हुसेन की जन्म शताब्दी एक ऐसा मौका मुहैया करा रही है जब उनके जीवन और कर्म के बारे में विस्तार से बातें की जा सकती हैं। उनके चित्रों की प्रदर्शनियों के जरिए उनके कलाकर्म के विभिन्न चरणों को सामने लाया जा सकता है और उनके व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं पर खुल कर बातें की जा सकती हैं। चित्रकला के अलावा हुसेन की फिल्मों और लेखन को भी कलाप्रेमियों तक पहुंचाने का यह अच्छा मौका है। अगर ऐसा हो पाए तो आधुनिक भारतीय कलाकर्म के विकास और उसके सामने मौजूद चुनौतियों पर चर्चा की भी एक सार्थक शुरुआत हो सकती है। लेकिन ऐसा हो पाएगा इसकी उम्मीद नहीं दिखती।

हुसेन को भारत का पिकासो मानने वाली कला बिरादरी की तरफ से ऐसे संकेत नहीं मिल रहे हैं और शेष के लिए हुसेन या तो अस्तित्व नहीं रखते या फिर धार्मिक भावनाओं को आहत करने वाले अपराधी करार दिए जा चुके हैं। ■

(अक्टूबर, 2015)

# सर्वभारतीय निर्देशक

## ■ विद्यार्थी चर्ची

यह लेख महान भारतीय फिल्मकार मृणाल सेन (जन्म 14 मई 1923-30 दिसंबर 2018) के 95वें जन्म दिन के मौके पर समयांतर के जून 2017 के अंक में प्रकाशित किया गया था। इस अंक के प्रेस में जाते-जाते मृणाल दा के देहावसान का समाचार आया। यहां इस लेख को उन्हें श्रद्धांजलि के तौर पर पुनः प्रकाशित किया जा रहा है।

मृणाल सेन ने पिछले दिनों 95वें वर्ष में प्रवेश किया है। हालांकि, वह शरीर और दिमाग से दुर्बल हो गए हैं लेकिन अभी भी अपने विचारों में सुस्पष्ट और युवाओं की तरह जोश-खरोश से भरे हुए हैं। लेकिन पांच वर्ष पहले, वह जितनी देर तक, जिनती बातें करते थे, उतनी बातें करने में सक्षम नहीं हैं फिर भी जीते जी किंवदंती बन चुके हैं। एक किस्सागो की तरह बीते जमाने के लोगों के नामों और घटनाओं को मौखिक तौर पर याद कर सकते हैं और यहां तक कि कभी-कभी तारीख तक, उनकी यह चीज युवाओं और बुजुर्गों को समान रूप से अर्चभित करती है। सेन के इंजीनियर बेटे कुणाल अमेरिका में रहते हैं और उनकी पत्नी प्रतिष्ठित अभिनेत्री गीता सेन का कुछ महीने पहले देहांत हुआ है। आजकल उनकी सेवा-सुश्रुषा कुछ परिचारक कर रहे हैं, जो वर्षों से इस परिवार के साथ हैं। इधर इस वरिष्ठ फिल्मकार पर कुछ महत्वपूर्ण किताबें (बांग्ला और अंग्रेजी) में लिखी गई हैं; शायद समय आ गया है कि इस बांगाली उस्ताद के जीवन और विरासत पर नए तरीके से आलोचनात्मक दिलचस्पी ली जाए, जो अपने शिल्प और अंतर्वर्तस्तु में, शायद उस समय की जरूरत के कारण, मूलभूत तौर पर अपने समकालीनों, सत्यजीत रे और ऋत्विक् घटक से भिन्न हैं।

यह वही त्रिमूर्ति (सत्यजीत रे, ऋत्विक् घटक और मृणाल सेन) है, जिसने 'नए' बांगाली (दूसरे शब्दों में भारतीय) दर्शक को उसके भीतर पहले के बसे हुए संसार की तुलना में ज्यादा भरे-पूरे संसार की कल्पना करने और खोज करने के लिए उत्सुक और आवेगपूर्ण बनाया। इन तीनों में से केवल सेन ही अब हमारे बीच हैं। मानो उनकी उपस्थिति हमें नई लहर के भारतीय सिनेमा के आखिरी

दिनों की और उसकी उत्कृष्टता की याद दिलाती रहती है, जिसकी शुरुआत आधी सदी पहले उनकी फिल्म *भुवन शोम* से हुई थी।

उन दिनों जब उनका स्वास्थ्य बेहतर था और वह खूब बातें करते थे। सेन एक चुटकुला सुनाया करते थे कि दो 'शोमों' ने उन्हें जीवन की कठिनाइयों का मुकाबला डटकर करने में सक्षम बनाया। इनमें एक शोम उनकी पत्नी गीता (जिनका शादी से पहले जाति नाम शोम था) थीं और दूसरा शोम थी उनकी फिल्म *भुवन शोम*। फिल्म के मुख्य नायक के नाम पर आधारित इस आइकॉनिक फिल्म के निर्देशन के बाद ही, उनके गृह राज्य बंगाल से बाहर के लोगों का ध्यान उनकी ओर गया। फरीदपुर (बांग्लादेश) में जन्मे और कोलकत्ता में शिक्षित सेन के समान हाजिर-जवाबी या गहरे तजुर्बे से पैदा बुद्धिमत्ता वाले लोग भारतीय सिनेमाकारों में बहुत कम थे या हैं।

किसी भी निर्देशक ने इतनी भारतीय भाषाओं में काम नहीं किया है, जितनी भाषाओं में सेन ने काम किया है। बांग्ला, उड़िया, हिंदी और तेलुगु में काम करते हुए, सेन ने, जीते-जी किंवदंती बन जाने वाले एक सर्वभारतीय फिल्मकार की हैसियत प्राप्त कर ली। *बाइशे श्रावण* (बांग्ला 1960) और *माटिरा मानिषा* (उड़िया, 1966), दोनों फिल्में देहाती पृष्ठभूमि पर केंद्रित हैं। श्वेत-श्याम क्लासिक में, माध्यम पर जबर्दस्त पकड़ के साथ, कही गई एक बिखरते परिवार की कहानी उड़िया में ज्यादा उभर कर आती है।

*बैशाई श्रावण* और *माटिरा मानिषा* को फिल्मी दुनिया के बहुत सारे लोगों द्वारा आदर के साथ याद किया जाता है, लेकिन यह भी सच है कि याद करने वाले ज्यादातर लोग उस 'बीते जमाने के उस स्कूल के हैं, जिसकी

आजकल बहुत ज्यादा उपेक्षा की जाती है। याद करने वाले लोग उस सिनेमा की सादगी और उसकी सहज प्रवाहमान निर्मित के सौंदर्य को याद करते हैं। प्रकट तौर इस सिनेमा में सादगी है; लेकिन सतह के नीचे एकाकी नायकों द्वारा अपनी बदतर स्थिति के भीतर से अपने लिए थोड़ी गरिमा और खुशियों का अवसर निकाल लेने के बहुत सारे संघर्ष उभर कर सामने आते हैं। कई बार ये संघर्ष कुछ समय के लिए हितकारी परिणाम देते हैं; अन्य अवसरों पर भारी कठिनाइयों के खिलाफ एक निराशाजनक संघर्ष साबित होते हैं। तब सेन विश्वसनीय सांस्कृतिक विशिष्टता की गुणवत्ता से निधारित मानवीय स्थिति का ऐसी सहानुभूति के साथ दस्तावेजीकरण करने वाले के रूप में सामने आते हैं, जो दर्शकों को हिला देती है।

संघर्ष और परिवर्तन *बाइशे श्रावण* के बुनियादी तत्व हैं; ठीक यही बात *माटिरा मानिषा* के बारे में भी कही जाती है। लेकिन पारिवारिक ड्रामा के उतार-चढ़ावों के बाद जिस मोड़ पर इन फिल्मों का अंत होता है वह विरोधाभासों की पड़ताल है। उड़िया फिल्म *माटिरा मानिषा* के भाइयों के बीच का रिश्ता पारिवारिक भूमि के मालिकाने को लेकर चले तनावों और गलतफहमियों से गुजरने के बाद एक सुलह-समझौते के मोड़ पर समाप्त होता है। लेकिन *बाइशे श्रावण* का अंत गहन निराशा में। युद्ध और 1943 के अकाल की पृष्ठभूमि के साथ हल्की-फुल्की प्रेम की पृष्ठभूमि में एकाकी, निःसंतान और दोस्त विहीन, बिना किसी उम्मीद के बचे रह गए लोगों की कथा है। सेन की इससे ज्यादा निराशाजनक परिणाम वाली फिल्म की कल्पना नहीं की जा सकती।

एक बार एक फिल्म सोसायटी के संगठनकर्ता ने मृणाल सेन से पूछा कि आप अपनी फिल्मों में शोषण, गरीबी, अकाल और अन्य ऐसी ही विपत्तियों की विषय-वस्तु को क्यों बार-बार दोहराते हैं, क्या ऐसा अपनी प्रतिबद्धता के कारण करते हैं? सेन ने जो जवाब दिया वह याद करने लायक है, "एक सामाजिक प्राणी के नाते मैं गहराई से महसूस करता हूँ कि मैं अपने समय के प्रति प्रतिबद्ध हूँ। मैं इससे बच नहीं सकता। और चूँकि गरीबी, दुर्भिक्ष और सामाजिक अन्याय हमारे समय के प्रभावी तथ्य हैं, एक फिल्मकार के तौर पर मेरा

कर्तव्य है कि मैं इन्हें समझूँ। मैं इन्हें समझने की कोशिश करता हूँ। मैं अपने दौर को समझने की कोशिश करता हूँ। मैं इसे सामने लाना चाहता हूँ।”

तीसरी महत्वपूर्ण फिल्म, जिसे मृणाल सेन ने 1960 के दशक में बनाया, वह *भुवन शोम* (हिंदी, 1960) है, जिसे आमतौर पर सवाल खड़े करने वाले और बहुधा अंतर्दृष्टिपूर्ण सिनेमायी आंदोलन, जो नई लहर सिनेमा कहलाया, की शुरुआत करने वाली फिल्म के रूप में देखा जाता है। यह एक विचारधारात्मक/ राजनीतिक कृतित्व था, जिसने लोकप्रिय व्यवसायिक सिनेमा पर सवाल उठाए थे। अगर शुरुआती सिनेमा का आदर्शवाक्य ‘मनोरंजन’ था, ज्यादातर रोमांटिक और भावात्मक टाइप का, तो इस नए सिनेमा का आदर्श वाक्य ‘प्रश्नाकुलता’ था। सब कुछ में जबर्दस्त बदलाव था — रूप, बुनावट, सौंदर्यबोध और अंदाजे बयां तक। यह सही है कि हर समय यह सफल नहीं रहा, लेकिन ज्यादातर सफल रहा था, बल्कि कभी-कभी तो इसके चकित करने वाले परिणाम देखने को मिलते थे, जो देश और विदेश सभी जगह सराहे गए थे।

यह सिनेमायी आंदोलन गहरे सामाजिक और राजनीतिक उथल-पुथल के दौर में सामने आया था। गांधी का अभी सम्मान था, लेकिन वह इतिहास की विषय-वस्तु बन चुके थे, नेहरू की मृत्यु हो गई थी, और लगभग दो दशकों तक सत्ता में रहने वाली पार्टी (कांग्रेस) जिस पार्टी का उन्होंने नेतृत्व किया था उसका मुश्किल से ही उस पार्टी से कोई सादृश्य रह गया था, जिसने देश को स्वतंत्रता दिलाई थी। सेन और उन्हीं की बिरादरी के मणिकौल, श्याम बेनेगल, अडूर गोपाल कृष्णन, गिरिश कासरवल्ली, सईद मिर्जा या गोविंद निहलानी जैसे युवा फिल्मकारों ने जो कुछ व्यवस्था में गलत था, उसे कलात्मकता और प्रायः एक्टिविस्ट की भावना के साथ दिखाया। इन फिल्मकारों के लिए पुराने सिनेमा के स्टूडियो, स्टारों, ऐतिहासिक कथाओं और देशभक्तिपूर्ण/ धार्मिक आख्यानों का कोई उपयोग नहीं था। जाति, वर्ग, सामंतवाद, राजनीतिक पतन, धनाढ्यों का भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, लैंगिक पूर्वाग्रह, निम्न मध्यवर्ग और मध्यवर्ग में बढ़ती लंपटता यानी सब कुछ पड़ताल का विषय बना।

अपनी फिल्म *भुवन शोम* में मृणाल सेन एक अनाखी देशज शैली का इस्तेमाल कर, एक ऐसे सरकारी अधिकारी के तथाकथित ‘पतन’ का चित्रण करते हैं, जो शायद अपने बारे में यह सोचता है कि उसका जैसा बड़ा ईमानदार और सिद्धांतवादी व्यक्ति कोई नहीं है, इस रूप में उसकी बहुत प्रतिष्ठा है। इस फिल्म में एक पक्के शहरी नौकरशाह और गांव की एक युवती के बीच के कोमल रिश्ते की कहानी है, जो हंसी के फौव्वारों से जीवंत हो उठती है। यह इसलिए आनंददायी है क्योंकि यह परंपरागत गंवई-शहरी बंटवारे का रूपक है। एक ऐसे मुहावरे में कही गई कहानी जो लगभग अनाड़ीपने को छूती है। *भुवन शोम* ने देश भर में सिनेमाई कला के एक नए रूप को पसंद करने वाले अहम दर्शकों को पैदा करने में अग्रणी भूमिका निभाई, भले ही इन दर्शकों की संख्या कम रही हो। सिनेमा की यह नई कला स्थानीय तत्वों की महक से सराबोर थी, फिर भी इसकी अंतर्वस्तु सार्वभौमिक थी।

*भुवन शोम* फिल्म के निर्माण के 11 वर्ष बाद नेशनल फिल्म थियेटर (एनएफटी) ने ब्रिटेन में मृणाल सेन की फिल्मों के सिंहावलोकन का आयोजन किया। इस आयोजन का उद्देश्य इन बीते वर्षों पर निगाह डालना था। इस अवसर पर जारी पुस्तिका में फिल्म के बारे में कहा गया था: “यह पहली कम बजट की फिल्म थी, सरकारी वित्तीय मदद से बनी थी और जो सिनेमा के इतिहास में मील का पत्थर बनी। इसने ‘कला फिल्मों’ के लिए सरकारी वित्तीय समर्थन को बढ़ाया इससे ‘नई लहर’ की शुरुआत हुई। गुजरात के परिवेश में (बांग्ला कहानी पर आधारित) हिंदी में बनी यह फिल्म एक ‘ईमानदार’ नौकरशाह की कहानी कहती है। इस नौकरशाह के मूल्य औपनिवेशिक हैं, जिसे मृणाल सेन द्वारा सृजित अत्यंत मोहक चरित्रों में से एक, एक गंवाड़ी लड़की ध्वस्त कर देती है।”

एनएफटी की पुस्तिका जो नहीं कहती है, वह यह कि ‘यह गंवाड़ी लड़की’ बहुत संभव है अपने पति को बचाने के लिए एक अपने ही तरह का छोटा सा ‘चतुराईभरा’ खेल, खेल रही हो। उस लड़की का पति रेलवे में टिकट चेकर है, और भ्रष्टाचार के एक आरोप के चलते उसके ऊपर नौकरी से बर्खास्तगी की तलवार लटक रही है। उसकी बर्खास्तगी के कागजात भुवन शोम (नौकरशाह) के पास हैं।

यह सही है कि लड़की को शोम के बारे में सही जानकारी नहीं है पर वह इतना भर जानती है कि वह रेलवे का बड़ा अधिकारी है और बत्तख का शिकार करने आया है। लेकिन वह जिस भावना से ‘शोम साहिब’ से निवेदन करती है कि उसके पति को माफ करने की सिफारिश कर दे, उस बुजुर्ग आदमी के हृदय को पिघलाने के लिए काफी साबित होता है। सख्त नजर आने वाला नौकरशाह बदल जाता है या कहिए उसमें ‘मानवता’ जाग जाती है और लड़की के पति को चेतावनी देकर छोड़ दिया जाता है। लेकिन तथ्य यह है कि इस प्रक्रिया में सोम स्वयं ‘भ्रष्ट’ हो जाता है। भुवन शोम वह आदमी है, जिसने अपने बेटे से उसके एक भटकाव के चलते नाता तोड़ लिया था। गोकि यह भटकाव किस तरह का था यह स्पष्ट नहीं किया गया है, लेकिन वही आदमी एक युवती की चिरौरी के सामने हार जाता है, और इस तरह से सार्वजनिक जीवन में फल-फूल रहे भ्रष्टाचार में शामिल हो जाता है। (सेन का कहना है कि उनकी मंशा ‘साध’ लिए गए भुवन शोम को प्रस्तुत करना नहीं थी, उनकी मंशा केवल नौकरशाही के तौर-तरीकों पर टिप्पणी करना थी, लेकिन बहुत सारे लोग हैं, जो इससे सहमत नहीं हैं)।

विडंबना पूर्ण अंत में टिकट चेकर जाधव पटेल अपनी पत्नी गौरी को लिखता है “शोम साहब ने मुझे क्षमा कर दिया है, तुम्हें जानकर खुशी होगी कि मेरा एक बड़े जंक्शन पर स्थानांतरण हो गया है, जिसका मतलब है बड़ी आमदनी!” कुछ भी कहे बिना, साफ है कि शोम साहब लालची जाधव पटेल के भ्रष्ट आचरण के एक सहअपराधी बन गए और भ्रष्टाचार की उस संस्कृति के एक निष्क्रिय सहयोगी बन गए जो नेहरू युगीन भारत का मुख्य अभिशाप था और जो तब से अब तक पूरे जोशोखरोश से जारी है। (वैसे सत्य यह है कि, आजादी से पहले भी, विशेष कर रेलवे, अपने अधिकारियों और कर्मचारियों के भ्रष्टाचार के लिए कुख्यात था।)

चूंकि सेन की फिल्में निश्चित रूप से किसी भी फिल्मकार की तुलना में ज्यादा राजनीतिक अर्थों को समाहित किए होती हैं, इसको ध्यान में रखकर हम भुवन शोम के हृदय परिवर्तन और जाधव के सुधरने से इनकार का व्यापक पाठ कर सकते हैं। भारत के पहले प्रधानमंत्री अपनी व्यक्तिगत ईमानदारी के लिए जाने जाते

थे, इस पर भी उन्हें इस बात में कोई बुराई नजर नहीं आती थी कि उनके इर्द-गिर्द मौजूद कई राजनेता उस दौर के सबसे भ्रष्ट लोगों में से हैं। उदाहरण के लिए, बख्शी गुलाम मुहम्मद या सरदार प्रताप सिंह कैरों। नेहरू की विरासत, एस. के. पाटिल या टी.टी. कृष्णाचारी जैसे लोगों के घपलों से बदनाम हुई थी। यदि नेहरू के अपने साथी कांग्रेसियों के कारनामों से आंखें मूंद लेने या कान बंद कर लेने के चलते सार्वजनिक जीवन की नैतिकता को नुकसान पहुंचा। तो भुवन शोम के मामले में भी सूक्ष्म स्तर पर ही सही पर उतनी की मजबूती से भ्रष्टाचार की स्वीकृति, उसी तरह मौजूद हुई, जिस तरह नेहरू के मामले में थी। भुवन शोम भी भ्रष्ट टिकट चेकर के कारनामों से आंख मूंद लेता है जिससे टिकट चेकर को पहले से भी ज्यादा भ्रष्टाचार के लिए साहस प्रदान करती है।

मृणाल सेन जब कलात्मक और सामाजिक बाध्यताओं से प्रेरित होकर *भुवन शोम* जैसी फिल्म बनाते हैं तो अपने विवेक और संवेदनशीलता का परिचय देते हैं। उनका कहना है कि: “मैं संप्रयास कोई लोकप्रिय फिल्म नहीं बना सकता। भारतीय दर्शक जब सिनेमा देखने जाते हैं, तो अपने नित्य-प्रति के जीवन से भागना चाहते हैं, जबकि मेरी फिल्मों की विषय-वस्तु जनता तक पहुंचने के लिए रोज-बरोज का जीवन ही होती है। इसका उद्देश्य नित्य-प्रति के जीवन की सच्चाइयों के प्रति आकर्षण पैदा करना है। मुझे अधिक प्रभावशाली तरीके से अपने संदेश को पहुंचाने के लिए कोई रास्ता तलाशना था।...मैं मानता हूँ कि सिर्फ दर्शकों को बेचैन कर देना ही काफी नहीं है, बल्कि जरूरी है कि बदलाव के एक माध्यम (एजेंट प्रोवोकैटोर) के रूप में काम किया जाए। हर फिल्म को समकालीन नजरिए को हर हालत में सामने लाना चाहिए।”

इसी तरह से किसी भी फिल्म की समकालीन नजरिए से व्याख्या होनी चाहिए। अगर ऐसा नहीं होता तो इससे फिल्म, उसके निर्माता और उसके दर्शकों के प्रति विश्वासघात होगा। किसी भी मौलिक कृति की तरह जो सामान्य में असामान्यता खोजती है, *भुवन शोम* ने अनगिनत दिलो-दिमाग में अलग-अलग तरीके से जगह बनाई है। विगत वर्षों में दर्शकों ने इस फिल्म को देखकर अपने-अपने तरीके से इसका ‘पाठ’ कर, नई

व्याख्याएं कर इसे एक उत्कृष्ट फिल्म का दर्जा दिलाने में सहयोग किया है। आज, इसके बनाए जाने के लगभग 50 वर्ष बाद, यह फिल्म दर्शकों को अपनी तेज गति, सम्मोहक संगीत और बीच-बीच में पैदा होने वाली स्थिति अनुकूल ध्वनियों के इस्तेमाल ने इस फिल्म को एक विशिष्ट संरचना प्रदान करने में कम महत्त्वपूर्व भूमिका नहीं निभाई है। फिल्म के संपादन की असाधारण नवीनता और इसके मुख्य अभिनेताओं का यादगार अभिनय भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

आज से 40 वर्ष पहले 1977 में मृणाल सेन ने तेलुगु की अपनी उत्कृष्ट सिने कृति *ओका ओरी कथा* (बाहरी आदमी) का निर्देशन किया था। चकित और विस्मित करती यह मौलिक कृति प्रेमचंद की एक कहानी पर आधारित है। इस फिल्म में मुख्य भूमिका महान कन्नड़ अभिनेता वासुदेव राव ने निभाई थी। इस भूमिका में वासुदेव राव संभवतः दर्शक को नीच (कुलीन?) जंगली की याद दिलवाएं। *ओका ओरी कथा* सामंती अधिपति और कृषि दासों पर उसके नियंत्रण की एब्सर्ड-वादी तीखी आलोचना है। एक अंधकारमय निर्मम कथा, बिना किसी हमदर्दी के कही गई है। फिल्म में मध्य आयु के पिता और युवा पुत्र की धूर्तताओं को दर्शाया गया है, जो जीने के लिए काफी हद तक समझ में आने वाला यह तर्क देते हुए कि अन्यायी व्यवस्था में काम करना इसे मजबूती देना है, काम करने से इनकार कर देते हैं। जब पुत्र शादी कर लेता है तो उसकी पत्नी जो दूसरी परंपरा से आई है काम करने जाने लगती है। पिता और पुत्र उसकी कमाई से शराब पीते हैं। इस युवा महिला की कठिन परिश्रम और भूख से बच्चा जनने के दौरान मृत्यु हो जाती है। दोनों जन उसके कफन के लिए (प्रेमचंद ने इस कहानी का शीर्षक कफन रखा है) गांव वालों से पैसा मांगते हैं, लेकिन उस पैसे की शराब पी जाते हैं। सामाजिक पतन और ‘विकृत’ मनोविज्ञान का एक मारक मेल दर्शक को आक्रोश, अवसाद और भ्रम से भर देता है कि कोई रचनाकार, जब वह यह मन बना ले कि अपने सोये हुए दर्शकों के दिमाग को झटका देना है, किस हद तक जा सकता है।

क्या इस फिल्म की कहानी में पिता की भूमिका में उपस्थित वेंकैया की गतिविधियां और आचरण शिकार पर निकले किसी जंगली

जानवर की-सी है, और उसका बेटा किस्तैया आज़ाकारी पुत्र की तरह अपने पिता के तर्कसंगत कदमों का अनुसरण करता है, यानी परजीविता का अनुसरण करता है? या उनका असंतोष तार्किक नहीं है? अथवा वे ऐसे लोग हैं, जो शोषण की व्यवस्था से तालमेल नहीं बैठ पाते हैं? या इन लोगों ने सचेत तौर पर और जान-बूझकर तालमेल न बैठाने का रास्ता चुना है, और उस सामाजिक व्यवस्था से बाहर हो गए हैं, जिसका फैसला है कि इसमें जीने के लिए वेंकैया जैसों को दास होना स्वीकार करना जरूरी है। दास बनाने वाली इस व्यवस्था में श्रम करने वाला जमींदार, बनिया, पुरोहित और सूदखोर की संपत्ति बढ़ाता है? शायद, अगर हम थोड़ा सोचें तो इन्हें सिरफिरे और मक्कार विद्रोही मान सकते हैं, जिन्होंने दास बनाने वाली, संस्कृति में स्वतंत्र इंसान के रूप में जीने का रास्ता चुना है। ये ऐसे प्रेत हैं जो मौजूदा सामाजिक व्यवस्था के नियमों और आर्थिक गणित को मानने से इनकार कर हर पल की असुरक्षा में जीते हैं। क्या उन्हें ‘गर्जना करते विध्वंसकारियों’ का तमगा देना, बुरा विचार होगा, जो स्थापित व्यवस्था को हिला देने पर उतारू हैं?

मृणाल सेन ने उन्हें इस तरह से प्रस्तुत किया है कि वे साफ तौर पर अपनी शर्तों पर जीते हैं— वे तभी काम करते हैं, जब भूख उन्हें मजबूर कर देती है, अन्यथा वे अपने अभावों में जीना पसंद करते हैं, वे अपना पेट भरने के लिए भीख मांगते हैं, झूठ बोलते हैं और चोरियां करते हैं। बीच-बीच में वे आक्रोश से भरकर चीखते-चिल्लाते हैं। दूसरे शब्दों में, उनकी मुख्य रणनीति उत्पीड़न को अपने शारीरिक श्रम का इस्तेमाल कर अधिक धनी, शक्तिशाली और उसकी जकड़ को और मजबूत बनने की इजाजत नहीं देते। वेंकैया अपने बेटे और गांव के अन्य लोगों में से, जो कोई भी उसकी बात सुनने को तैयार होता है, कहता है कि तुम मूर्ख हो जो काम करने जाते हो। क्योंकि तुम्हारे काम करने से सिर्फ तुम्हारे मालिक की ही चर्बी और बढ़ती है और वह मौका लगते ही तुम्हारी लंगोट भी खींच लेने में संकोच नहीं करता है! अपने बेटे को काम के जाल में फंसने से बचने की चेतावनी देता है— “काम करने का प्रेत तुम्हें आजाद नहीं रहने देगा, यदि तुम इस जाल में फंस तो फिर कभी निकल नहीं पाओगे!”



गांवों में जाने पहचाने प्रतिनिधि परिवारों के हाथों में पूंजी संचय और भूमिहीन मजदूरों द्वारा इसमें किए जा रहे योगदान का मृणाल सेन ने जैसा विस्फोटक आकलन किया है, उसे हम *ओका ओरी कथा* में पाते हैं। पूंजी संचय की इस प्रक्रिया में स्वयं भूमिहीन मजदूर की जिंदगी और बदतर हुई है। इसलिए फिल्म में समय-समय पर तीव्रता ध्वनियों का जो इस्तेमाल किया गया है, वह बहुत जरूरी था। बल्कि अनिवार्य। फिर चरम गरीबी के दृश्य और प्रतिरोध सजीव हो उठता है जब अभिनय की नाटकीयता इस में गुंथ जाती है। सेन की ग्रामीण अर्थव्यवस्था की व्याख्या जहां सब कुछ के मालिक जमींदार और उसके लग्गु-भग्गु हैं, शोषण की विषय-वस्तु को ऐसा आयाम दे देती है, जिसे इससे पहले, और उस तरह से इसके बाद भी, भारतीय सिनेमा में कभी नहीं देखा गया है। यह भयानक और हास्यास्पदता है, अवाक करने देने वाला दुख है, विरोधाभासी चीजों का यादगार मिश्रण था। दुष्टों और हत्यारों का आसान तरीके का वर्णन करने की जो अभी तक की घिसी-पीटी परिपाटी थी उस पर चलने से यह फिल्म अपने को क्रांतिकारी तरीके से अलग करती है। श्रम की संस्था की राजनीति और उससे बचने के संदर्भ में यह मूल रूप में ही भिन्न फिल्म थी और इस तरह आजादी और न्याय की एक काल्पनिक दुनिया को हासिल करने की जरूरत को दिखने में *ओका ओरी कथा* भी अपनी प्रयोगधर्मिता में मूलतः भिन्न है जिसमें डॉक्यूमेंट्री के गुणों को अतिनाटकीयता के साथ मिलाया गया है। व्यक्ति और समूह के आख्यान को मिलाकर एक समग्र अनुभव के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

सेन इस बात की खुद ताकीद करते हैं कि “ भारतीय सिनेमा में, कुछ अपवादों को छोड़ कर, फिल्मकारों ने, जो उनके पूर्ववर्ती हासिल कर चुके हैं, उससे आगे देखने की कोशिश ही नहीं की है। हमें प्रयोगों की जरूरत है - प्रयोग जो काम करने के दायरे का विस्तार करें, प्रयोग जो नई शैलियों के आगमन के संकेत के हों, इन सबसे ऊपर प्रयोग इसलिए जो इस माध्यम को सामाजिक परिवर्तन के हथियार के रूप में और कारगर बनाएं।”

मृणाल सेन का ‘दूसरे’ सिनेमा को योगदान शानदार और उत्प्रेरक रहा है। लेकिन *भुवन शोम* की अपार सफलता से पहले भी वह

अपनी प्रतिभा *बैशेय श्रावण* या *माटिरा मानिषा* जैसी छोटे-छोटे रत्नों के माध्यम से दिखला चुके थे। दुर्भाग्य से फिल्म दर्शकों का ध्यान इनकी ओर नहीं गया। जो भी हो *भुवन शोम* की आलोचनात्मक और व्यावसायिक सफलता दोनों ही तरह की सफला ने लगता है सेन को ऐसी ऊर्जा प्रदान कर दी कि वह कई वर्षों तक विभिन्न भारतीय भाषाओं में निरंतर महत्त्वपूर्ण प्रयोग करते रहे। परिणाम स्वरूप अन्य बातों के अलावा वह एक ऐसे सर्वभारतीय निर्देशक माने जाने लगे जिसका दृष्टिकोण महत्त्वाकांक्षाएं और सरोकार प्रश्नाकुलता और अनुवेषण के उस घोषणा-पत्र को प्रतिध्वनित करने से कभी नहीं चूकता जिससे नया भारतीय सिनेमा पैदा हुआ था।

हो सकता है कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मृणाल सेन को उतनी प्रतिष्ठा प्राप्त न हो, जितनी कि सत्यजीत रे को प्राप्त है, जिस पर वह इसे न यहां न वहां मानते हैं। यह भी कि, जिस तरह पूरे देश में ऋत्विक् घटक के प्रति समर्पित समर्थकों का एक कट्टर समूह था/ है, उस तरह का कोई समूह मृणाल सेन के प्रति समर्पित लोगों का न हो। लेकिन अपने बदसूरत वक्त को एक कर्तव्यनिष्ठ और तर्क करने वाले इतिहासकार के रूप में दर्ज करने में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका से, सिर्फ तथ्यों को खारिज करके ही इनकार किया जा सकता है। उनके व्यक्तित्व के संदर्भ में एक बात यह भी जोड़नी जरूरी है कि जब-जब उनके सिनेमाई जीवन में विपरीत समय आया, उन्होंने हाथ नहीं खड़े किए। इसके लिए एक उदाहरण पर्याप्त है, *ओका ओरी कथा* को भारी सफलता मिली थी, उसके पहले की फिल्म *मृगया* संतोषजक रही थी, लेकिन उसके बाद की फिल्म *परशुराम* को किसी भी तरीके से महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। अपने पेशे के प्रति कभी कमजोर न पड़ने वाली प्रतिबद्धता और अपने लोगों के हितों की रक्षा के लिए दृढ़ता ही वह चीज थी, जिसने, जब-जब यह लगने लगा था कि वह अंत हो गए हैं, उन्हें बचाया।

इस संदर्भ में हमें कवि कीट्स के उस कथन को याद रखना चाहिए, जो उन्होंने कलाकार कैसे जन्म लेता है, इसके बारे में कहा था: “ क्या आपको नजर नहीं आता कि प्रज्ञा का आत्मा में परिष्कार करने के लिए पीड़ाओं और परेशानियों का संसार कितना जरूरी है।” प्रज्ञा इस बात को मृणाल सेन से बेहतर कौन समझ सकता है कि किन दर्दों और परेशानियों से एक

कलाकार गुजरता है, तभी वह स्वयं के संदर्भ में यह दावा कर पाता है कि वह उस वृत्तांश पर पहुंच गया है जो लोक और आत्मिकता को जुड़ता है। ■

अनु.: सिद्धार्थ

(सितंबर, 2017)

## आर्यकल्प

(पत्रिका के विशेष अंकों के शीर्षक ये हैं)

- ◀ स्मरण राधाकृष्ण व नागार्जुन
- ◀ आलोचक, अनुवादक चंद्रबली सिंह
- ◀ रुद्र काशिकेय पर विशेष
- ◀ राममनोहर लोहिया पर विशेष
- ◀ मुक्ति-विकल्प के रूप में गांव
- ◀ हिंद स्वराज पर विशेष संचयन
- ◀ शिक्षा की सत्ता एवं सत्ता की शिक्षा
- ◀ धर्म, धर्मनिरपेक्षता और समाज
- ◀ संस्मरण एवं आत्मकथा (एक व दो)
- ◀ समकालीन मलयालम साहित्य
- ◀ अंबेडकर से दुबारा मुलाकात

रु. 300 का धनादेश भेजकर ये अंक एक साथ प्राप्त करें।

संपर्क : लोलार्क द्विवेदी,

कार्यकारी संपादक

**आर्यकल्प**

बी 2/143 ए भदौनी,

वाराणसी-221001

Email aryakalp@yahoo.com

# नब्बे के दादा, सौ का सिनेमा और एक सौ एक के साहू

जोसी जोसेफ

बहुत दिन नहीं बीते जब एक कवि ने एक अद्भुत बात कही थी: सिनेमा थिएटर कामगार वर्ग के मनोविश्लेषणात्मक क्लिनिक होते हैं। इस क्लिनिक का यथार्थ हालांकि इस लेखक के समक्ष तब उद्घाटित हुआ जब मेरी मुलाकात काशीनाथ साहू से हुई, जिनकी जीवन यात्रा दीर्घायु की राह से होते हुए अमरता की ओर बढ़ रही है।

एक बुजुर्ग शख्स की स्वप्निल-सी तस्वीर थी वह, जो बिजयश्री नाम के थिएटर का मालिक हुआ करता था। उन्हें देखना अपने आप में एक अद्भुत अनुभव था। उस दिन वह एक स्थानीय स्कूल में गणतंत्र दिवस के मुख्य अतिथि थे। वह आयोजन के लिए तैयार हो ही रहे थे कि मैं उनके घर पहुंच गया। उनके हाथ में ढेर सारी टॉफियां थीं। अचानक उनके बेटे ने मेरे सामने एक चौंकाने वाली बात कही, वह एक सौ एक साल के हैं!

इस मई में ही भारतीय सिनेमा के सौ बरस पूरे हुए हैं। हमेशा की तरह फिल्म प्रभाग इस बार भी एक औपचारिक कार्यक्रम करने की योजना बनाता, लेकिन इसके महानिदेशक वीरेंद्र सिंह कुंड़ इस बार कुछ नया करने की फिराक में हैं। इस पल को यादगार बनाने के लिए उन्होंने घिसी-पिटी लीक से हटकर कुछ करने की सोची है।

काफी तेजी से सारे काम तय कर दिए गए हैं। करीब दर्जन भर फिल्में दिखाई जानी हैं। मेरा काम ओडिशा, पश्चिम बंगाल, असम और मणिपुर के क्षेत्रों को कवर करने का है- यहां के थिएटर, स्टूडियो और इनके इर्द-गिर्द बसा जीवन और लोग। इसी सिलसिले में मेरी मुलाकात 101 साल के नौजवान काशीनाथ साहू से हुई थी।

वह भले ही सौ पार के हों, लेकिन उनके थिएटर में इस्तेमाल की जा रही तकनीक बमुश्किल एक दशक पुरानी है। वह आधुनिक क्यूब टेक्नोलॉजी प्रोजेक्शन का इस्तेमाल करते

हैं। साहू के थिएटर बिजयश्री में हिंदी की हिट फिल्म *रेस 2* चल रही है। थिएटर चमकदार रंगों से रंगा है, जो आपका ध्यान खींचता है। किसी शादी के विशाल पंडाल या शामियाने-सा माहौल है। हिंदुस्तानी भित्ति चित्रों की भरमार है। थिएटर की कुर्सियां समाजवादी परंपरा से हटकर अलग-अलग रंगों की हैं।

इसके मालिक इस जगह का इस्तेमाल कभी नृत्यनाटिकाओं के अभ्यास के लिए किया करते थे, जिसे बाद में थिएटर में तब्दील कर दिया गया। वह एक प्रशिक्षित कुचीपुडी नर्तक हैं। पिछले जमाने में बिजली कट जाने पर सिनेमा के लिए यहां डायनमो का इस्तेमाल होता था जो आज भी मौजूद है। साहू ने बिजयश्री सिनेमा ने ही अपनी शुरुआत की थी। उन दिनों बोलने वाली फिल्में नहीं बनती थीं। तब फिल्में या तो मेले में दिखाई जाती थीं या फिर घूमने वाला सिनेमा होता था। साउंडट्रैक के आने से पहले इन थिएटरों में लाइव वाद्यवृंद चला करता था। आज की तारीख में ऐसा सोचना भी मुमकिन नहीं- पश्चिमी विजुअल के साथ स्थानीय हारमोनियम या ढोल का पार्श्व संगीत। बिजयश्री की कहानी में एक दिलचस्प साउंडट्रैक इस थिएटर के ऊपरी हिस्से में पाए जाने वाले सियार जैसे जानवरों का हुआ करता था जिन्हें यहां 'सालियापाटनी' कहते हैं। थिएटर के भीतर घुसते ही इनकी आवाज और मादक गंध आपको बांध लेती थी। न सिर्फ दर्शक, बल्कि खुद मालिक को भी इन पशुओं से कोई परहेज नहीं है। सभी खुश हैं।

इस क्षेत्र में इस जानवर को शुभ माना जाता है। एक विशिष्ट पौधे की गंध छोड़ने वाले इन फुर्तीले जानवरों को भाग्य और दैवीय अनुकंपा का वाहक मानते हैं। इस जगह के लिए भी और लोगों के लिए भी। बिजयश्री थिएटर कई बदलावों से होता हुआ क्यूब टेक्नोलॉजी तक आ पहुंचा है, तो इसकी अच्छी किस्मत

को लेकर कोई शक भी नहीं बनता है। लोग कहते हैं कि इस थिएटर का जिंदा रहना, साहू का शतक, सब कुछ इन्हीं की वजह से है। इन्हें कौन दोष दे। ऐसा लगता है जैसे ओडिशा के पीपली में स्थित इस बिजयश्री थिएटर में इतिहास, कला, मिथक, थिएटर, तकनीक, मंदिर और तमाम किस्म की आस्थाएं मिलकर एकमेक हो जाती हैं।

## 63 साल बाद अतीत से गले मिलना

गोपाल घोष आज 93 साल के हैं। 1920 में जन्मे घोष उड़िया की चौथी फिल्म *श्री जगन्नाथ* के हीरो थे और राज्य से पहले राष्ट्रीय पुरस्कार विजेता रहे। इतना ही नहीं, छात्र जीवन में वह नेताजी से भी मिले और यह मुलाकात उन्हें अब तक साफ-साफ याद है। कटक में नेताजी की जन्मस्थली और पैतृक घर के बहुत पास रहने वाले घोष जब उस मुलाकात की याद करते हैं तो वह काफी जोश से भर जाते हैं।

गोपाल घोष की 1947 में बनाई फिल्म कंपनी रूपभारती के पीछे कई कलाकारों, तकनीशियनों और आम लोगों का हाथ था। इन सभी ने मिलकर एक सोशल ड्रामा बनाने की शुरुआत की और 1950 में फिल्म बनकर तैयार हो गई। यह फिल्म *श्री जगन्नाथ* बहुत बड़ी हिट साबित हुई। इसकी नायिका थीं ग्लोरिया मोहंती।

ग्लोरिया अच्छी गायिका थीं। आज भी उनकी आवाज मखमली है। 1950 के बाद पहली बार ऐसा हुआ कि 93 साल का हीरो और 80 साल की यह नायिका 21 जनवरी 2013 को मेरे सामने कैमरे पर एक साथ आए। भारतीय फिल्मों के सौ साल पर मेरी फिल्म के लिए उन्हें कैमरे पर आना पड़ा। मेरे फ्रेम में हाथ में बंधा एक बोलेक्स कैमरा भी था। गोपाल घोष ने ग्लोरिया को करीब से पकड़ा और बोले, "आप बूढ़े हो जाते हैं तो हीरोइन को गले लगाना स्वीकार्य होता जाता है। उन दिनों तो इसकी इजाजत नहीं थी। हमें सही शॉट देने के लिए इसका बहाना करना पड़ता था।"

ओडिशा पर मेरे एपिसोड के लिए गोपाल घोष ने महानदी के किनारे शॉट दिया। सूरज को डूबता देख गोपाल बोले, "सूरज डूब रहा है और आदमी छीज रहा है।" मैं दूसरी ओर ताकने लगा।

## महिंद्रो मिश्र और पापा

सुशांत मिश्र की उड़िया फिल्म *इंद्रधनुर छाए* को कई राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार मिले हैं। 23 जुलाई 1965 को जन्मे सुशांत उड़िया के सर्वाधिक चर्चित प्रकाशकों में एक महिंद्रो मिश्र के बेटे हैं। उड़िया प्रकाशन के वयोवृद्ध शख्स महिंद्रो मिश्र ने अपने बेटे में सिनेमा के प्रति दिलचस्पी पैदा की। सुशांत सेलुलॉइड की अपनी स्मृतियां अपने पिता के इर्द-गिर्द बुनते हैं, जो अपनी पहली विदेश यात्रा से जब भुवनेश्वर लौटे थे तो उनके लिए चार्ली चैपलिन की फिल्मों के कुछ प्रिंट, एक बोलेक्स कैमरा और एक प्रोजेक्टर लेकर आए थे। यह सब हालांकि अतीत है।

सुशांत ऐसे अपराधी की तरह कमरे में खड़े हैं गोया अदालत का कठघरा हो, और वह अपने पिता को अखबार के पन्ने पलटते देख रहे हैं। सुशांत का ध्यान खींचने के लिए मैंने कहा, “फिल्में मेरे भीतर एक पिता और पुत्र के बीच का घर्षण भरा संबंध पैदा कर देती हैं। यहां तो पिता खुद प्रेरणा का काम कर रहा है। मुझे ईर्ष्या हो रही है।” असर कारगर हुआ। अब वे दोनों मेरे साथ सहज थे। मेरे पास अपनी स्क्रिप्ट की योजना पहले से तैयार थी।

महिंद्रो मिश्र अपने गुस्से को छुपा नहीं पाए, “उड़िया फिल्म इंडस्ट्री अब तेलुगु फिल्मों का घटिया संस्करण होती जा रही है। सीन दर सीन तेलुगु फिल्मों की नकल ने उड़िया इंडस्ट्री को बर्बाद कर दिया है। इसका व्यापक असर-सांस्कृतिक असर- कहीं ज्यादा नुकसानदायक होगा।” मैंने सुशांत से पूछा कि वह चुप क्यों हैं? सिर्फ विश्लेषण करने भर से तो कोई उद्देश्य पूरा नहीं होगा जब तक कि सिनेमा के माध्यम से सार्थक हस्तक्षेप न किया जाए?

कुछ देर के मौन के बाद मैंने कहा, “खुल कर बोलिए। आप एक कामयाब प्रकाशक थे, लेकिन सुशांत? आधे बर्बाद हो गए या पूरे?” सुशांत ठठ कर हंस पड़े। बुजुर्ग ने समझदारी भरा जवाब दिया, “कोई भी जीवन पूरी तरह फना नहीं होता। अलग-अलग स्तर होते हैं; आखिरकार हम सभी कहीं न कहीं जीतते हैं तो हारते भी हैं।”

आप जब इनके निजी जीवन के सिलसिलों की पड़ताल करते हैं, तो यह किसी टेलीफोन डाइरेक्ट्री से गुजरने जैसा अनुभव होता है। या फिर ऐसे भी सोच सकते हैं, कि जिंदगियां टेलीफोन डाइरेक्ट्री के पन्नों में कैद हैं। इसी को पृष्ठभूमि बनाते हुए मैंने सुशांत मिश्र और उनके

पिता को देखने की कोशिश की, उनके हादसों और किस्सों को विस्तार से समझने की कोशिश की। अचानक, मेरे मरहूम पिता की मोटी भौंहें मेरी आंखों के सामने तैर गईं...।

## कैमरे के भीतर और बाहर महापात्र

नीरद महापात्र और मनमोहन महापात्र उड़िया सिनेमा के अरविंदन और अडूर हैं।

12 नवंबर 1947 को जन्मे नीरद महापात्र अपनी इकलौती फिल्म *माया मृग* से उड़िया सिनेमा के परिदृश्य पर छा गए। बेहद अंतर्मुखी किस्म के शख्स मनमोहन महापात्र ने अब तक आठ फिल्में बनाई हैं और इन सभी के लिए राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त किया है। इसके बावजूद वह कभी भी दिल्ली के चमकदार पुरस्कार समारोहों में शिकरत करने नहीं गए। वह जैसे इनसे दूर ही दूर भाग रहे थे।

इन महापात्रों के घर में प्रवेश करते वक्त मेरा ध्यान एक चीज पर गया। लोग अपने ड्रॉइंग रूम में अपने पुरस्कार सजा कर रखते हैं ताकि आने वाले का ध्यान उन पर जाए, लेकिन उड़िया सिनेमा के दिग्गज द्वय के इस घर में ऐसा नहीं था।

नीरद महापात्र से बात करना अपेक्षाकृत आसान था। वह अपनी फिल्म देखने की आदतों के बारे में खुल कर बात करते हैं, चाहे वह सलमान खान की *दबंग 2* हो, *कहानीया लाइफ ऑफ पाइ*। उनका कहना है कि थिएटर में इन फिल्मों को देखना एक सीखने वाला अनुभव होता है, और यह उतना खराब भी नहीं है। वह बोले, “मैं हर किस्म की फिल्म देखता हूँ और उनसे सीखने की कोशिश करता हूँ।” मेरा जवाब सीधा था, “इसका मतलब यह हुआ कि दर्शक के तौर पर नीरद महापात्र फिल्मकार नीरद महापात्र की *माया मृग* नहीं देखेगा?”

उनका जवाब यह था कि सुशांत मिश्रा के बाद उन्होंने उड़िया सिनेमा में कुछ खास नहीं पाया है। महापात्र को फिल्मी दुनिया में ‘कदली गाछो’ कहते हैं यानी एक फल। मैंने इसका कारण पूछा।

“मैं बिना रंग, स्वाद या अच्छाई के फलों से भरी टोकरी में यकीन नहीं करता। एक अच्छा फल मेरे लिए काफी है...।”

यह जवाब उस शख्स के व्यक्तित्व का पता देता था। मैं प्रभावित हुआ था।

दूसरी ओर मनमोहन महापात्र एक ऐसी रूह की तरह हैं जो किसी देह की तलाश में भटक रही हो। कैमरे के सामने यह खासकर जाहिर हो जाता

है। मेरे छायाकार चंद्रकांत ने उनकी कुछ तस्वीरें उतारीं, तो वह बेचैन हो उठे। एक अफ्रीकी कहावत है कि आप जितनी तस्वीरें खिंचवाएंगे, आपकी जिंदगी उतनी छोटी होती जाएगी। यह जीवन ऊर्जा को सोख लेता है। उन्होंने कैमरामैन को कैमरा बंद करने को कह दिया।

करीब दो दशक बाद पहली बार मनमोहन महापात्र किसी कैमरे के सामने आए थे। मैंने उन्हें बताया कि फिल्म सोसायटी की स्त्रीनिंग में मैंने उनकी फिल्में देखी हैं। मैंने कैमरे के पीछे के मनमोहन के बारे में उनसे जानना चाहा।

उन्होंने कहा, “लोगों को फिल्में देखनी चाहिए, फिल्मकार नहीं।”

“सही बात है, सहमत।”

“भारतीय सिनेमा के सौ साल मनाने के लिए यह आर्काइविंग अनावश्यक है। मैं आपकी सोच से सहमत नहीं।”

कैमरा बंद करने का फरमान आया। मैंने कैमरा ऑफ कर दिया। अचानक, महापात्र खुलने लगे। और मेरा कैमरा भी।

फिर उन्होंने अडूर, अरविंदन, शाजी, गिरीश, कसारवल्ली, सभी की प्रशंसा की। लेकिन उन्होंने नीरद महापात्र या *माया मृग* का नाम नहीं लिया। एक बार फिर कैमरा बंद करने को उन्होंने कहा। और उसके तुरंत बाद बोले, “अपनी भाषा की सर्वश्रेष्ठ फिल्म का नाम लेना तो मैं भूल ही गया— *माया मृग*। इंटरव्यू के साथ यही दिक्कत है। आप जरूरी चीजें भूल जाते हैं।”

उस शाम काम खत्म करते हुए सुशांत ने खुलासा किया, “वह *माया मृग* को ऐसे ही नहीं भूल गए थे। जान-बूझ कर उन्होंने ऐसा किया था।” कि जिस समय को भुला दिया जाना है, उसे भुलाने का क्या अंदाज था! मेरे कैमरे पर एक महापात्र था, कैमरे के बार दूसरा। अपनी मूवी में मैं किस चेहरे की बात करूँ?

## अरिबम श्याम शर्मा- एक बौद्ध भिक्षु

ये अरिबम श्याम शर्मा हैं, जिन्होंने मणिपुरी फिल्मों को विश्व सिनेमा के नक्शे पर जगह दिलवाई। उनके जीते पुरस्कारों की संख्या देखने से बेहतर है कि हम उनके वजन को तौलें।

उनकी फिल्म *इमागी नाथेम* (मेरा अनमोल पुत्र) को 1982 में नांते फिल्म महोत्सव, फ्रांस में ग्रां प्री मिला था। यहीं से मणिपुरी में एक सितारे का जन्म हुआ। इस कला फिल्म से पहले अरिबम श्याम शर्मा एक के बाद एक हिट

फिल्म देने वाले निर्देशक हुआ करते थे। उनके विचार में सिनेमा हालाँकि एक पश्चिमी हस्तक्षेप का रूप है, लेकिन जब हम इसमें अपने देसी मुहावरे और स्थानीय संस्कृति को ला देते हैं तो यह अपना हो जाता है। नकल करने या अनुकरण करने से ऐसा नहीं हो पाता। वह इस बात में बहुत विश्वास करते हैं कि क्षेत्रीयता भारतीय सिनेमा की आत्मा है। यह लोगों की पहचान का सत्व है। उनके मुताबिक यह नकारात्मक बात नहीं है।

अपनी बात को पुष्ट करने के लिए वह कहते हैं: उनकी फिल्मों में दूसरी क्षेत्रीय फिल्मों के जैसे क्लोज अप शॉट कम होते हैं क्योंकि मणिपुरी लोग न सिर्फ अपने चेहरे की भंगिमाओं से संवाद करते हैं बल्कि अपनी देह से भी। इसके कारण कैमरा और फ्रेम को दोबारा नए तरीके से परिभाषित करने की जरूरत पड़ती है। मणिपुरी लोगों के चेहरे के भाव भी इस तरीके से समाहित किए जा सकते हैं।

अरिबम के लिए सीखने की प्रेरणा मणिपुरी नृत्य के गुरुओं से आती है, फिल्मकारी के व्याकरण से नहीं। किसी भी अन्य भारतीय नृत्य रूप से उलट मणिपुरी नर्तक अपने चेहरे को एक झीने परदे से ढके रहता है और यह अपने आप में नाट्यशास्त्र के प्राचीन ग्रंथों के पार जाने जैसी बात है। अरिबम के मुताबिक मणिपुरी रास इकलौता नृत्यरूप है, जो नाट्यशास्त्र को चुनौती देता है। इसके बावजूद उन्होंने ही दूरदर्शन के लिए बनाई *इशानु* में बहुत क्लोज अप लिए थे। यह कहानी बिल्कुल अलग है। वैसे भी, इस माध्यम के कई उस्ताद दूरदर्शन के लिए काम करते वक्त अपनी सोच को संकुचित कर देते हैं।

अरिबम से मेरा संवाद मेरी स्मृति का हिस्सा बन चुका है। वह बिल्कुल मणिपुरी नृत्य की तरह संवाद करते हैं, जिसमें शब्द और भंगिमाएं एक साथ आती हैं। बात 10 मई 1942 की है जब अरिबम सिर्फ छह साल के थे। वह आकाश में कुछ चमकीले पक्षियों को कौतूहल से उड़ता देख रहे थे जिन्हें उन्होंने पहले नहीं देखा था। विश्व युद्ध का आगाज हो चुका था। चेतावनियां पहले ही जारी की जा चुकी थीं और बम से बचने की जगहें खोजी जा चुकी थीं। बिस्तर के नीचे। घर के पिछवाड़े ट्रेच तैयार थे। जापानी बमों ने आम लोगों को जखमी किया था और उनके पिता, जो स्थानीय पुरोहित थे, घर में तैयार सरसों के तेल से मंत्र फूंककर जखमी लोगों के घाव भर रहे थे। जंग के बाद हैजा फैल गया और अरिबम के पिता

को लील गया। निजी जीवन की ये दास्तानें सुनते वक्त हम मणिपुरी सिनेमा के इस वयोवृद्ध शख्स द्वारा जीते अंतरराष्ट्रीय पुरस्कारों से भी दो-चार होते हैं। आज इनका चेहरा एक बौद्ध भिक्षु की तरह दिखता है।

पहली बार 1972 में मणिपुरी फिल्म *मातंगी मणिपुर* इंफाल के उषा सिनेमा में लगी थी। अरिबम श्याम शर्मा इसके सहायक निर्देशक थे। उन्होंने इसमें पहली बार अभिनय भी किया था, लेकिन वह आखिरी रोल था। इसके बाद वह कैमरे के पीछे चले गए। आज भी उस फिल्म की अभिनेत्रियां रोमा, राशि देवी और तोंबा इंफाल में पाई जाती हैं।

### लामजा तोम्बा और राशि देवी

वह फिल्मों के लिए नहीं बने थे, बल्कि फिल्मों ने ही उन्हें पहचान दी। मणिपुरी फिल्मों के पहले हीरो तोंबा को लामजा तोंबा के नाम से जाना जाता है, क्योंकि इसी नाम के पात्र का अभिनय उन्होंने परदे पर किया था। वह अब भी अपनी उम्र छुपाते हैं। उनके बाल अब भी काले हैं। वह पूरी तरह मंच को समर्पित हैं। रंगमंच उनका पहला प्यार है। मणिपुरी रंगमंच के महान नाम जीसी तोंबा के शिष्य लामजा आजकल अपने नाटकों में व्यस्त हैं। एक रिहर्सल के दौरान हमने उन्हें पकड़ा।

मैंने उनसे पहली मणिपुरी फिल्म के बारे में पूछा, जिसमें उनकी मुख्य भूमिका थी। वह हंस पड़े, “मैं परदे पर अपने चेहरे के दाग को ही देख रहा था।” तब वह 25 साल के थे। आज वह 68 के हो चुके हैं। उनकी हीरोइन येंगखोम रोमा भी इतनी ही बूढ़ी हैं। उषा सिनेमा के दर्शकों की प्रतिक्रिया उन्हें अब भी अच्छी तरह याद है। एक पल के लिए उन्हें लगा था कि उन्होंने सीन बिगाड़ दिया है, लेकिन ऐसा नहीं था। मणिपुरी में पहला डायलॉग उनकी ही आवाज में था। दर्शकों में फूटा उत्साह रोमा के भीतर पैठने में वक्त लगा। उन्होंने बताया, “उषा सिनेमा की आखिरी फिल्म आपकी थी— *इमेजिनरी लाइन*।” मैंने तुरंत जवाब दिया, “आपने नामकरण किया और मैंने अंत्येष्टि।”

अभिनेत्री राशि देवी से मिलने पर वह अपने अतीत को याद कर रोने लगीं। पहली मणिपुरी फिल्म कोलकाता के स्टूडियो में शूट की गई थी जहां उन्हें कम वक्त में पहुंचना था जबकि उनकी एक छोटी-सी बच्ची थी जो कुछ ही महीनों की थी। उसे इंफाल में छोड़ना पड़ा। अतीत में झांकते हुए वह भावविह्वल हो गईं।

### बदलते थिएटर

सिनेमा हॉल की दीवारों सर्वाधिक हास्यास्पद अभिव्यक्तियों का मंच होती हैं। ओडिशा में एक हॉल की दीवार पर लिखा मिला, ‘वाहन चोरों से सावधान।’ कोलकाता में एक हॉल के बाहर लिखा था, ‘ईट मूवीज, स्लीप मूवीज, ड्रिंक कोका कोला।’ मणिपुर में एक ‘माछू’ सिनेमाहॉल है लेकिन उसे मंदिर के नाम से पुकारते हैं, क्योंकि उसकी बनावट मंदिर जैसी है। अफसोस कि इस मंदिर के द्वार अब बंद रहते हैं। कोलकाता का रूपबानी थिएटर अब आंख के अस्पताल में तब्दील किया जा रहा है। नेत्रा थिएटर में आमिर खान और करीना कपूर की आंखों के क्लोज अप का पोस्टर लगा हुआ है। टैगोर के घर जोरासांको ठाकुरबाड़ी में स्थित गणेश थिएटर का सिर्फ पता बचा रह गया है। दुनिया भर के सिनेमाहॉल कभी पता हुआ करते थे। आज वे सिर्फ अतीत का पता देते हैं।

### मृणाल दा की पुस्तक में फाल्के नाम की कोई प्रविष्टि नहीं है

इस सफर को मैं कोलकाता के एंग्री ओल्ड मैन मृणाल दा से खत्म करना चाहूंगा जो अभी नब्बे साल के हुए हैं लेकिन दिमागी रूप से पहले जैसे ही फुर्तीले हैं।

ओडिशा की पूर्व मुख्यमंत्री नंदिनी सतपति के पिता कालिंदी चरण पाणिग्रही अपनी भाषा के प्रतिष्ठित लेखक थे। उनके उपन्यास *माटर मानुष* पर दादा ने काफी पहले फिल्म बनाई थी, जिसकी काफी चर्चा हुई। कहानी के गांधीवादी अंत को दादा ने मार्क्सवादी अंत दे दिया था जिस पर काफी बवाल हुआ था। नंदिनी सतपति ने खुद यह आरोप लगाया था। मृणाल दा ने करारा जवाब दिया था।

उनके विरोध के पीछे एक ठोस वजह थी। फिल्म सेंसर किए जाने के बाद पाणिग्रही ने खुद दादा को पत्र लिखकर फिल्म को मंजूरी दी थी। अब फिल्म के दो क्लाइमैक्स हैं: एक मृणाल दा का मार्क्सवादी क्लाइमैक्स और दूसरा प्रोड्यूसर का गांधीवादी।

मैं जब वरिंदर सिंह कुंडू और आर.वी. रमाना के साथ दादा के घर में घुसा तो जरा तनाव में था। शुरु है कि मेरी किताब *कोलकाता कॉकटेल* मलयालम में है, वरना उनके बारे में मेरी टिप्पणियों की खबर उन तक पहुंच गई होती। वह *इम्फाल फ्री प्रेस* भी नहीं पढ़ते हैं। मैंने नंदीग्राम फायरिंग के संदर्भ में मृणालदा की आलोचना की थी। भारतीय सिनेमा में बिग बी के नाम से जाने जाने वाले शख्स को

## दरबारी लाल की दुष्टताएं

समयांतर के चर्चित स्तंभ दिल्ली मेल पर मिला कविनीलाभ का एक पत्र और दरबारी लाल का लिखा उत्तर।

पहला पारिश्रमिक मृणालदा की फिल्म *भुवन शोम* में दो मिनट की कमेंट्री के एवज में मिला था। हम जब उनसे मिले, तो वह एक किताब लिखने में जुटे थे। किताब उनके पसंदीदा फिल्मकार चार्ली चैपलिन के बारे में है। दादा ने पुस्तक के कुछ अंश हमें पढ़कर सुनाए।

पश्चिम बंगाल में पहली वाम सरकार के दौरान 1968 में औपनिवेशिक प्रतीकों को हटाने का एक अभियान चलाया गया था। इसने कोलकाता की कई प्रतिमाओं को हटाया। ऐसी प्रतिमाएं जिसमें अंग्रेज अभिजात्यों को प्रतिष्ठित किया गया था। टूक भर- भर कर ऐसी प्रतिमाएं बैरकपुर के वॉयसरॉय के मकान के पीछे फेंक दी गईं। एक सज्जन ने इन प्रतिमाओं की खोज के चक्कर में इन पर एक फिल्म बनाई थी। मृणालदा की मशहूर कोलकातात्रयी में यह एक सशक्त दृश्याख्यान बना। अपनी पुस्तक के पात्र चैपलिन के साथ इसको जोड़ते हुए दादा *सिटी ऑफ लाइट्स* नामक फिल्म से 'शांत और समृद्धि' की प्रतिमा के अनावरण पर लिखते हैं। लेकिन इससे कहीं ज्यादा मर्मस्पर्शी इसी पुस्तक का एक अन्य दृश्य है।

चार्ली चैपलिन ने 1977 के क्रिसमस को आखिरी सांस ली थी। उनकी इच्छा के मुताबिक बिना किसी तामझाम के उन्हें स्विट्जरलैंड के वेवी गांव में दफनाया गया। इसके दो महीने बाद उनकी लाश चोरी हो गई। काफी खोजबीन के बाद वह लेक जिनेवा के पास मक्के के एक खेत में मिली थी। लाश को दोबारा गांव लाकर दफनाया गया। यहां से बीस किलोमीटर दूर मक्के के खेत में उसके भूमालिक किसान ने वहां चैपलिन की अस्थायी आरामगाह की याद में एक लकड़ी का क्रॉस लगवा दिया और चैपलिन की वह मशहूर छड़ी भी लगवा दी जो सिनेमा में एक लोकप्रिय प्रतीक बन चुकी है।

मैंने दादा से पूछा, "मृणाल दा, मैं भारतीय सिनेमा के सौ बरस पर एक फिल्म बना रहा हूँ। इस पर आपसे बात करना चाहता हूँ।"

नब्बे साल के इस एंग्री ओल्डमैन ने चौंकाने वाली ठंडक के साथ जवाब दिया, "मैं इस आयोजन को नहीं मानता। भारतीय सिनेमा फाल्के से नहीं शुरू हुआ था। मेरी एकाउंट बुक में अलग प्रविष्टि है। भारतीय सिनेमा की यात्रा *पथेर पंचाली* से शुरू हुई थी।"

नब्बे के दादा; सौ का सिनेमा और एक सौ एक के साहू! ■

अनु.: अभिषेक श्रीवास्तव  
(मार्च, 2014)

यह देखकर दिली खुशी हुई कि *समयांतर* धीरे-धीरे हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता का उस विस्मृत लीक को दोबारा थामने में सफल होता जा रहा है, जिसकी दाग-बेल किसी जमाने में सनीचर जैसे पत्रों ने डाली थी और जिसका एक नख-दंत विहीन रूप इलाहाबाद से निकलने वाले *अंतरराष्ट्रीय श्रोता समाचार* जैसे पाक्षिक में अब भी नजर आता है। समाज और साहित्य की समस्याओं पर खुली, बेबाक बातें छाप कर गड़बड़ियों की तरफ ध्यान दिलाते हुए उन्हें सुधारने की सदाशयता का भ्रम देते हुए दरअसल यह छद्म पीली पत्रकारिता का ही एक रूप है। व्यक्तिगत लांछनों, झूठी बातों और निजी राग-द्वेष को बड़े-बड़े सिद्धांतों की आड़ में व्यक्त करने का यह काम एक अरसे से हिंदी में बंद था। बहरहाल, चूँकि जुलाई 2000 वाले अंक में आपके स्वतंत्रभार दरबारी लाल ने मुझे भी याद किया है, इसलिए यह पत्र लिख रहा हूँ। उद्देश्य कुछ तथ्यों को साफ करना है, और कुछ तथ्यहीन बातों के बारे में सफाई के बारे में सफाई लेना-देना भी है।

दरबारी लाल के अनुसार *समयांतर* (मार्च अंक) में मेरा जो पत्र छपा था (आपके पहले के संपादकीय के जवाब में) उसमें मैंने 'अपने विशिष्ट अंदाज में बिना नाम लिए अशोक वाजपेयी का पक्ष लिया था।' बंधुवर, मेरा पत्र समूचे पुरस्कार तंत्र और पुरस्कार लेने-देने की मानसिकता के विरुद्ध था। ये विचार में पहले भी कई बार प्रकट कर चुका हूँ, पर दोबारा नौबत इसलिए आई, क्योंकि आपका संपादकीय पक्षपातपूर्ण था। यों, अशोक वाजपेयी को कई पुरस्कार मिल चुके हैं। मेरी समझ से तो उतना भर वे भी मेरे विरोध के दायरे में आते हैं। हां, यह ठीक है कि चूँकि चोट संपादक के तौर पर आप पर भी थी और हंस के संपादक राजेंद्र यादव पर भी और कुछ अन्य 'सत्तर चूहे खाकर हज को जाने वाली हिंदी बिल्लियों' पर भी, जिनमें हो सकता है कुछ आपकी और कुछ राजेंद्र यादव की चहेतियां हों, इसलिए संभव है अपनी अति

संवेदनशीलता के कारण आप दोनों को कुछ ज्यादा चोट महसूस हुई हो, जिसका नतीजा है दरबारी लाल की यह कृपा दृष्टि। यों, इसी जुलाई अंक में दरबारी लाल ने 'पुरस्कारों की आंधी' शीर्षक से जो लंबा रंडी रोना रोया है, वह कुल मिलाकर मेरी ही बातें साबित करता है कि 1. पुरस्कारों का सारा प्रसंग ही सड़ांध भरा है, 2. समयांतर में व्यक्तिगत हिसाब चुकाने का ही उपक्रम जारी है, वरना दरबारी लाल को तो मेरे पत्र की ताईद करनी चाहिए थी। लेकिन उन्हें तो बिलो द बेल्ट वार करना था। लिहाजा मेरी ठीक-ठाक बातें भी निशाने की जद में आ गईं। हालांकि दरबारी लाल आगे कहते हैं कि 'यह नहीं कहा जा सकता कि यह खत अशोक वाजपेयी के ही इशारे पर लिखा गया होगा।' इतनी भर कृपा जो उन्होंने की है वह शायद उनके अंदर सदाशयता की बची-खुची भावना के कारण हुआ होगा। यों, अगर वे यह भी कह देते तो कोई ज्यादा फर्क नहीं पड़ने वाला था, क्योंकि कि किसी भी चीज को किसी भी तरह कंस्ट्रक्ट या मिसकंस्ट्रक्ट करना, इंटरप्रेट या मिसइंटरप्रेट करना आपकी पत्रकारिता की विशिष्ट शैली बनती जा रही है और दरबारी लाल ऐसा कर ही चुके थे।

जहां तक अशक निधि से अशोक वाजपेयी के जुड़ाव का प्रश्न है, वे अशक निधि के न्यासियों में से एक हैं। प्रकट ही अशक निधि के कार्यालय के बाहर लगे बोर्ड पर सारे न्यासियों के साथ उनका नाम भी दर्ज है, क्योंकि ऐसा ही होना चाहिए और सभी नाम एक-से हफ्तों में दर्ज हैं। क्या दरबारी लाल चाहते हैं कि चूँकि *समयांतर* ने अशोक वाजपेयी विरोध-अभियान शुरू कर रखा है, इसलिए बोर्ड से अशोक वाजपेयी का नाम हटा दिया जाए या उसे न पढ़े जाने वाले हफ्तों में दर्ज किया जाए? अशोक वाजपेयी और मैं—दोनों दो अलग-अलग व्यक्ति हैं, अभी तक न तो मुझे और न अशोक जी को अपनी बात कहने के लिए छद्म नामों की जरूरत पड़ी है। मगर आपकी सनीचरी पत्रकारिता दरबारी लालों

के बिना चल नहीं सकती। अफवाह तो यह भी है कि आप और दरबारी लाल एक हैं। डॉ. जैकिल और मिस्टर हाइड की तरह। या हो सकता है, दरबारी लाल आपके ऑल्टर ईगो हों। चूँकि आप अशक निधि के आयोजनों में अशोक वाजपेयी न्यासी-काल के दौरान दो-दो बार प्रमुखता से भाग ले चुके हैं, इसलिए दरबारी लाल इसके प्रति अपना विरोध इस अंदाज में व्यक्त कर रहे हों।

रही बात महात्मा गांधी अंतराष्ट्रीय विश्वविद्यालय के प्रोजेक्ट की, तो इसके अंतर्गत मैं साहित्यकारों से साक्षात्कार ही नहीं ले रहा, और भी बहुत कुछ कर रहा हूँ। पर मैं बहुत-से प्रोजेक्ट-धर्मी लोगों की तरह हरामखोरी नहीं कर रहा। झूठे बिल-वाउचर नहीं बना रहा और साक्षात्कार लेते समय व्यक्तिगत रुचियों-अभिरुचियों या राग-द्वेष को आड़े नहीं आने दे रहा।

ऊपर के दोनों तथ्य—अशोक वाजपेयी का अशक निधि के न्यासी-मंडल में शामिल होना और मेरा महात्मा गांधी विश्वविद्यालय का प्रोजेक्ट करना—कोई गोपनीय तथ्य नहीं हैं। लेकिन यही कमाल है आपके स्तंभकार और आपकी संपादकी का कि आपने उन्हें इस प्रकार पेश किया है, मानो कोई खुफिया कार्रवाई की जा रही हो। कोई मिली-भगत हो। ऐसा लगता है कि आपने तमाम वामपंथी तेवर और जनवादिता के मुलम्मे के नीचे आप कुल मिला कर उन भाजपाई नेताओं की तरह हैं, जो हर विरोधी आवाज को राष्ट्रद्रोही करार देने के लिए बेताब रहते हैं। क्यों न हो, मार्क्स ने ही तो लिखा है 'किसी समाज में' प्रचलित विचार शासक वर्गों के विचार होते हैं। आप पर अगर भाजपाई रंग चढ़ गया तो कौन ताज्जुब। यह अकारण नहीं है कि इसी जुलाई 2000 के अंक में नागपुर के शैलेंद्र चौहान का पर्सेप्शन है कि दिल्ली सत्ता का केंद्र होने के नाते सत्ता के 'सोच' निर्मित का भी केंद्र है। इसलिए वहाँ की पत्रकारिता का सोच उससे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित होता ही है। या तो वह सत्ता का भोपू होता है या उसकी प्रतिक्रिया में बजाया गया वायलिन गिटार सितार वगैरा।

यह भी कारण है कि अपने स्तंभ के अंत में दरबारी लाल ने शैलेंद्र जी पर भी चुटकी कसी है। आप लोग इतने विरोध कांशस क्यों हो गए? कहीं ऐसा तो नहीं है कि आपकी अलमारी में भी कुछ कंकाल हैं, जिनके बाहर आने से आप डरते हैं। आखिर इस पर भी गौर कीजिए कि हंस का

विज्ञापन आप लगातार छापते हैं, हंस के विशेषांक का संपादन करते हैं और हंस के यशस्वी संपादक राजेंद्र यादव तमाम लेखकों के आग्रह को ठकुराते हुए बिहार में दलितों का नरसंहार कराने वाले लालू प्रसाद यादव से एक लाख का पुरस्कार लेते हैं। तथ्यों को जोड़कर देखिए तो क्या शकल उभरती है।

आशा है, जिस सदाशयता से आपने मुझ पर दरबारी लाल का आरोप छापा है, उसी सदाशयता से आप यह पत्र छापेंगे क्योंकि मैं तो कोई पत्र भी नहीं निकालता, जिसमें अपना प्रतिवाद छाप सकूँ। समयांतरविवेकवान पाठकों की पत्रिका तो बन ही गई है, अब इसे विवेकवान संपादकीय से भी मंडित करिए।

—नीलाभ, इलाहाबाद

अपने पाठकों के उसी विवेक पर, जिस पर नीलाभ ने भी अपनी मुहर लगा दी है, विश्वास करते हुए इस पत्र की सभी बातों का जवाब देना स्थान खराब करना है। पर कुछ बातों को इसलिए स्पष्ट करना जरूरी है जिससे कि विवेकवान लेखक के सामने कुछ ऐसे तथ्य भी आ जाएं जो कि पुरस्कारों के विरोध के उनके दायरे को भविष्य में और विस्तार दे पाएँ।

सबसे पहले मैं नीलाभ जी के प्रति आभार प्रकट करना चाहता हूँ कि उन्होंने यह नहीं बतलाया कि मैंने पांच खुसरो बाग रोड के उस मकान में, जिसके बार अशक न्यास के न्यासी अशोक वाजपेयी का नाम (बकौल उनके 'अन्य न्यासियों के नाम के बारबर के ही हफ्तों में') लिखा हुआ है, तीन-चार बार चाय और दो-तीन बार खाना भी खाया था। और इसके बावजूद नमकहरामीपन दिखला रहा हूँ। वैसे बेहतर तो यह होता कि नीलाभ बतलाते कि उन्हें अशक स्मृति के आयोजनों में शामिल होने के लिए मुझे बुलवाने की आवश्यकता क्यों पड़ी? चूँकि उन्होंने यह जानबूझ कर मेरे लिए छोड़ दिया है इसलिए अपनी स्थिति स्पष्ट करना मजबूरी है।

यह जानते हुए भी कि (तब मानव संसाधन मंत्रालय में संयुक्त सचिव पद पर दिल्ली में नौकरी कर रहे) अशोक वाजपेयी, अशक निधि के न्यासी हैं, मैं वहाँ इसलिए गया था क्योंकि आयोजन अशक जी से संबंधित था, हम सब जानते हैं कि हिंदी का कोई भी लेखक (श्रीकांत वर्मा के अपवाद के) अपने पीछे इतनी पूंजी नहीं छोड़ पाता कि उसके बच्चे, अपने पिता की स्मृति को जिलाए रखने की सारी सद्‌इच्छाओं और प्रकाशन व्यवसाय में होने

के बावजूद, इस स्थिति में नहीं होते कि अपने सामर्थ्य के बल पर कोई आयोजन कर पाएँ। इसलिए अगर अशक जी को स्मरण करते रहने के लिए अशक निधि के बहार छोटे-मोटे जुगाड़, जैसे कि मानव संसाधन मंत्रालय के उत्तर-मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र की सहायता लेना आदि, किए जा रहे हैं, तो इसे नजरअंदाज करने के अलावा रास्ता ही क्या बचता है। वैसे भी सरकार ने अगर इस तरह की संस्थाएँ बनाई हैं और वे वक्त पर काम न आएँ तो फिर उनका औचित्य ही क्या है? पर दिक्कत यहाँ यह है कि वे संस्थाएँ इतनी आसानी से अपना बटुआ नहीं खोलती हैं और ऐसे में किसी ऐसे न्यासी-संन्यासी की आवश्यकता पड़ती है जो अगर स्वयं उसी विभाग में बड़ा अफसर है तो कहना ही क्या, नहीं तो कम से कम किसी मंत्री-जंत्री को जानता हो जो संबंधित अधिकारियों का ऐन मौके पर टेंटुआ दबा सके। यानी मेरा वहाँ जाना (और एसी सेकंड में ही वापस आना) अशक जी के प्रति सम्मान और व्यक्तिगत लगाव के अलावा, इसी समझ के तहत हुआ। मैं अब तक इसी खुशफहमी में था कि अशोक वाजपेयी न्यासियों में से एक हैं, पर नीलाभ जी का पत्र से शंका होती है कि संभवतः अशोक वाजपेयी, जो इधर उस विश्वविद्यालय के कुलपति हो गए हैं, जिसके लिए नीलाभ बहुत ईमानदारी से 'बहुत सारे' काम कर रहे हैं, ही सब कुछ हैं और इस स्थिति में निश्चय ही मुझे भविष्य में उस कोठी में, जिसमें अशक जी लगभग पचास वर्ष रहे, कदम रखने से पहले सोचना पड़ेगा।

जहाँ तक पीली पत्रकारिता का सवाल है, अफसोस है कि मिरर और न्यूज ऑफ दि वर्ल्ड जैसे अखबारों के शहर लंदन में कई वर्ष पत्रकारिता कर चुका आदमी भी अगर पीली पत्रकारिता का अर्थ न जाने तो फिर यही कहना होगा कि सोते हुए को ही जगाया जा सकता है। पर यह जरूर सच है कि एक अखबार अपने यहाँ हिंदी में भी न्यूज ऑफ दि वर्ल्ड जैसा होता, जो गाहे-बगाहे ही सही, लेखकों के रसीले प्रसंगों को भी छाप दिया करता तो निश्चय ही पाठकों का भरपूर मनोरंजन होता।

जहाँ तक नीलाभ जी की पुरस्कारों को लेकर चिंता का सवाल है, यह देखने लायक है कि वह कितनी गंभीर है? अगर उन्हीं के उत्तर आधुनिक जुमलों में कहें जो प्रश्न यह है कि खुद उन्होंने उस संपादकीय को कितना 'मिसकंस्ट्रक्ट' किया है? बेहतर तो यह होता कि मार्च अंक के संपादकीय को इस पत्र के साथ ही छाप दिया जाता, पर फिलहाल उसके कुछ अंशों से ही बातें स्पष्ट की जा सकती हैं। संपादकीय का पहला ही वाक्य है; "हिंदी समाज में

साहित्य और साहित्यकारों का महत्त्व ज्यों-ज्यों घटता जा रहा है पुरस्कारों की संख्या उसी अनुपात में बढ़ती जा रही है।”

“केंद्रीय साहित्य अकादेमी को लें। अकादमी, विशेषकर हिंदी के संदर्भ में, आज तक इसमें ही स्पष्ट नहीं है कि वह पुरस्कार श्रेष्ठ रचना को दे रही है या कि किसी लेखक की प्रतिष्ठा और उसके पूरे साहित्यिक अवदान को। इन दोनों प्रावधानों का इस्तेमाल मूलतः निर्णायकों की सुविधा, मंशा और पुरस्कृत किए जाने वाले लेखक के प्रभाव पर निर्भर करता है।...”

कुल मिलाकर संपादकीय में ज्ञानपीठ, के.के. बिड़ला पुरस्कारों के अलावा केदारनाथ सिंह का अटल बिहारी वापजेयी के हाथों से पुरस्कार लेने, कृष्णा सोबती का दलाई लामा से पुरस्कार लेने, हिंदी के दो कवियों द्वारा दयावती मोदी पुरस्कार को आपस में बांट लेने आदि घटनाओं की आलोचना की गई थी। सवाल यह है कि आखिर आपत्ति की बात कहां है? संपादकीय किस तरह से पक्षपातपूर्ण है?

कहीं आपत्ति हमारे इस बात के कहने में तो नहीं है कि “स्वयं अशोक वाजपेयी को तब जबकि वह सांस्कृतिक मंत्रालय में संयुक्त सचिव थे, दिया गया पुरस्कार भी किसी रूप में अकादेमी की प्रतिष्ठा को नहीं बढ़ाता है।” सच तो यह है कि अकादेमी के इतिहास में यह पुरस्कार अब तक की सबसे शर्मनाक घटना है। या इस बात के कहने में है कि अशोक वाजपेयी ने पिछले एक साल से जिस तरह से अरुण कमल को दिए गए साहित्य अकादमी पुरस्कार पर जनसत्ता के अपने स्तंभ में आक्रमण किया, वह एक निश्चित योजना के तहत था, जो इस वर्ष के पुरस्कार के परिणाम के रूप में सामने आया। या फिर इस बात में है कि इस संपादकीय में दयावती मोदी पुरस्कार लेने के लिए की गई तिकड़म की भी आलोचना की गई है। इसलिए यह भी अचानक नहीं है कि शैलेंद्र चौहान पर दरबारी लाल की टिप्पणी (जुलाई अंक) को भी उन्होंने ‘मिसकंस्ट्रक्ट’ किया है प्रिय भाई, वहां भी अगर वह ‘चुटकी’ है तो शैलेंद्र चौहान जी की नहीं ली गई है। चुटकी ली गई है भारत भवन के भाइयों की, जिनकी नजर फिलहाल साहित्य अकादेमी पर है। यहां यह स्पष्ट कर देना भी जरूरी है कि अशोक वाजपेयी से हमारा कोई व्यक्तिगत विरोध नहीं है। हमारा विरोध उन गलत बातों से है जो कि साहित्य और भाषा के नाम पर की जा रही हैं।

इसके अलावा पद का दुरुपयोग तथा पुरस्कारों के लिए तिकड़म और निजी नैतिक स्टैंड और मान्यता के तहत किसी पुरस्कार को लेने और न

लेने के निर्णय में अंतर है। एक सामाजिक अनैतिकता का उदाहरण है, तो दूसरा नैतिक मूल्यों के स्खलन का। अशोक वाजपेयी और राजेंद्र यादव के बीच यही अंतर है। निश्चय ही सामाजिक अनैतिकता आज सबसे बड़ा खतरा है। इस बात को नीलाभ खूब जानते भी हैं, पर इस पत्र के लिखने के पीछे उनकी मंशा कुछ और ही थी। अगर वह यह कहने से बचे कि हम अशोक वाजपेयी पर बेजा आक्रमण कर रहे हैं तो इसलिए कि वह चाहते थे कि सांप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। यानी एंटी स्टैंडलिशमेंट की वामपंथी छवि भी बनी रहे और जहां पहुंचना चाहिए वहां ऐच्छिक संदेश भी पहुंच जाए। बुरा हो दरबारी लाल का जिसने करे-कराए पर पानी फेर दिया।

दुकानों के साइनबोर्ड पर मालिकों के नाम लिखे जाने की रवायत से तो हम परिचित हैं, पर अपने इलाके में यह जरा मुश्किल से ही देखने में आता है कि किसी न्यास के न्यासियों का नाम भी साइन बोर्ड पर ‘प्रो. फलाना-फलाना’ की तर्ज पर दर्ज हो। पर अगर उस इलाके की यह परंपरा है, तो इसे हम अपना अल्पज्ञान मानकर क्षमाप्रार्थी हैं। वैसे क्या इसे इतफाक कहा जाए कि उस विश्वविद्यालय के दिल्ली दफ्तर के बाहर भी, जिससे नीलाभ जी जुड़े हैं, जो नाम बड़े हफ्तों में है वह महात्मा गांधी का नहीं है, बल्कि कुलपति जी का है।

पिछले दिनों अशोक वाजपेयी ने जनसत्ता (27 अगस्त) के अपने स्तंभ में ‘नमकहरामी करने के लिए’ वामपंथियों की काफी ऐसी की तैसी की है। प्रतिबद्धता की अवधारण को तहस-नहस करने के बाद उन्होंने जो लिखा है वह इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। जरा उनके आप्त वाक्यों को देखिए: “मुझे यह खयाल आया कि बहुधा विचारधारा से लैस लेखकों में मानवीय कृतज्ञता का भाव कुछ कम पाया जाता है। नाम लेना अनुचित होगा, लेकिन मैं अपने निजी और सार्वजनिक दोनों ही किस्म में अनुभवों से जानता हूँ कि ऐसे अनेक लेखक-बंधु मैंने देखे हैं जो अपनी प्रतिबद्धता के बावजूद बल्कि उसके साथ-साथ दूसरों से मदद, सहारा, सुविधाएं, अवसर आदि लेते रहे हैं, लेकिन उनमेंसे प्रायः सभी ने कभी किसी कृतज्ञता का सार्वजनिक या निजी ज्ञापन उनके लिए नहीं किया है।” कुलपति जी आगे कहते हैं, “... यह तो ठीक है कि प्रतिबद्ध दुनिया को अपनी नजर से देखते और हो सके तो बदलना चाहते हैं। लेकिन यह भी तथ्य है कि हमारा साबका आम ज़िंदगी में, अपने लेखकीय कर्म में अनेक प्रतिबद्ध या हमसे अलग नजर रखने वालों से पड़ता है। उनकी मदद के लिए

हम कृतज्ञ न हो पाएं यह कहीं न कहीं हमारी मानवीयता की हानि है, चूक है। उसका कोई वैचारिक बचाव हो भी, नैतिक औचित्य नहीं है, न हो सकता है। दुनिया संघर्ष और अपने से चलती-बदलती है लेकिन कृतज्ञता से भी वह टिकती और बढ़ती है।” हमें खुशी है कि चलो कोई तो मिला जो विचारधारात्मक संकीर्णता के बॉर्डर को पार कर सिद्ध कर रहा है कि सब एक से नहीं होते। और इस तरह लोगों को उपकृत करने के बेचारे कुलपति के सामंती अहम् को पहुंचती पीड़। पर कुछ तो मरहम अवश्य ही लगा होगा।

नीलाभ दरबारी लाल के ‘रंडी रोने’ ओर अपने रोने (मेरा पत्र समूचे पुरस्कार तंत्र और पुरस्कार लेने-देने की मानसिकता के विरुद्ध था। यह विचार मैं कई बार प्रकट कर चुका था... 1) में अंतर तो खुद ही बता पाएंगे पर जहां तक सवाल डॉ. जैकिल और मिस्टर हाइड या ऑल्टर इगो या कि दरबारी लाल के असली-नकली नाम का है, तो उसमें रखा ही क्या है? क्या आज दरबारी लालों की कमी है? हां, यह फर्क जरूर है कि कोई नाम से दरबारी लाल है तो कोई काम से।

हमने नीलाभ के पत्र को अकिवल इसलिए नहीं छपा कि वह इतने दयनीय हैं कि समयांतर जैसे चलताऊ और सस्ता-सा अखबार नहीं निकाल सकते। वह अनुभवी और दृष्टि संपन्न प्रकाशक हैं और इस बात को खूब जानते हैं कि यह खेल लंबी-चौड़ी पूंजी का नहीं, बस थोड़ी मेहनत का है। हां, उनकी दिक्कत समझ में आने वाली है, क्योंकि तब उन्हें वह निष्ठा और प्रतिबद्धता जो वह म.गा.अ.हि.वि.वि. के काम के प्रति इधर दिखला रहे हैं (“... पर मैं बहुत-से प्रोजेक्ट-धर्मी लोगों की तरह हमराखोरी नहीं कर रहा। झूठे बिल-बाउचर नहीं बना रहा और साक्षात्कार लेते समय व्यक्तिगत रुचियों-अभिरुचियों या राग-द्वेष को आड़े नहीं आने दे रहा।”) एक ऐसी पत्रिका के प्रति दिखलानी होगी जो शायद वर्षों तक उन्हें झूठे तो क्या सच्चे बिल-वाउचर बनाने का भी मौका नहीं देगी। कुछ भी हो, वह सम्मानीय और वरिष्ठ कवि हैं इसलिए हम उनके पत्र को, किसी सदाशयता के तहत नहीं, बल्कि पूरे आदर के साथ छाप रहे हैं। वैसे अगर वह पत्रिका निकालेंगे तो हम अपना विद्यापन उसी गति से उनकी पत्रिका में छपवाना चाहेंगे जिस गति से हंस में छपा रहे हैं। तब वह यह भी देखेंगे कि उनकी पत्रिका का विज्ञापन भी समयांतर में लगातार नजर आ रहा है।

-संपादक

(अक्टूबर, 2000)

## हमारे प्रकाशन की प्रमुख पुस्तकें

इतिहास	स्त्री विमर्श	अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में हिंदी साहित्य
समाजवाद भारतीय जनता का संघर्ष अयोध्या सिंह ₹ 995	रोजा लम्जमबर्ग : एक जीवनी श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी ₹ 450	रजत रानी 'मीनू' • साधना अग्रवाल (सं.) ₹ 950
आधुनिक भारत विपन चंद्र (सं.) ₹ 700	स्त्रीवादी साहित्य विमर्श जगदीश्वर चतुर्वेदी ₹ 995	उत्तर-आधुनिकता और विचारधारा जगदीश्वर चतुर्वेदी ₹ 900
आधुनिक भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद विपन चंद्र ₹ 900	पोर्नोग्राफी के प्रतिवाद में जगदीश्वर चतुर्वेदी ₹ 450	हरीश भादानी रचना समग्र (5 खंडों में) अरुण माहेश्वरी (सं.) ₹ 10000
आधुनिक भारत में विचारधारा और राजनीति विपन चंद्र ₹ 600	दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर विमल थोरात ₹ 350	रमेशचंद्र शाह संचयिता छबिल कुमार मेहेर ₹ 995
भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का उद्भव और विकास विपन चंद्र ₹ 750	बलात्कार : संस्कृति और स्त्रीवाद सारदा बैनर्जी ₹ 700	भाषा, आलोचना और आलोचक दृष्टि कृष्णदत्त शर्मा ₹ 995
प्राचीन यूनान : इतिहास और संस्कृति उदय प्रकाश अरोड़ा (सं.) ₹ 1295	स्त्री संदर्भ में महादेवी सुधा सिंह ₹ 450	रामविलास शर्मा : परवर्ती पूंजीवाद और साहित्येतिहास की समस्याएं जगदीश्वर चतुर्वेदी ₹ 700
पाश्चात्य दर्शन का इतिहास फ्रैंक थिली ₹ 1495	नवजागरण और स्त्री मीना शर्मा ₹ 750	प्रवासी की आत्मकथा : स्वामी भवानीदयाल संन्यासी स्वामी भवानीदयाल संन्यासी मंगलमूर्ति (सं.) ₹ 995
जयप्रकाश की विचारधारा श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी ₹ 600	आलोचना	स्मरण बेनीपुरी महेन्द्र बेनीपुरी (सं.) ₹ 995
नील की खेती और अंग्रेजी राज प्रभात कुमार शुक्ल ₹ 550	हिंदी के साहित्यकार : संस्मरण और लेख रामशरण शर्मा 'मुंशी' ₹ 900	पत्रकारिता
लोकतंत्र आपातकाल और जयप्रकाश नारायण विपन चंद्र ₹ 800	साहित्य का इतिहास दर्शन जगदीश्वर चतुर्वेदी ₹ 495	इक्कीसवीं सदी की चुनौतियां और लोकतंत्र की वैचारिकी रामशरण जोशी ₹ 800
समाजवाद की विरासत और राजनीति के सवाल आनंद कुमार ₹ 450	उत्तर आधुनिकतावाद और विचारधारा जगदीश्वर चतुर्वेदी ₹ 900	आपातकालीन पत्रकारिता की संघर्ष गाथा अरुण भगत ₹ 900
भारतीय समाजवादी आंदोलन का इतिहास अनिल कुमार ठाकुर ₹ 450	आलोचना की नई दृष्टि की तलाश अरुण माहेश्वरी ₹ 995	वाम राजनीति की समस्याएं अरुण माहेश्वरी ₹ 600
कश्मीर विरासत और सियासत उर्मिलेश ₹ 450	टी.एस.इलियट की आलोचना दृष्टि कृष्णदत्त शर्मा ₹ 900	वर्चस्व की लड़ाई का वर्ष 2015 और फेसबुक की इबारतें अरुण माहेश्वरी ₹ 900
दलित साहित्य	मुक्तिबोध की आलोचना दृष्टि कृष्णदत्त शर्मा ₹ 495	लोहिया संचयिता के. विक्रम राव • प्रदीप कुमार सिंह ₹ 800
उत्तरशती के विमर्श और हाशिए का समाज चौधरीराम यादव ₹ 400	माक्सवादी साहित्यालोचना की समस्याएं जगदीश्वर चतुर्वेदी ₹ 995	हमारा समय, संस्कृति और नया मीडिया राकेश कुमार ₹ 600
समाज-साहित्य के प्रश्न और दलित चेतना श्यामराज सिंह बेचैन (सं.) ₹ 900	लोक और वेद आमने-सामने चौधरीराम यादव ₹ 450	वीडियो प्रोडक्शन : प्रक्रिया एवं सिद्धांत गोपाल सिंह ₹ 600
भारतीय साहित्य में दलित स्त्री रजत रानी 'मीनू' ₹ 995	गिरिधर कविराय ग्रंथावली किशोरी लाल गुप्त (सं.) ₹ 995	एक और ब्रह्मांड अरुण माहेश्वरी ₹ 300
दलित साहित्य और समाज एन. सिंह (सं.) ₹ 995	साहित्य और समाज : कुछ बदलते सवाल रजनी सिसोदिया ₹ 550	
दलित आंदोलन : बसपा एक विकल्प प्रदीप कुमार ₹ 995	आलोचना की नई दृष्टि की तलाश अरुण माहेश्वरी ₹ 995	
दलित आत्मकथाएं : वेदना, विद्रोह और सांस्कृतिक रूपांतरण अजमेर सिंह काजल ₹ 900	हिंद स्वराज : एक विमर्श रविशंकर कुमार चौधरी ₹ 500	
दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर विमल थोरात ₹ 350	कालजयी मुक्तिबोध प्रमोद वर्मा • छबिल कुमार मेहेर ₹ 395	
दलित साहित्य और राजनीति एन. सिंह (सं.) ₹ 1200	नाम रहेगा काम सों (अभी की कविता में स्त्री) श्रुति आनंद सिंह ₹ 600	

अनामिका पब्लिशर्स एंड  
डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि.

4697/3, 21-ए, अंसारी रोड, दरियागंज,  
नई दिल्ली-110002  
दूरभाष : 011-23281655, 011-43708938